ओ३म्

वर्ण व्यवस्था



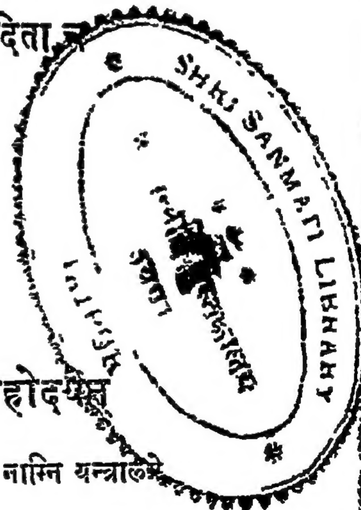
वेद-शास्त्रादि-प्रमाण-पुञ्जैः सुभूषिता

श्री व्रजदेशान्तर्गत-अवागढ़-वास्तव्य श्री ६ पण्डित खूबचन्द्र शर्मणां शिष्येण, रेजुआ ग्राम वास्तव्य-श्री ५ लक्ष्मण-प्रसादात्मजेन, साम्प्रत काशी-निवासिना

दीपचन्द्राचार्येण

प्रकाशिता सम्पादिता च





सेयं

श्रीसहादुरराम महोदयेन

स्वकीय 'हितैषी-प्रिंटिंग-वर्क्स' नाम्नि यन्त्रालये

काश्याम् मुद्रिता।



प्रथमावृत्तिः 1000. | मार्गशीर्षः, १९८८ वि० | दिसम्बर, १९३१.



भूमि का ? यह मात है पालत है दिन रैन ।
सब मिलि कर रक्षा करो तब पावो सुख चैन ॥

पुस्तक लिखने के कारण ।

यह निश्चित बात है कि जब तक किसी व्यक्ति को रोग नहीं होता वैद्य का स्मर्ण नहीं करता । बिना औषधि के रोग दूर नहीं होता । रोग निवारण का मुख्य साधन शास्त्र ही है, यदि उसे ठीक प्रयोग मे लाया जाय । कहा भी है—

शास्त्रण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः यस्तु क्रियावान् पुरुषः सः विद्वान् ।
सुचिन्तितमातुरऔषधीनाम् न नाममात्रेण करोत्यरोग्यम् ॥ १ ॥

शास्त्र मनुष्य जाति का जीवन आधार है, वेद से बढ़ कर इस जगत् में कोई ग्रन्थ नहीं सब विद्वानों का मत है परन्तु वेद शास्त्रों के महत्व को लोग भूल गये । और उनके विरुद्ध अनेक ग्रन्थ बन गये, जिसके कारण इस एक मनुष्य जाति के हजारों लाखो विभाग हो गये और एक दूसरे को घातक बन गये । अनेक धर्मों के नाम से बन गये वास्तव में धर्म एक है। मुख से खाते पीते हैं, कानों से सुनते हैं, हाथो से काम करते हैं, पैरों से चलते हैं, यह धर्म प्राणीमात्र में पाया जाता है । अग्नि प्रकाश करती तथा जलाती है, पृथिवी अन्नादि पदार्थ देती है, सूर्य चन्द्र आदि अपने अपने कार्य को नित करते हैं यह धर्म है । परन्तु कोई ईसाई, कोई मुसलमान, कोई सिक्ख, कोई दादुपन्थी, कोई कबीरपंथी, कोई ब्रह्मसमाजी, कोई राधास्वामी, कोई हिन्दू कोई आर्यसमाजी इसी प्रकार अनेक नाम से जुदे २ हो गये एक दूसरे का खंडन करने लग गये । परन्तु एकता का मार्ग न आया । आज कांग्रेस के नाम से बहुत से लोग कार्य करते हैं परन्तु कोई २ एक दूसरे को भी घृणा से देखते हैं । जिसके हजारो प्रमाण हैं । चाहे किसी भी देश के क्यों न हों परन्तु धर्म सब का एक है जैसा कि हम ने ऊपर लिखा है यही बात वेद शास्त्र पुराणादि ग्रन्थों में पाई जाती है । बिना वेद शास्त्रों

के जाने जगत् में चैन नही होगा चाहे कितने ही उपाय सोचे जायँ। वर्ण व्यवस्था के बिना एक क्षण भी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता, परन्तु वास्तव में जो वर्ण-व्यवस्था ईश्वर से स्थापित की गई है उसके विरुद्ध अज्ञानता के कारण लोग जा रहे हैं इसी से महा दुःख उठाते हैं। ब्राह्मणों का धर्म है कि अध्ययनाध्यापनादि अपने कार्यों को करें, क्षत्रियो का धर्म है कि देश की रक्षा करें, वैश्यो का धर्म है कि अन्नादि से जगत् का पालन पोषण करें, शूद्र का कर्म है कि तीनों वर्णों की सेवा करें। राजा का धर्म है कि चारो वर्णों को अपने २ कार्य में तत्पर रक्खे, अपने कर्म के विरुद्ध करने पर राजा दण्ड दें।

इस वर्तमान वर्ण-व्यवस्था के कारण हजारों लाखों ईसाई मुसलमान हो गये, अनेक मतमतान्तर बन गये जिनकी गणना करना दुर्लभ है जिसका मुख्य कारण वेदो का न जानना है। इसके कारण वर्तमान समय में हजारो लाखो देश को त्याग गये, हजारों बी. ए. एम. ए. अपनी २ जातियो को छिपा कर दिन काटने लगे, उनके जीवन महादुखी दशा में जाने लगे, शुद्धि की व्यवस्था हिन्दू आर्यों मे प्रचलित हुई, ईसाई मुसलमानो की शुद्धि की गई, परन्तु उनको उसी जाति में रक्खा गया जिसमे कि पहले थे। गुण कर्म पर कोई भी ध्यान न दिया गया, इसलिये यह वर्ण-व्यवस्था की पुस्तक बनानी पड़ी।

शुद्धि और अशुद्धि।

--शुद्धि अशुद्धि सर्वत्र सदा रहती है, बुद्धिमान् पुरुष नित शुद्धि करते रहते हैं परन्तु अशुद्धि का अन्त नही होता, प्रायः ग्रन्थो मे शुद्धि अशुद्धि पाई जाती है फिर भी कही रह ही जाती हैं। पुस्तको मे शुद्धि अशुद्धि पत्र दिया जाता है। समय के अभाव से हम शुद्धि अशुद्धि न देसके, पाठकगण स्वयं जहाँ कहीं अशुद्धि हो ठीक करलें। कहा भी है—

अनन्तशास्त्रंबहुलाश्चविद्या, अल्पश्चकालोबहुविघ्नताश्च।
यत्सारभूतंतदुपासनीयं, हंसोयथाक्षीरमिवांबुमध्यात्॥१०॥

(चा० नी० द० अ०१५।१०)।

शास्त्र अनन्त हैं और विद्या बहुत, काल थोड़ा है और विघ्न बहुत, इस कारण जो सत है उसको ले लेना उचित है, जैसे हंस जल के मध्य से दूध को ले लेता है॥१०॥ इस लिये हम आशा करते है कि इस पुस्तक मे से सार तत्त्व को ग्रहण कर लोकोपार करेंगे।

वेद में भी कहा है—

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत्क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया ।

ऋतेन सत्यमिन्द्रियम् विपानंᳪ शुक्रमन्धस ।

इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७२ ॥ (य० सं० १९ । ७२) ।

कुछ आवश्यक शुद्धि अशुद्धियों की सूचि परिशिष्ट पृ० ७ के पीठ पर दे दिये गये हैं ।



वर्णव्यवस्था देखन योगू । निर्णयवर्ण करो सब लोगू ।
मनुष जन्मको जीवन हेतू । भवसागर तरने को सेतू ॥ १ ॥

❀ वर्णव्यवस्था का मूल्य ❀

वर्णव्यवस्था का मूल्य तो कभी भी नहीं हो सका कारण कि ईश्वर से वर्णव्यवस्था सदा से चली आती है । इस पुस्तक में ऋषि मुनियों के जो शब्द वर्णव्यवस्था के विषय में हैं वे भी अमूल्य हैं । यदि हम अपना परिश्रम इसके इकट्ठे करने में लगावें तो भी हजारों रुपयों से कम नहीं होगा । परन्तु इन सब बातों को छोड़कर इस समय के अनुसार छपाई, कागजादि का इसके प्रचार के लिये २) रुपया (ग्लेज) और १॥) रु० (रफ) रखते हैं । यह निश्चित बात है कि सर्व मनुष्यों के खान पानादि समान नहीं होते इस लिये दो प्रकार का कागज लगा दिया है जो सर्वसाधारण को सुभीता रहे । परन्तु राजा महाराजा धनी मानी पुरुषों से जो भी मिलेगा वह थोड़ा भी बहुत होगा क्योंकि यह वर्णव्यवस्था की पुस्तक जगत् की भलाई के लिये है । यह वर्णव्यवस्था की पुस्तक प्रत्येक मनुष्य के गृह में रखने योग्य है इसके देखने से सबही भ्रम दूर होने के मार्ग मिलेंगे । और स्त्री पुरुषों को आर्ष ग्रन्थों के पढ़ने के लिये प्रवृति होगी । किमधिकम् विस्तरेण, दीपचन्द्र आचार्य ।

काशी,
मार्गशीर्ष पूर्णिमा, १९८८ वि०
२५, दिसम्बर, १९३१ ई०

दीपचन्द्र आचार्य.

(घ) वर्णव्यवस्थाकी विषय सूची।

इति विषय सूची।

परिशिष्ट।

इति परिशिष्ट।



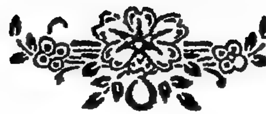
शुद्धि-अशुद्धि-पत्र



(पृष्ठ ख, और ग के सम्बन्ध में)।

समयाभाव के कारण सम्पूर्ण शुद्धि पत्र नहीं दिया जा सका। कुछ आवश्यक अशुद्धियाँ नीचे दी जाती हैं। पाठक गण कृपया ठीक करलें—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१००	११	२६६	२८६
१०७	१६	२६४	२६३
१०८	१३	अन्न	२६५ अन्न
१०६	२६	प्रार्थना	३०० प्रार्थना
११०	२१-२२ के मध्य		३०१ कृष्णाजिन
११३	२१	यत्र	यज्ञ
१२४	१६-२० के मध्य		६१६ वर्णाश्रम का अधिकार
१२५	१२	३१६	३२०



(ङ) वर्णव्यवस्था में आये हुये ग्रन्थों की सूची तथा उनके संकेत आदि ।

नम्बर	ग्रन्थ	ग्रन्थकर्ता	ग्रन्थसंकेत	भाष्यकार	प्रेस	सम्वत्
१	अत्रिस्मृति	अत्रि मुनि	(अ० स्मृ०)	पं०श्या०सुं०ला०त्रिपाठी	श्री वेकंटेश्वर, बम्बई	१६८१ वि०
२	अथर्ववेद संहिता	ईश्वर	अ०,अ०सं०, अ०वे०	सायणाचार्य (संशोधक शंकरपांडुरंग पण्डित)	निर्णय सागर, बम्बई	१८६५ ई०
३	अमर कोष	अमर सिंह	(अ०को०)	वासुदेव शर्मा	,, ,, ,,	१६२१ ई०
४	अष्टाध्यायी	पाणिनि मुनि	(अ० अध्या०)			
५	ऋग्वेद संहिता	ईश्वर	(ऋ०सं०)	सायणाचार्य		
६	ऋग्वेद संहिता परिशिष्ट	शौनकादि मुनि	(ऋ, सं०प०)	(संशोधक–वासुदेव लक्ष्मण पणसीकर)	निर्णयसागर, बम्बई	१६३० ई०
७	ऐतरेय ब्राह्मण	ऐतरेय ऋषि	(ऐ० ब्रा०)	(सं०–वासुदेव शर्मा)	निर्णयसागर, बम्बई	१६११ ई०
८	कात्यायन स्मृति	कात्यायन मुनि	(का० स्मृ०)	पं० श्यामसुन्दरलाल	श्री वेकंटेश्वर ,,	१६८१ वि०
९	काशिका	वामन जयादित्य	(काशिका)	(कृपाराम शर्मा)	तिमिरनाशक प्रे०काशी	१८६० ई०
१०	कुण्डरत्नावली	रामचन्द्र दीक्षित	(कु० र०)	रामचन्द्र दीक्षित	निर्णयसागर बम्बई	१६१६ ई०
११	कैवल्योपनिषत्		(कै० उ०)	(सं०–वासुदेव शर्मा)	निर्णयसागर बम्बई	१६१७ ई०
१२	गणरत्न महोदधि	पं०वर्धमान कवि	(ग०र०म० द०)	(स०–भीमसेन शर्मा)	सरस्वती प्रेस, प्रयाग	१६५० वि०
१३	गोभिल गृह्यसूत्र	गोभिलाचार्य	(गो० गृ०)	पं० सत्यव्रत सामश्रमी	ब्रह्म प्रेस, इटावा	१६६३ वि०
१४	गौतम स्मृति	गौतम मुनि	(गौ० स्मृ०)	पं० श्यामसुन्दरलाल०	श्री वेकंटेश्वर, बम्बई	१६८१ वि०

नम्बर	ग्रन्थ	ग्रन्थकर्ता	ग्रन्थसंकेत	भाष्यकार	प्रेस	सम्वत्
१५	चाणक्य नीति दर्पण	श्री चाणक्य मुनि	चा०नी०द०	प० मिहिर चन्द्र शर्मा	,, ,,	१६७२ वि०
१६	छान्दोग्योपनिषत्		(छा० उ०)	(सं०-वासुदेव शर्मा)	निर्णयसागार	१६१७ ई०
१७	धन्वन्तरि	धन्वन्तरि मुनि	(ध० व०)			
१८	नारदीय शिक्षा	नारद मुनि	(ना०शि०)			
१९	नारद स्मृति	नारद मुनि	(ना० स्मृ०)			
२०	निरुक्त	यास्काचार्य	(नि०)	व्याख्या दुर्गाचार्य टी०-प० शिवदत्त शर्मा	श्रीवेंकटेश्वर, बम्बई	१९६६ वि०
२१	निरुक्तालोचन	प० सत्यव्रत सामश्रमी	(नि० आ०)		सत्य प्रेस, कलकत्ता	१६०७ ई०
२२	न्यायदर्शन	गौतम मुनि	(न्या० द०)	भाष्य वात्स्यायन टी०-उदयनारायणशर्मा	ब्रह्म प्रेस इटावा	१९६३ वि०
२३	पंचतन्त्र	विष्णु शर्मा	(प० त०)	पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र	श्रीवेंकटेश्वर, बम्बई	१९७२ वि०
२४	पारस्कर गृह्यसूत्र	पारस्कर मुनि	(पा०गृ०)	हरिहर	लक्ष्मीवेंकटेश्वर,	१९७६ वि०
२५	पारस्कर स्मृति	पारस्कर मुनि	(पा० स्मृ०)	पं० श्याम सुन्दरलाल	श्रीवेंकटेश्वर,	१९८१ वि०
२६	बृहदारण्यकोपनिषद्		(बृ० उ०)	(स०-वासुदेव शर्मा)	निर्णयसागर,	१६१७ ई०
२७	भगवद्गीता	व्यास मुनि	(भ० गी०)	भाष्य-शंकराचार्य	गुजराती प्रेस, बम्बई	१९८० वि०
२८	भास्करीय ब्रह्मसूत्र	भास्कराचार्य	(भा० ब्र० सू०)	भा०टी-श्रीरामभद्रशा० टि०विन्ध्येश्वरी प्रसाद	विद्याविलासप्रेस, बनारस,	१६१५ ई०

नम्बर	ग्रन्थ	ग्रन्थकर्ता	ग्रन्थसंकेत	भाष्यकार	प्रेस	सम्वत्
२९	भोजप्रबन्ध	श्री वल्लाल कवि	(भो० प्र०)	प०जीवन राम शास्त्री	लक्ष्मीयन्त्रालय, अजमेर	१९८२ वि०
३०	मनुस्मृति	मनु भगवान	(म०,म० स्मृ०	कुल्लूकभट्ट	श्रीवेंकटेश्वर, बम्बई	१९६९ वि०
३१	महाभारत	व्यास मुनि	(म० भा० प०)			
३२	महाभाष्य	पतञ्जलि मुनि	(म० भा०)	कैय्यटनागोजीभट्ट	ताराप्रेस बनारस	१९०८
३३	मुण्डकोपनिषद्		(मु० अ०)	सं० वासुदेवशर्मा	निर्णयसागर बम्बई	१९१७ ई०
३४	मैत्र्युपनिषद्		(मै० उ०)	”	” ”	”
३५	यजुर्वेद		(य०सं०,य०वे०	उवटाचार्य्य महीधर	” ”	१९१२ ई०
३६	याज्ञवल्क्य शिक्षा	याज्ञवल्क्य मुनि	(या० व० शि०)	पं०ज्वालाप्रसादमिश्र	वेंकटेश्वर बम्बई	१९६९ वि०
३७	याज्ञवल्क्य स्मृति	याज्ञवल्क्य मुनि	(या० स्मृ०)	विज्ञानेश्वर	निर्णयसागर बम्बई	१९२६ ई०
३८	योग दर्शन	पतञ्जलि मुनि	(यो० द०)	व्यास		
३९	रुद्रहृदयोपनिषद्		(रु० ह० उ०)	सं० वासुदेवशर्मा	निर्णयसागर, बम्बई	१९१७ ई०
४०	वसिष्ठ स्मृति	वसिष्ठ मुनि	(व० स्मृ०)	प० श्यामसुन्दर लाल	श्री वेंकटेश्वर बम्बई	१९८१ वि०
४१	विदुर नीति	व्यास मुनि	वि०नी०वि०प्र०	तुलसीरामस्वामी	स्वामीमे० प्रेस मेरठ	१९६९ वि०
४२	विष्णुस्मृति	विष्णु	(वि० स्मृ०)	प० श्यामसुन्दरलाल	श्रीवेंकटेश्वर बम्बई	१९८१ वि०
४३	व्यास स्मृति	व्यास	(व्या०स्मृ०)		” ”	१९८१ वि०

नम्बर	ग्रन्थ	ग्रन्थकर्ता	ग्रन्थसकेत	भाष्यकार	प्रेस	सम्वत्
४४	शंख स्मृति	शंख	(शं० स्मृ०)	पं०श्यामसुन्दर लाल	,, ,,	१९८१ वि०
४५	शतपथब्राह्मण		(श० प० ब्रा०)	,,	वैदिकयन्त्राल अजमेर	१९५० वि०
४६	शातातप स्मृति		(शा० त० स्मृ०)	,,	श्रीवेंकटेश्वर बम्बई	१९८१ वि०
४७	शीघ्र बोध	प० काशी नाथ	(शी० बो०)			
४८	शुक्रनीति		(शु० नी०)			
४९	श्वेताश्वतरोपनिषत्		(श्वे० उ०) कृ०श्वे०उ०नि०	वासुदेवशर्मा	निर्णयसागर बम्बई	१९१७ ई०
५०	श्रीमद्भागवत	व्यास मुनि	श्रीम०भा०स्कं०		श्री वेंकटेश्वर बम्बई	
५१	सांख्य दर्शन	कपिल मुनि	(सा० द०)	विज्ञानभिक्षु	विद्याविलासप्रेस बना०	१९०९ ई०
५२	सामवेद संहिता	ईश्वर	(सा० सं०)	सायणाचार्य्य भाषा रामस्वरूपशर्मा	सनातनधर्म प्रेस मु०	१९१७ ई०
५३	सिद्धान्तकोमुदी	भट्टोजि दीक्षित	(सि० को०)	शिवदत्तशर्मा	श्री वेंकटेश्वर बम्बई	१९७१ वि०
५४	सूर्य सिद्धान्त		(सू० सि०)	बलदेवप्रसादमिश्र	श्री वेंकटेश्वर बम्बई	१९६३ वि०
५५	हारीत स्मृति	हारीतमुनि	(हा० स्मृ०)	प०श्यामसुन्दरलाल	श्री वेंकटेश्वर बम्बई	१९८१ वि०
५६	हितोपदेश		(हि० उ०)	प०अम्बिकादत्तशर्मा	गोकुलप्रेस काशी	

ओ३म्

वर्ण-व्यवस्था और वेद



सूर्याचन्द्रमसौधाता
(ऋग्वेद०)

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्



बाहूराजन्यः कृतः

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः



पद्भ्यां शूद्रोऽजायत

श्रीमान् ______________________

सम्पादक-चित्र



दीपचन्द आचार्य।

॥ ओ३म् ॥

वर्णव्यवस्था और जगत्

संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसिजानताम् ।
देवा भागयथापूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥

(ऋ० सं० ८,८,४९,२)

जगत् की रचना वर्णव्यवस्था पर ही जगत्पिता परमात्मा ने मनुष्य सृष्टि से पूर्व ही मनुष्यों के हित के लिए बनाई है, यदि ईश्वर वर्णव्यवस्था न बना देते तो मनुष्य सृष्टि भी नहीं होती, और अन्धकार ही अन्धकार रहता इसलिए उस ईश्वर जगदाधार ने अन्धकार हटाने को पूर्व (प्रथम) वर्णव्यवस्था स्थापन की, वह इस प्रकार :—

१—सूर्याचन्द्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः ॥ ३ ॥ ४८ ॥

(अ० ८।८।४८।३॥ ऋ० सं०)

सूर्याचन्द्रमसौ कालस्य ध्वजभूतौ दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षं च इत्थ त्रिभुवनं स्वः स्वः—शब्दः सुखवाची दिवोविशेषणं सुख—रूपां दिवं तदेतत्सर्वं धाता विधातायथापूर्वं पूर्वस्मिन्काले अकल्पयत् सृष्टवान् तथैवागामिन्यपिकल्पे कल्पयिष्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

ध्वजा

(क) दीर्घास्तु नेत्रा २ यतिकास्तथैषामग्रतु वेदै ४ र्विमितं त्रिकोणं ।
अथापि वा नेत्र २ करोन्मितास्ते नखांगुलैरायतिकास्तथा च ॥ ७३ ॥दीर्घा इति ॥

ते ध्वजाः उक्तकरैर्दीर्घाः नेत्रायतिका द्विहस्तविस्तृता इत्यर्थः । एषामग्रं तु वेदैश्चतुः करैस्त्रिकोणं स्यात् अथवा ते सर्वे ध्वजाः द्विहस्तदीर्घाः विंशत्यंगुलैस्तृताश्चेत्यर्थः ॥७३॥ (कु० र०)

(ख) पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम् ॥ (अ०को०का०क्षत्रिय वर्ग ८ श्लो०)
झण्डे के नाम ४ ॥ १ पताका । २ वैजयन्ती । ३ केतन । ४ ध्वज ॥ ९९ ॥

१-अथ देशज्ञानम् । ध० व०

२—देशस्त्रिधा निगदितश्चरकादिवैद्यै, र्यानूपजांगलसमाभिधया प्रसिद्धः ।
तं ब्रूमहे ग्रन्थ न विस्तरभीतिहेतोः संक्षेपतोऽत्र निजलक्षणलक्षितं च ॥ २७ ॥

भाषा—देश-अनूप, जांगल और साधारण ऐसे तीन प्रकार का चरकादि वैद्यों ने कहा है। उसी को मैं यहाँ ग्रन्थ बढ़ने के भय से विस्तार को छोड़ कर संक्षेप से कहता हूँ ॥ २७ ॥

१-तत्रानूपदेशलक्षणम् ।

३—बहुतरशुभनद्यश्चारुपानीयपुष्टाः, सरससरउपेता शाड्वलासारभूमिः ।
हरितकुशजलानां शालिकेदाररम्या दिनकरकरदीप्तिं वाञ्छते यत्र लोकः ॥
गुरुमधुररसाढ्या भाति चेक्षुः सदाढ्रौं, विविधजनितवर्णाः शालिगोधूमयूपाः ।
मधुररसविभुक्त्या मानवानां प्रकोपी, भवति कफसमीरः स्याच्चदानूपदेशः २८

भाषा—जिसमें निर्मल और मनोहर जलवाली बहुत सी नदियें बहती हों तथा जिस देश की पृथिवी दूब और रसवाले वृक्षों से आच्छादित हो रही हो, हरी कुशा और जल से भरे हुये हैं शालिधानों के खेत उन खेतों से विभूषित हो रही भूमि जिसकी, और जिस देश में लोक सूर्य की किरणों की, अभिलाषा करते हैं, जहाँ भारी और मधुर रसान्वित निरंतर हरी ईख होती है, जहाँ नाना प्रकार के शालिधान, और विविध प्रकार के गोधूमादि होते हैं और जहाँ मधुर रस को भक्षण करने से कफ और वात कुपित होते हैं उस देश को अनूप देश कहते हैं ॥ २८ ॥

२-अथ जांगलदेशः ।

४—खरपरुषविशालाः पर्वता कण्टकीर्णा, दिशि दिशि मृगतृष्णाभूरुहाः शीर्णपर्णाः ।
अनिखररविरश्मि. पांशुसम्पूर्णभूमिः, सरसिरसविहीनः कूपकारम्भकर्यः ॥
तदनु विरससस्या हारिणो गोमहिष्यः, प्रभवति रसमांशे रूक्षभावश्चसम्यक् ।
पुनरपि हिमवाहं शालिसस्यं न चेक्षुर्भवतिरुधिरपित्तं कोपमाशु ह्युपेति ॥२९॥

भाषा—जिसमें तीक्ष्ण और पहाड़ स्थित हैं तथा कंटकों से व्याप्त हो रही हैं दिशा जिसकी, जिसमें बिनाही जल के मृगों को जल प्रतीत होता है, जहाँ फटे हुये पत्तों वाले वृक्ष अधिकतर होते हैं, जहाँ सूर्यकी किरणों से अत्यन्त संतप्त हुये बालू से पृथ्वी परिपूर्ण हो रही है, जहाँ सरोवर और कुओं का पानी नीरस हो कर सूख जाता है, जहाँ जहाँ नीरस धान खाने से हाथी, गाय, भैंस इत्यादि पशु अधिक प्रसन्न नहीं होते, जहां रस और मांस में रूक्षता उत्पन्न होती है, जहाँ शीतल पवन, शालिधानों के खेत और ईख नहीं होते हैं और जहाँ रक्त और पित्त कुपित होता है उसको जांगल देश कहते हैं ॥ २९ ॥

३—अथ साधारण देशः ।

उभयगुणयुतं वा नातिरूक्षं न स्निग्धं,
न च खरबहुलं चेत् चाभितः कण्टकाढयम् ।

भवति च जलकीर्णं नातिशीतं न चोष्णं,
समप्रकृतिसमेतं विद्धि साधारणं च ॥ ३० ॥

भाषा—जहाँ अनूप और जांगल इन दोनो देशो के लक्षण मिलते हो, जहाँ न तो अत्यन्त रूक्षता होवे, और न अत्यन्त स्निग्धता होवे, जहाँ तेज और कांटे अधिक न होवें, जो चारो ओर पानी से व्याप्त हो, जिसमें न अत्यन्त शीत हो और न अत्यन्त गर्मी होवे, समान प्रकृतिवाला होय उसको साधारण देश कहते हैं ॥ ३० ॥

अथ क्षेत्रभेदाः ।

६— क्षेत्रभेदं प्रवक्ष्यामि शिवेनाख्यातमंजसा ।
ब्राह्मं क्षात्रं च वैश्यं च शौद्रं चेति यथाक्रमात् ॥ ३१ ॥

भाषा—अब महादेव के कहे हुये क्षेत्र भेद को कहता हूं । ब्रह्मक्षेत्र, क्षात्रक्षेत्र, वैश्यक्षेत्र, शौद्रक्षेत्र इन भेदों से क्षेत्र चार प्रकार का है, सो यथा क्रम से जानना ॥ ३१ ॥

१ ब्राह्मक्षेत्रम् ।

७—प्रायो दर्भपलाशवारिबहुलं यत्रार्जुना मृत्तिका ।
ज्ञेयं तत्प्रथमं द्विजातिसुखदं द्रव्यं तदुक्तं भवेत् ॥ ३२ ॥

भाषा—जिसमें कुशा और पलाश के वृक्ष अधिक हों, जो क्षेत्र जल से परिपूर्ण हो जहाँ की मृत्तिका पाण्डु वर्ण हो, उस क्षेत्रको ब्राह्मक्षेत्र कहते हैं । ब्राह्मक्षेत्रके उत्पन्न हुये द्रव्य ब्राह्मणों को सुख देनेवाले हैं ॥ ३२ ॥

२ क्षात्र क्षेत्रम् ।

८—ताम्रभूमि वलयं विभूधरं यन्मृगेन्द्रमुखसंकुलं कुलम् ।
घोरघोषिखदिरादिदुर्गमं क्षात्रमेतदुदितं पिनाकिना ॥ ३३ ॥

भाषा—जिसका रंग ताम्रवर्ण हो, पर्वत, सिंह और मृगादिको के समूह से संयुक्त हो तथा भयंकर शब्द करनेवाले पशु पक्षी तथा खदिरादिक के वृक्षों से व्याप्त हो उसको शंकर ने क्षात्र क्षेत्र कहा है ॥ ३३ ॥

३ वैश्यक्षेत्रम् ।

९—शातकुम्भनिभभूमि भास्वरं स्वर्णरेणुनिचितं निधानवत् ।
सिद्धकिन्नरसुपर्वसेवितं वैश्यमाख्यदिदमिन्दुशेखरः ॥ ३४ ॥

भाषा—जिसका रंग स्वर्ण की समान पीत वर्ण हो, जिसमें सुवर्ण के कण से मिले हो, एवं सिद्ध किन्नर और देवादिको करके जो सेवित हो उसको शंकर ने वैश्यक्षेत्र कहा है ॥ ३४ ॥

४ शूद्र क्षेत्रम् ।

१०— श्यामस्थलाढ्यं बहुसस्यभूतिदं, लसत्तृणैर्वल्गुलतृणवृद्धिदम् ।
धान्योद्भवैःकर्षकलोकहर्षदं जगाद शौद्रं जगतां वृषध्वज ॥ ३५ ॥

भाषा—जिस पृथिवी का रंग श्याम वर्ण हो, जिसमें नाना प्रकार की वास उत्पन्न हो, जहाँ तृण और बबूर के पेड़ बहुत हों तथा जो विविध प्रकार के धानों के उत्पन्न होने से किसानों को सुख देने वाला है, उस पृथिवी को शंकर ने शूद्र क्षेत्र कहा है ॥ ३५ ॥

चतुर्विधक्षेत्रोद्भवद्रव्यगुणाः ।

११—द्रव्यं क्षेत्राद्दुदितमनघं ब्राह्मतः सिद्धिदायि-
क्षात्रादुत्थं वलिपलितजिद्धिश्वरोगापहारि ।
वैश्याज्जातं प्रभवतितरां धातुलौहादि सिद्धौ
शौद्रादेतज्जनितमखिलव्याधि विद्रावकं द्राक् ॥ ३६ ॥

भाषा—तहां ब्राह्मण क्षेत्र से उत्पन्न हुये द्रव्य सिद्धिदायक हैं । क्षत्रिय क्षेत्र से उत्पन्न हुये द्रव्य वलि और पलित तथा सर्व संसार के रोगों को हरने वाले हैं । वैश्य के क्षेत्र से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य धातु और लोहादिक की सिद्धि में लिये जाते हैं और शूद्र क्षेत्र से उत्पन्न हुये द्रव्य सर्व प्रकार के रोगों को हरनेवाले हैं ॥ ३६ ॥

ब्राह्मादि क्षेत्रों के देवता

१२—ब्रह्मा शक्रः किन्नरेशस्तथा भूरित्येतेषां देवताः स्युः क्रमेण ।
प्रोक्तास्तत्र प्रागुमावल्लभेन प्रत्येकं ते पंचभूतानि वक्ष्ये ॥ ३७ ॥

भाषा—ब्रह्मा, इन्द्र कुबेर और पृथिवी यह ऊपर कहे हुये ब्राह्मणादि क्षेत्रों के क्रम से देवता हैं ऐसा पहिले महादेव ने कहा है । वह हरेक क्षेत्र पंचभूतों से पांच प्रकार का है अब उनको कहता हूं ॥ ३७ ॥

तत्रादौ पार्थिवक्षेत्रम् ।

१३—पीतस्फुरद्बलयशर्करिलाश्मरम्यं पीतं यदुत्तममृगं चतुरस्रभूतम् ।
प्रायश्च पीतकुसुमान्वितवीरुधादि तत्पार्थिवं कठिनमुग्रदशोपतस्तु ॥ ३८ ॥

भाषा—जो क्षेत्र पीले रंग के गोलकण और पाषाणों से शोभित हो तथा जिस क्षेत्र की पृथिवी का रंग भी पीतवर्ण हो और जिस क्षेत्र में वृक्षलता पीले फूलवाली हो तथा जिसकी भूमि कठिन हो उसको पार्थिव क्षेत्र कहते हैं ॥ ३८ ॥

आप्य क्षेत्रम् ।

१४— अर्द्धचन्द्राकृति श्वेतं कमलाभं दृषच्चितम् ।
नदीनदजलाकीर्णमाप्यं तत्क्षेत्रमुच्यते ॥ ३९ ॥

भाषा—जो क्षेत्र अर्द्धचन्द्राकार हो, जिसका वर्ण सफेद कमल के समान पाषाणों से संयुक्त हो और जो नदी नदादि जलाशयों से व्याप्त हो उसको आप्य क्षेत्र जानना ॥ ३९ ॥

कुबेर—गुह्यकेश्वर, मनुष्यधर्मन्, धनद धनाधिप, किन्नरेश, नरवाहन, पुण्यजनेश्वर ।

तैजस क्षेत्रम् ।

१५— खदिरादिद्रुमाकीर्णं भूरिचित्रकवेणुकम् ।
त्रिकोणं रक्तपाषाणं क्षेत्रं तैजसमुत्तमम् ।४०॥

भाषा—जो क्षेत्र खदिरादिक के वृक्षो से परिपूर्ण हो, जिसमे अनेक चीते के और वास के वृक्ष हों, जिसका आकार त्रिकोणाकार हो और जिसमे लाल पाषाण हो उसको तैजस क्षेत्र कहते हैं ॥ ४० ॥

वायवीय क्षेत्रम् ।

१६—धूम्रस्थलं धूम्रदृषत्परीतं षट्कोणकं तूर्णमृगावकीर्णम् ।
शाकैस्तृणैरंचितसूक्षवृक्षकं प्रकारयेत्तत्खलु वायवीयम् ॥ ४१ ॥

भाषा—जिस क्षेत्रका रग धूसर हो तथा धुंएके रंगके पाषाणोंसे संयुक्त हो, जिसमे छः कोने हों, जिसमें मृगादि पशु, शाक और तृण अधिकतासे हों और जिसमे रूखे वृक्ष हों उस क्षेत्र को वायवीय क्षेत्र कहते है ॥ ४१ ॥

अन्तरिक्ष क्षेत्रम् ।

१७—नानावर्णं वर्तुलं तत्प्रशस्तं प्रायः शुभ्रं पर्वताकीर्णमुच्चैः ।
यच्च स्थानं पावनं देवतानां प्राह क्षेत्रं त्र्यम्बकस्त्वांन्तरिक्षम् ॥ ४२ ॥

भाषा—जिस क्षेत्र का रंग नाना प्रकार का हो, जो क्षेत्र गोल हो, तथा जो श्वेत पर्वतों से आकीर्ण और ऊँचा होवे, और जिसमे देवतादि वास करते हों उसको महादेव ने अन्तरिक्ष क्षेत्र कहा है ॥ ४२ ॥

पंचविधक्षेत्रोद्भवद्रव्यगुणाः ।

१८— द्रव्यं व्याधिहरं बलातिशयकृत्स्वादुस्थिरं पार्थिवं ।
स्यादाप्ये कटुकं कषायमखिलं शीतं च पित्तापहम् ॥
यत्तिक्तं लवणं च दीप्यमरुचिं चोष्णं च तत्तैजसं ।
वायव्यं तु हिमोष्णमम्लमवलं स्यान्नाभसं नीरसम् ॥ ४३ ॥

भाषा—पार्थिव क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले द्रव्य रोगनाशक, अत्यन्त बलकारक, स्वादिष्ट और स्थिर होते हैं, आप्य क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले द्रव्य चरपरे, कषैले, शीतल और पित्तनाशक होते हैं । तैजस क्षेत्रके उत्पन्न होने वाले द्रव्य कडवे, नमकीन, अग्नि को दीपन करने वाले, बात नाशक और गरम होते हैं और वायवीय क्षेत्र मे उत्पन्न होनेवाले द्रव्य शीतल, गरम, खट्टे, और अबलकारक होते हैं और अन्तरिक्ष क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाले सब द्रव्य नीरस होते हैं ॥ ४३ ॥

पंचविधक्षेत्रोंके देवता ।

१९— ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रः स्यादीश्वरोऽथ सदाशिव ।
इत्येताः क्रमतः पंच क्षेत्रभूतादिदेवता ॥ ४४ ॥

भाषा—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ये क्रम से पांच देवता हैं ॥ ४४ ॥

अथ वृक्षोत्पत्तिः ।

२०—जित्वा जवादाति सुसैन्यमिहाजहार वीरः, पुरा युधि सुधाकलशं गरुत्मान् ।
कीर्णास्तदा भुवि सुधाशकलैः किलासी, वृक्षादिकं सकलमस्य सुधांशुरीशः ॥४५॥

भाषा—पूर्वकालमें जिस समय बलवान् गरुड़जीने सर्व देवसेना को संग्राम में जीत कर अमृत के कलशको शीघ्रतासे छीना था उस समय जो अमृत की बूंदें कलशमें में से पृथिवी के भागों में गिरीं। उन्हीं बूंदों से ये सब वृक्षादिक उत्पन्न हुए और इन सब का स्वामी चन्द्रमा हुआ ॥ ४५ ॥

वृक्षादीनां ब्राह्मणादिकथनम् ।

२१— तत्रोत्पन्नास्तूत्तमे क्षेत्रभागे विप्रीयाद्यो विप्रियो यत्र यत्र ।
तौरवीजादि द्रव्यभूयं प्रपन्नास्तास्ताः संज्ञा विभ्रते तन्नभूयः ॥
एवं क्षेत्रानुगुण्येन तज्जा विप्रादिवर्णिनः ।
यदि वा लक्षणं वक्ष्याम्यमोहाय मनीषिणाम् ॥ ४६ ॥

भाषा—ब्राह्मणादि क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुये द्रव्य ब्राह्मण, क्षत्रिय क्षेत्रोंमें उत्पन्न होनेवाले द्रव्य क्षत्रिय, वैश्य क्षेत्रों में उत्पन्न होनेवाले द्रव्य वैश्य और शूद्र क्षेत्रोंमें उत्पन्न होने वाले द्रव्य शूद्र कहलाते हैं। ऐसे हरेक क्षेत्रके अनुसार वृक्षोंके ब्राह्मणादि भेद हैं। उनमें कदाचित् वैद्यको भ्रम न हो जावे इस कारण उनके लक्षण कहते हैं ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणादि वृक्षों के लक्षण ।

२२— किसलये कुसुमे प्रकाण्डशाखादिषु विशदेषु वदन्ति विप्रमेतान् ।
नरपतिमतिलोहितेषु वैश्यं कनकनिभेषु सितेतरेषु शूद्रम् ॥
विप्रादिजातिसम्भूतान् न विप्रेष्वेव योजयेत् ।
गुणाढ्यानपि वृक्षादीन् प्रातिलोम्यं न चाचरेत ॥ ४७ ॥

भाषा—जिनके पत्र, पुष्प, डण्डी, और शाखादि बड़े हों उसको ब्राह्मण जातिका वृक्ष जानना। जिसके पत्र, पुष्प, प्रकाण्ड और शाखादि लाल होवें उसको क्षत्रिय जातिका वृक्ष जानना, और जिसके पत्र, पुष्पादि पीले हों उनको वैश्य तथा जिसके काले हों उसको शूद्र जाति का जानना।

ब्राह्मण जाति के वृक्ष ब्राह्मण को देवे, क्षत्रिय जाति के क्षत्रिय को, वैश्य जाति के वैश्यों को और शूद्र जातिके शूद्रोंको देवे। अधिक गुणवाले वृक्षोंको प्रतिलोमन (उलटा) न करे अर्थात् ब्राह्मण जातिके वृक्षोंको क्षत्रियादिकको और क्षत्रियादिके वृक्षों को ब्राह्मण वैश्यादिकों को और वैश्य जातिके वृक्षोंको शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रियको एवं शूद्र जातिके वृक्षोंको ब्राह्मणादिकों को न देवे ॥ ४७ ॥

अथौषधिनिर्णयस्त्रिविधः ।

२३— किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम् ।
स्वस्थवृत्तौ हितं किंचित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥ ४८ ॥

भाषा—कोई औषधि वातादिक दोषोंको शान्त करनेवाली, कोई रसादिक धातुओंको दूषित करनेवाली और कोई औषधि निरोग प्राणियोंको हितकारक है ऐसे इस संसारमें जितने द्रव्य हैं वे सब तीन प्रकारके जानने ॥ ४८ ॥

तत्त्रिविधं यथा

२४—द्रव्यं तु त्रिविधं प्रोक्तं जाङ्गमौद्भिदपार्थिवम् ॥ ४६ ॥

भाषा—फिर वही द्रव्य जंगम, औद्भिद और पार्थिव इन भेदों से तीन प्रकारका है ॥४९॥

पशुओंमें वर्ण व्यवस्था

रथारोहण के पश्चात्

२५-अथातो हस्त्यारोहणम् ॥ १ ॥ एत्य हस्तिनमभिमृशति हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसीति ॥ २ ॥ अथारोहतीन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ३ ॥ एतेनैवाश्वारोहणं व्याख्यातम् ॥ ४ ॥ उष्ट्रमारोक्ष्यन्नभिमंत्रयते त्वाष्ट्रोसि त्वष्टृदैवत्यः स्वस्तिमा संपारयेति ॥ ५ ॥ रासभमारोक्ष्यन्नभिमंत्रयते शूद्रोसि शूद्रोजन्माग्नेयो वै द्विरेताः स्वस्तिमा संपारयेति ॥ ६ ॥ पा० गृ० सू० कां ३ कं० १५ ।

२६—ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ।५।४।७८। अच् स्यात् ।

ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ।

ब्रह्महस्तिभ्यां परो यो वर्च्चः शब्दस्तदन्तात्समासादच् ।

प्रत्ययो भवति ब्रह्मवर्च्चसम् । हस्तिवर्च्चसम् ॥ काशिका ५।४।७८।

सिंह को कउआ बोला—

"भोः स्वामिन् ! ग्राम्योऽयमुष्ट्रनामा जीवविशेषस्तव भोज्यः । तत् व्यापाद्यताम् ।" (पं० तं०)

२७ अनयोरत्पाज् । द्वारेण । गजश्चाश्वश्च । गजाश्वौ ॥

शूद्रश्चार्यश्च । शूद्रार्यौ ॥ अनयोरजाद्यदन्तद्वारेण ॥ ८४ ॥

(गा० र० म० द० । २ स० गा० अ०)

अथ वर्णवश्यज्ञानम्

२८— विप्रक्षात्त्रियविट्शूद्रास्त्रिरावृत्तिर्हि कर्कटात् ।

सिंह विना वशा सर्वे द्विपदा च चतुष्पदाः ॥ ३० ॥

(ना० स्मृ०, हो० च०, शी० बो०)

कर्क राशि आदि करके क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्ण होते हैं अर्थात कर्क ब्राह्मण, सिंह क्षत्रिय, कन्या वैश्य, तुला शूद्र इत्यादि चक्र में स्पष्ट हैं ॥३०॥

अथ राशिवर्णचक्रम् ।

ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
कर्क	सिंह	कन्या	तुला
वृश्चिक	धन	मकर	कुम्भ
मीन	मेष	वृषभ	मिथुन

अथ राशिवश्यप्रीतिः ।

२९—मीनालिकर्कटा विप्राः क्षत्रिय मेषो हरि धनुः ।
शूद्रो युग्मं तुला कुंभो वैश्यो कन्यावृषो मृगः ॥ ३० ॥ (शी० बो०)

मीन वृश्चिक कर्क ये राशि ब्राह्मण वर्ण जानो, मेष, सिंह, धन ये क्षत्रिय वर्ण हैं, मिथुन, तुला, कुम्भ ये शूद्रवर्ण हैं, कन्या वृषभ मकर ये वैश्य वर्ण हैं ॥ ३० ॥

अथ चन्द्रवर्णज्ञानम् ।

३०—मेषे सिंहे वृश्चिके रक्तवर्णो युग्मे कन्याचापयोः पीतवर्णः ।
भद्रे कर्के तौलिके श्वेतवर्णो नक्रे कुम्भे मीनके कृष्णवर्णः ॥ २३ ॥(हो०च०)

अर्थ—मेष, सिंह और वृश्चिक इन राशियों में चन्द्रमा रक्तवर्ण रहते हैं । मिथुन कन्या और धन इन में पीतवर्ण । वृष, कर्क और तुला इन में शुक्लवर्ण । मकर, कुम्भ और मीन में चन्द्रमा श्यामवर्ण रहते हैं । ॥ २३ ॥

अथ ग्रहजातिः ।

३१—माठरः क्षत्रियो वैश्यजातिः शशी भूमिजो बाहुजः शूद्ररूपो बुधः ।
वाक्पतिर्ब्राह्मणो विप्रमूर्तिः कविर्नीचजातिः शनिः सैंहिकेयः शिखी । ४१॥

अर्थ—सूर्य क्षत्रिय, चन्द्रमा वैश्य, मङ्गल क्षत्रिय, बुद्ध शूद्र, बृहस्पति ब्राह्मण, शुक्र भी ब्राह्मण, शनि राहु और केतु नीच जाति हैं अर्थात् उक्त वर्णों के स्वामी हैं ॥ ४१ ॥

वर्ण-व्यवस्था

अवकहडाचक्रसहितवरवधूमेलापकोपयोगिशतपदचक्रम्

सृष्टेः पूर्वरूपम् ।

३२-तम॑ आसी॒त्तम॑सा॒ गूह॑ळ्हम॒ग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम् ।

तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑य॒तैक॑म् ॥ ३ ॥

ऋ० सं० अष्ट० ८।७।१७।३॥

तमः॑ । आसी॒त् । तम॑सा । गूह्ल॑म् । अग्रे॑ । अ॒प्र॒ऽके॒तम् । स॒लि॒लम् । सर्व॑म् । आः । इ॒दम् । तु॒च्छ्येन॑ । आ॒भु । अपि॑ऽहितम् । यत् । आसी॑त् । तप॑सः । तत् । म॒हि॒ना । अ॒जा॒य॒त॒ एक॑म् ॥ ३ ॥

ननूक्तप्रकारेण यदि पूर्वमिदं जगन्नासीत् कथं तर्हि तस्य जन्म जायमानस्य जनिक्रियायां कर्तृत्वेनकारकत्वात् कारकं च कारणावान्तरविशेष इति कारकस्य सनोनियतपूर्वक्षणवर्तित्वस्यावश्यंभावात् अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया जनिक्रियायाः प्रागपितद्विद्यतइत्युच्यते कथं तस्य जन्म अत आह-तपसागूह्ळमग्र इति । अग्रे सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत् तमसो गूढं यथा नैशं तमः सर्वपदार्थजातमावृणोति तद्वत् आत्मतत्वस्यावरकत्वान्मायापसंज्ञं भावरूपाज्ञानमत्र तमइत्युच्यते तेन तमसा निगूढं संवृतं कारणभूतेन तेनाच्छादितं भवति आच्छादकात्तस्मात् तमसोनामरूपाभ्यां यदाविर्भवनं तदेवतस्यजन्मेत्युच्यते एतेन कारणावस्थायामसदेवकार्यमुत्पद्यतइत्यसद्वादिनोसत्कार्यवादिनो ये मन्यन्ते ते प्रत्याख्याताः। ननु कारणे तमसि तज्जगदात्मकं कार्यं विद्यते चेत्कथं नासीद्रज इत्यादि निषेधः। तत्राह- तमआसीदिति तमो भावरूपाज्ञानं मूलकारणं तद्रूपता तदात्मनांयतः सर्वं जगत् प्राक् तम आसीत् अतो निषिध्यत इत्यर्थं नन्वावरकत्वादावरकं तमः कर्तृ आवार्यत्वात् जगत्कर्म कथं तयो कर्मकर्त्रोस्तादात्म्यं तत्राह अप्रकेतमिति । अप्रकेतं अप्रज्ञायमानं। अयमर्थः यद्यपि जगतः तमसश्चकर्मकर्तृभावोयौक्तिको विद्यते तथापि व्यवहारदशायामिव तस्यां दशायां नामरूपाभ्यां विस्पष्टं न ज्ञायत इति तदात्म्यवर्णनं । अतएव मनुनास्मर्यते—

❀ आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ म० अ० १। ५।

कुतोवा न प्रज्ञायते तत्राह—सलिलं सलगतौ औणादिकः इलच् इदं दृश्यमानं सर्वं जगत्सलिलं कारणेन संगतं अविभागापन्नं आः आसीत् अस्तेर्लङि तिपि बहुलंछन्दसि इडभावे हल्ङ्याब्भ्य इति तिलोपेतिप्यनस्तेरिति पर्युदासादडकाराभावः यद्वा सलिलमिति लुप्तोपमं सलिलमिव यथा क्षीरेणाविभागापन्नं नीरंदुर्विज्ञानं तथा तपसा अविभागापन्नं जगत् न शक्यविज्ञानमित्यर्थः। ननु विविधविचित्ररूपभूयसः प्रपंचस्य कथमतितुच्छेन तमसा क्षीरेण नीरस्येवाभिभवः तथा नमांपि

* 'तथाच श्रुतिः—तम आसीत्तमासा गूढमग्रे इति ।" (कु० म०)

क्षीरवद्द्रवदित्येवोच्यते तर्हि दुर्बलस्य जगतः सर्गसमयेपि नोद्भवसंभव इत्यतआह तुच्छ्येनेति। आसमन्ताद्भवतीत्याभु तुच्छेन छान्दसोयकारोपजनः तुच्छेन तुच्छकल्पनेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपाज्ञानेनापिहितं छादितमासीत् दधातेः कर्मणि निष्ठा दधातेर्हिः गतिरन्तर इतिगतेः प्रकृतिस्वरत्वं। एकं एकीभूतं कारणेन तमसा अविभागतां प्राप्तमपि तत्कार्यजातं तपसः सृष्टव्यपर्यालोचनरूपस्य महिना माहात्म्येनाजायत उत्पन्नं। तमसः सृष्टव्यपर्यालोचनरूपत्वं चान्यत्राम्नायते—यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यज्ञानमयं तपइति॥ ३॥ (सा० आ० भा०)

"तम आसीत्तमसा गूढमग्रे"॥ ५॥ (नि० दै० का० अ० ७ खं० ३)

जीवब्रह्मणो पृथक्त्वम्।

३३—द्वासुपर्णासयुजासखायासमानंवृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

ऋ० स० अष्ट० २।३।१७।२०॥

द्वा। सुऽपर्णा। सऽयुजा। सखाया। समानम्। वृक्षम्। परि। सस्वजाते इति। तयोः। अन्यः। पिप्पलम्। स्वादु। अत्ति। अनश्नन्। अन्यः। अभि। चाकशीति २०॥ २७॥

अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेनजीवपरमात्मानौस्तूयेते यथा लोकेद्वौसुपर्णौ सुपतनौशोभनगमनौ सयुजासमानयोगौ सखायौ समानस्यानौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते एकमेव वृक्षंपरिषस्वजाते आश्रयतः तयोरन्य एकः पिप्पलंपक्वं फलं स्वाद्वत्ति स्वादुतरमत्ति अपरः अनश्नन्अभिचाकशीति अभिपश्यति तद्वत् द्वौसुपर्णस्थानीयौ क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ सयुजासमानयोगौ योगोनामसंबन्धः सचतादात्म्यलक्षणः सएवात्मा परमात्मनः स्वरूपं यस्य जीवात्मनः एवमेकस्वरूपावित्यर्थः अनेनभास्कमतानुसारिणोऽतिरेकनाम्नोजीवात्मा परमात्मनोनान्यः सच परमात्मा जीवादन्यो जीवाश्रयणादितिमतंनिरस्तंभवति। ननुसंबन्धोदिष्टः सचपक्षिणोरेवभेदमपेक्षते अतः कथमैकात्म्यमिति न औपाधिकभेदं वास्तवाभेदंचापेक्ष्यप्रवृत्तः अतएव सखायौ समानख्यानौ नान्यख्यानौ नन्वेकस्य यादृशंख्यानं तादृशमेवान्यस्येतिव्युत्पत्त्याभेदः स्फुटंप्रतिभाति कथतदात्म्यमुच्यतइतिनवक्तव्यं नात्रपरस्परंदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः अपितुयस्य यादृशख्यानं स्फुरणं परमात्मनः तदेवख्यानमितरस्यापि जीवात्मनइति सखायावित्युच्यते एकरूपप्रकाशावित्यर्थः अतउपाधिमकात्म्यं अनेनवास्तवभेदोविनिरस्तः समानंवृक्षं परिषस्वजातेइत्यत्र यथा—श्रयान्तराभावादुभयोरेकाश्रयत्वमभ्युपगन्तव्यम् तद्वत्सयुजासखायावित्युभयत्राप्येक्योगख्याने आश्रयणीये वृश्च्यत इति वृक्षोदेहः सचोभयोः समानएकएव

१, नि० १३, ४३,

जीवस्य भोगार्थत्वात् परमात्मनाखृष्टेर्महाभूतैराब्धत्वात्तस्योपलब्धिस्थानत्वाच्चो-भयोरपिसमानः तादृशं समानं वृक्षं परिषस्वजाते परिष्वजातः आश्रयतः नचजीवस्य वस्तुत ईश्वरत्वे कथं जीवबुद्ध्या संसारशोकाद्विनिवार्यं तयोर्मोहकृतत्वात् तथा-चाथर्वणिका अनुमन्त्रमाम्नाय अस्य संदेहनिवर्तकमुत्तरंमन्त्रमेवमामनन्ति समाने-वृक्षेपुरुषोनिमग्नो अनीशयाशोचतिमुह्यमानः। जुष्टंयदापश्यत्यन्यमीशमस्यमहि-मानमितिवीतशोक इति। अस्यायमर्थः--एकएवशरीरेवृक्षे पुरुषः परमात्मा निमग्नोनिगूढः सन् स्वयमपीश्वरोप्यनीशत्वबुद्ध्यामुह्यमानोमूढः सन् शोचति संसारे अहंकर्ता सुखीदुःखीतिजननमरणेनुभवति यदातुजुष्टं नित्यतृप्तं अन्यं संसारशोकातीतंईशंपरमेश्वरं पश्यति स्वानन्यतयासाक्षात्करोति तदावीतशोकः देहाद्व्यतिरिक्तः स्वस्वरूपसाक्षात्कारेणगततापत्रयः सन् अस्यमहिमानमिति निरस्तनमस्तौपाधिकस्य परमेश्वरस्यमहिमानं सार्वात्म्यसर्वज्ञत्वादिमहिमानमिति एति प्राप्नोति न चतद्भावान्यत्रतन्महिमाप्राप्यते अतस्तद्रूपो भवतीत्यर्थः तस्मा-द्वस्तुतएकएव भेदस्तुमोहकृतइतिप्रसिद्धम्। अनुभवदशायां लौकिकबुद्ध्याभेद-मभ्युपेत्योच्यते ततोरन्यो जीवात्मापिप्पलं कर्मफलंस्वादुभूतमत्तिभुंक्ते यस्य यदु-पार्जितं तत्तस्य स्वादुभवति अन्यः परमात्मा अनश्नन् आप्तकामत्वेनाभुंजान स्पृहाया अभावात् आप्तकामस्यकास्पृहेतिस्मृतेः। तस्मादवास्तवभेदमुपजीव्यत-योरन्यइत्युक्तम्। वस्तुतस्त्वनीशयाशोचतिमुह्यमानइत्युक्तत्वाद्भेदएव तादृशः परमात्मा अभिचाकशीति स्वात्मन्यध्यस्तजगत्साक्षित्वेनेक्षते अत्रद्वौद्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारावित्यादिनिरुक्ते*गतं अस्यमन्त्रस्यव्याख्यानमनुसंधेयम्॥ २०॥

इति द्वितीयस्य तृतीये सप्तदशो वर्गः॥१७॥

३४—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ ६॥

३५—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ ७॥
(श्वे० अ० उ० ११ अ० ४।६-७)

३६—द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः॥ ४१॥

३७—केवलं साक्षिरूपेण विना भोगं महेश्वरः।
प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः॥ ४२॥

३८—घटाकाशमठाकाशौ यथाकाशप्रभेदतः।
कल्पितौ परमौ जीवशिवरूपेण कल्पितौ॥ ४३॥
(रु० हृ० उ० ४१, ४२, ४३)

(*) नि० १३।४३।

अथ सूक्तम्।

३९—शतं ते युतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानः ॥ २१ ॥

अ० का० ८ सू० २। मं० २१।

शतम्। ते। अयुतम्। हायनान्। द्वे इति। युगे इति। त्रीणि। चत्वारि। कृण्मः। इन्द्राग्नी इति विश्वे। देवाः। ते। अनु। मन्यताम्। अहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

हे बालक ते तव शतं हायनान् शतसंख्याकान् संवत्सरान्। "शतायुः पुरुषः" [तै० ब्रा० १.७।६-२] इति श्रुतिविहितात् अयुतम् अयुतसंख्याकान् कृण्मः। कुर्मः। तथा ते द्वे युगे। जायापति लक्षणम् एकं युगम्। स्त्र्यपत्यपुमपत्यलक्षणम् अपरं युगम्। एवं द्वे युगले। त्रीणि युगानि चत्वारि युगानि च कुर्मः। उपलक्षणम् एतत्। पुत्रपौत्रादिद्वारा अनेकयुगलानि कुर्मः। यद्यपि एकशतपर्यन्तं जीवनमपि मनुष्याणां न संभवति तथापि आकल्पं जीव कल्पायुष्यम् अस्तु इत्याद्याशीर्दर्शनाद् दीर्घायुषि तात्पर्यं* नविरुध्यते। अथवा एवं योजना। हे बालकते शतं हायनान् कृण्मः। तानेव अयुतं च हायनान् कृण्मः। तानेव द्वे युगे कृण्मः। त्रीणि च युगानि कृण्मः। चत्वारि युगानि कृण्म इति। अयम् अभिप्रायः। तव प्रथमं क्रियमाणेन संस्कार विशेषेण सर्वमनुष्यसाधारणान्। शतसंवत्सरान् कुर्मः। तानेव अयुतसंख्याकान् कुर्मः। चतुर्णां युगानां सन्धि संवत्सरान् विहाय युगचतुष्टयस्य मिलित्वा अयुतं संवत्सराः स्युः। तान् विभज्य [द्वे] कलिद्वापराख्ये। त्रीणि त्रेता सहितानि। चत्वारि कृतयुगसहितानि कुर्म इति आशास्यते। एवंरूपां प्रार्थनां ते प्रसिद्धा इन्द्राग्नी विश्वे च देवा अहृणीयमानाः ईदृक्प्रार्थना कथं कर्तुं युज्यत इति हृणां लज्जां क्रोधं वा अकुर्वाणा सन्तः [अनु] मन्यन्ताम् अनुमतिं कुर्वताम् ॥ २१ ॥

४०— विष्णुः ॥ ११ ॥

अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति, विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोते र्वा ॥२॥१८॥

नि० अ० १२. ख० १८॥

युग और वर्ण

४१—विष्णुमेकाग्रमासीनं श्रुतिस्मृतिविशारदम्।
पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे कलापग्राम—निवासिनः ॥ १ ॥

४२—कृते युगे ह्यपक्षीणे लुप्तो धर्मस्सनातन.।
तत्र वै क्षीयमाणे च धर्मो न प्रतिमार्गितः ॥ २ ॥

* तात्पर्यान्न विरुध्यते ।मिल्वा ।

४३—त्रेतायुगेऽथ संप्राप्ते कर्तव्यश्चास्य संग्रहः ।
यथा संप्राप्यतेऽस्माभिस्तत्त्वन्नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
४४—वर्णाश्रमाणां यो धर्मो विशेषश्चैव यः कृतः ।
भेदस्तथैव चैषां यस्तन्नो ब्रूहि द्विजोत्तम ॥ ४ ॥
४५—ऋषीणां समवेतानां त्वमेव परमो मतः ।
धर्मस्येह समस्तस्य नान्यो वक्तास्ति सुव्रत ॥ ५ ॥
४६—श्रुत्वा धर्मं चरिष्यामो यथावत्परिभाषितम् ।
तस्माद्ब्रूहि द्विजश्रेष्ठ धर्मकामा इमे द्विजाः ॥ ६ ॥
४७—इत्युक्तो मुनिभिस्तैस्तु विष्णुः प्रोवाच तांस्तदा ।
अनघाः श्रूयतां धर्मो वक्ष्यमाणो मया क्रमात् ॥ ७ ॥
४८—ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव तथा परे ।
एतेषां धर्मसारं यद्वक्ष्यमाणं निबोधत ॥ ८ ॥
४९—ऋतावृतौ तु संयोगाद्ब्राह्मणो जायते स्वयम् ।
तस्माद्ब्राह्मणसंस्कारं गर्भादौ तु प्रयोजयेत् ॥ ९ ॥
५०—सीमंतोन्नयनं कर्म न स्त्रीसंस्कार इष्यते ।
गर्भस्यैव तु संस्कारं गर्भादौ तु प्रयोजयेत् ॥ १० ॥
वि० स्मृ० अ० १। श्लो० १-१०॥
५१—अथातो हिमशैलाग्रे देवदारुवनालये ।
व्यासमेकाग्रमासीनमपृच्छन्नृषयः पुरा ॥ १ ॥
५२—मानुषाणां हितं धर्मं वर्तमाने कलौ युगे ।
शौचाचारं यथावच्च वद सत्यवतीसुत ॥ २ ॥
५३—कुशलं सम्यगित्युक्त्वा व्यासः पृच्छत्यनन्तरम् ।
यदि जानासि मे भक्तिं स्नेहाद्वा भक्तवत्सल ॥ ११ ॥
५४—धर्मं कथय मे तात अनुग्राह्यो ह्यहं तव ।
श्रुता मे मानवा धर्मा वासिष्ठाः काश्यपास्तथा ॥ १२ ॥
५५—गार्गीया गौतमीयाश्च तथा चौशनसाः स्मृताः ।
अत्रेर्विष्णोश्च सवर्ताद्दक्षादंगिरसस्तथा ॥ १३ ॥
५६—शातातपाच्च हारीताद्याज्ञवल्क्यात्तथैव च ।
आपस्तंबकृता धर्माः शंखस्य लिखितस्य च ॥ १४ ॥
५७—कात्यायनकृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुनेः ।
श्रुता ह्येते भवत्प्रोक्ताः श्रौतार्था मे न विस्मृताः ॥ १५ ॥
५८—अस्मिन्मन्वतरे धर्मा कृतत्रेतादिके युगे ।
सर्वे धर्माः कृते जाताः सर्वे नष्टाः कलौ युगे ॥ १६ ॥
५९—चातुर्वर्ण्यसमाचारं किंचित्साधारणं वद ।
चतुर्णामपि वर्णानां कर्त्तव्य धर्मकोविदैः ॥ १७ ॥

६०—ब्रूहि धर्मस्वरूपज्ञ सूक्ष्मं स्थूलं च विस्तरात्।
व्यासवाक्यावसानेषु मुनिमुख्य पराशरः ॥
धर्मस्य निर्णयं प्राह सूक्ष्मं स्थूलं च विस्तरात् ॥ १८ ॥

वक्ष्यमाण धर्मतत्वग्रहणाय श्रोतृसावधानतया विधत्ते।

६१— शृणु पुत्र प्रवक्ष्यामि शृण्वंतु मुनयस्तथा ॥ १६ ॥

६२—कल्पे कल्पे क्षयेसत्या ब्रह्म विष्णु महेश्वराः।
श्रुतिस्मृतिसदाचार निर्णेतारश्चसर्वदा ॥ २० ॥

६३—न कश्चिद्वेदकर्ता च वेदंस्मृत्वा चतुर्मुखः।
तथैव धर्मान्स्मरति मनुः कल्पांतरेऽतरे ॥ २१ ॥

६४—अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः ॥ २२ ॥

६५—तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेव कलौयुगे ॥ २३ ॥

६६—कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।
द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥ २४ ॥

६७—त्यजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्।
द्वापरे कुलमेकं तु कर्तारं तु कलौ युगे ॥ २५ ॥

६८—कृते संभाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनेन च।
द्वापरे त्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा ॥ २६ ॥

६९—कृते तात्क्षणिकः शापस्त्रेतायां दशभिर्दिनैः।
द्वापरे चैकमासेन कलौ संवत्सरेण तु ॥ २७ ॥

७०—अभिगम्य कृते दानं त्रेतास्वाहूय दीयते ।
द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ ॥ २८ ॥

७१—अभिगम्योत्तमं दानमाहूयैव तु मध्यमम्।
अधमं याचमानाय सेवादानं तु निष्फलम् ॥ २९ ॥

७२—जितोधर्मो ह्यधर्मेण सत्यं चैवानृतेन च ।
जिताश्चोरैश्चराजानः स्त्रीभिश्च पुरुषाजिताः। ३० ॥

७३—सीदंति चाग्निहोत्राणि गुरुपूजा प्रणश्यंति।
कुमार्यश्च प्रसूयंते तस्मिन्कलियुगे सदा ॥ ३१ ॥

७४—कृते त्वस्थिगताः प्राणास्त्रेतायां मांसमाश्रिताः।
द्वापरे रुधिरं चैव कलौ त्वन्नादिषु स्थिताः ॥ ३२ ॥

७५—युगे युगे च ये धर्मास्तत्र तत्र च ये द्विजाः।
तेषां निन्दा न कर्त्तव्या युगरूपा हि ते द्विजाः ॥ ३३ ॥

७६—युगे युगे तु सामर्थ्यं शेषं मुनिविभाषितम्।
पराशरेण चाप्युक्तं प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ३४ ॥

७७— अहमद्यैव तत्सर्वमनुस्मृत्य ब्रवीमि वः। पा० स्मृ० अ० १।

७८—यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७६ ॥

७६—मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

८० चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

८१—इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥

८२—अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ८३ ॥

८३—वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावाश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

८४—अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

८५—तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे। ८६ ॥ म० स्मृ० अ० १।

८६—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

८७—परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे * । ८ ॥
गी० अ० ४। श्लो० ७-८॥



* यानाद्यङ्गे युग. पुंसि युगं युग्मे कृतादिषु। अ० को० का० ३।

पुरुष-सूक्तम्।

८८–सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सं भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥
ऋ० म० १० अष्ट० ८ अ० ४ व० १७ सू० ९०

सहस्रऽशीर्षा। पुरुषः। सहस्रऽअक्षः। सहस्रऽपात्। सः। भूमिम्। विश्वतः। वृत्वा। अति। अतिष्ठत्। दशऽअङ्गुलम्॥ १॥

सर्वप्राणीसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोयं सहस्रशीर्षा सहस्रशब्दस्य उपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्तइत्यर्थः। यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तः—पातित्वात्तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वं एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च। सपुरुषोभूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतोवृत्वा परिवेष्ट्य दशांगुलं दशांगुलपरिमितं देशमत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः। दशांगुलमित्युपलक्षणं ब्रह्मांडाद्बहिरपि सर्वतोव्याप्यावस्थितइत्यर्थः॥ १॥

८९–सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिंसर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ य० स० ३१।१॥

३ १ र ३ १ र ३ र ३ १ र
९०–सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्ष सहस्रपात्।
१ र २ र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
स भूमिंसर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्॥ ३॥
सा० सं० आ० प० अ० ६ ख० ४।

९१–सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥ १॥
(अ० सं० का० १९ सू० ६)

एकः-सुपर्णः।

९२–"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्॥"
ऋ० म० ८, ६, १६, ४) इति।
नि० दै० का० अ० १ ख० ४६ पृ० ७५५।

ब्रह्मचारी।

तत्र प्रथम सूक्ते प्रथमा ॥

९३—ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥
(अ० स० ११।७।१)

ब्रह्मऽचारी । इष्णन् । चरति । रोदसी इति । उभे इति । तस्मिन् । देवाः । सम्ऽमनसः । भवन्ति । सः । दाधार । पृथिवीम् । दिवम् । च । सः । आऽचार्यम् । तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं* शीलम् अस्य स तथोक्तः उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ इष्णन् आत्मीयेन तपसा अभीक्ष्णं व्याप्नुवन् चरति स्वनियमे प्रवर्तते । X इष आभीक्ष्ण्ये। अस्मात् लटः शत्रादेशः । क्र्यादित्वात् श्ना प्रत्ययः ।X तस्मिन् ब्रह्मचारिणि सर्वे इन्द्रादयो देवाः संमनसः समानमनस्का भवन्ति । अनुग्रहबुद्धियुक्ता भवन्तीत्यर्थः। स ब्रह्मचारी आत्मीयेन तपसा पृथिवीम् भूमिं दिवम् द्युलोकं च दाधार X तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम् X। धारयति पोषयति। तथा आचार्यम् स्वं गुरुं तेनैव तपसा पिपर्ति पालयति। सन्मार्गवृत्त्या आचार्यं परिपालयतीत्यर्थः । "शिष्यपापं गुरोऽरपि" इति शिष्यकृतेन पापेन गुरोरपि पातित्यस्मरणाद् एवम् उक्तम् । X "चरेराङि चागुरौ" इति [गुरावभि] धेये आङ्पूर्वाच्चरतेः "ऋहलोर्ण्यत्" इति ण्यदेव प्रत्ययो भवति "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम्। पिपर्तीति। पृ पालनपूरणयोः। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। "अर्तिपिपर्त्योश्च" इति अभ्यासस्य इत्वम्।X (सा० आ० भा०)

द्वितीया

९४—ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे । गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥२
अ० ११।७।२ ॥

ब्रह्मऽचारिणम् । पितरः । देवऽजनाः । पृथक् देवाः । अनुऽसंयन्ति सर्वे । गन्धर्वाः । एनम् । अनु । आयन् । त्रयःऽत्रिंशत् । त्रिऽशताः । षट्ऽसहस्राः सर्वान् । सः देवान् । तपसा । पिपर्ति ॥ २ ॥

१............२ for १. *वेति २ S' has आङि for चरेराङि ।

ब्रह्मचारिणम् ब्रह्मचर्यं [म् आचर]न्तं पुरुषं पितरः पितृगणा देवजनाः एतत्संज्ञा देवगणा अन्ये च सर्वे देवा इन्द्रादयः पृथग् अनुसंयन्ति। तस्य रक्षणार्थं प्रथक् प्रथक् तम् अनुगच्छन्तीत्यर्थः। तथा गन्धर्वाः अन्तरिक्षसंचारिणो विश्वावसुप्रभृतयः एनं ब्रह्मचारिणम् अन्वायन् अनुगच्छन्ति ये च त्रयस्त्रिंशद् देवाः "अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च" [ऐ० ब्रा० १. १०] इत्येवं प्राग् उदाहृताः ये च त्रिशताः। त्रय इति अत्रापि संबध्यते। त्र्युत्तरत्रिशतसंख्याकास्तद्विभूतिरूपा देवाः। तथा षट्सहस्राः ये च तद्विभूति रूपाः षट्सहस्रसंख्याका देवाः। एवमेव वैश्वदेवनिविदि देवानां संख्या उत्तरोत्तरं भूयसी तन्माहात्म्यप्रतिपादनाय समाम्नायते। "ये स्थ त्रय एकादशास्त्रयश्च त्रिंशच्च त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा" इति प्रक्रम्य "अतो वा देवा भूयांसः स्थ" इति [निवि० १. ७]। तत्र प्रकृत संख्यानां भूयस्त्वश्रवणाद् अत्र षट्सहस्रा इति अधिकसंख्योक्तिः। तान् सर्वान् देवान् स ब्रह्मचारी तपसा आत्मीयेन ब्रह्मचर्यनियमेन पिपर्ति पालयति। देवमनुष्यादिरूपं सर्वं जगद् ब्रह्मचर्येण ध्रियत इत्यर्थः॥

(सा० अ० भा०)

तृतीया

९५—आचार्य/उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ ३॥

चतुर्थी

९६—इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥ ४॥

९७—वर्णाद् ब्रह्मचारिणि। (अ० ५।२।१३५।) से

९८—चरणे ब्रह्मचारिणी (अ० ६।३।८६।) से

९९—यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति। म० भा० १।१।२।३८॥

तत्र प्रथमा

१००—विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।

आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥ १॥

विष्णुः। योनिम्। कल्पयतु। त्वष्टा। रूपाणि। पिंसतु। आ। सिञ्चतु। प्रजाऽपतिः। धाता। गर्भम्। दधातु। ते॥ १॥

ऋ० अ० ८ व० ४३। म० १० अ० १२ सू० १८४।

विष्णुः व्यापकोदेवः योनिंगर्भाधानस्थानं कल्पयतु करोतु त्वष्टानुकर्ता। एतत्संज्ञकोदेवश्च रूपाणि निरूपकाणि स्त्रीत्वपुंस्त्वादिव्यंजकानि चिह्नानि पिंशतु अवयवीकरोतु पिशअवयवे मुचादित्वान्नुम् एवं प्रक्लृप्तायां योन्यां प्रजापतिः रेतआसिंचतु निषिंचतु विसृजत्वित्यर्थः धाता धारकोदेव. हे जाये ते तव गर्भं गर्भरूपेण परिणतं तद्रेतः दधातु तत्रैवधारयतु गर्भपातापप्रसवाभावाभूवन्नित्यर्थः ॥१॥ (सा० आ० भा०)

अथ द्वितीया

१०१—गर्भं धेहि सिनिवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवा वाधत्तां पुष्करस्रजा ॥ २ ॥

गर्भम्। धेहि। सिनीवालि। गर्भम्। धेहि। सरस्वति। गर्भम्। ते। अश्विनौ। देवौ। आ। धत्ताम्। पुष्करऽस्रजा ॥ २ ॥

हे सिनीवालि एतत्संज्ञे देवि धेहि निषिक्तं गर्भंधारय हे सरस्वति त्वं च निषिक्तं गर्भंधारय हे जाये पुष्करस्रजापुष्करमालिनौ स्वर्णकमलाभरणावश्विनौ-देवौ ते तव गर्भं आधत्तां प्रक्षिपतां कुरुतामित्यर्थः ॥ २ ॥ (सा० आ० भा०)

तत्र तृतीया

१०२—हिरण्ययीं अरणीयं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमेमासिसूतवे ॥ ३ ॥ ४२ ॥

हिरण्ययी इति। अरणी इति। यम् निःऽमन्थतः। अश्विना। तम्। ते। गर्भम्। हवामहे। दशमे। मासि। सूतवे ॥ ३ ॥ ४२ ॥

हिरण्ययी हिरण्मय्यौ अरणी यं गर्भमुद्दिश्य अश्विनावश्विनौ देवौ निर्मथतः निर्मथितवन्तौ हे जाये ते तुभ्यं त्वदर्थं तं गर्भं हवामहे आह्वयामहे दशमे मासि सूतवे प्रसोतुं पद्दन्नित्यादिना मासशब्दस्य मासभावः सूतेस्तुमर्थेसेसेनानि तवेन् प्रत्ययः ॥ ३ ॥ इत्यष्टमस्याष्टमे द्विचत्वारिंशोवर्गः ॥ ४२ ॥ (सा० आ० भा०)

१०३—नि० भा० "वीर्य्यं वै भागो वीर्य्यमिन्द्र इति ह विज्ञायते" नि० ३।१८।

१०४—"अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्ध-वर्णा भवन्ति"। नि० २।१६।

१०५—उलूखलमुसले ॥ २६ ॥ [नि० दै० का० अ० ६, ख० ३५]

१०६—उलूखलम् ॥ १६ ॥ नि० दै० का० अ० ६, खं० २०.

१०७–"यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह उलूखलक युज्यसे। इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः॥" [ऋ० सं० १, २, २५, ५]" इति

१०८–उवट-भाष्ये:–'यस्ततः पुत्रो जायते स लोकः। य० अ० ३।१२।

१०९–वृषभः ॥ १७ ॥ [नि० दै० का० अ० ६ ख० २३.]

११०–"न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्य आजः।
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय॥"
(ऋ० सं० ८, ५, २०, ५)" इति

१११–पृथिवी ॥ २६ ॥ [नि०दै० का० अ० ६ खं० ३२]
"स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथः॥"
[ऋ० सं० १. २, ६, ५, य० वा० सं ३५, २१]"

अथ सृष्ट्युत्पत्तिः।

११२–तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामायमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदꣳरूप इति स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने ऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳश्लोकं विन्दते य एवं वेद॥ ७॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति॥ ८॥

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्माऽवेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति॥ ६॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत् सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳसूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषाꣳस भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳस देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो

देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳसन्न व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपम त्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳहिनस्ति स्वाꣳस योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाꣳसꣳहिꣳसित्वा ॥ ११ ॥

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयꣳहीदꣳसर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥ १३ ॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यतो अबलीयान् बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्यवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥

तदेतद्ब्रह्मक्षत्रं विट् शूद्रस्तदाग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳहि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविद् महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥ १५ ॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेनऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथाह वैस्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳहैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम् ॥ १६ ॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छꣳश्च नातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावान्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषाहि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एव पाङ्क्तो यज्ञः

पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदं सर्वं यदिदं किंच तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥१७॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ।४।

बृ० उ० अ० १ ब्रा० ४।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसा जनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवान भाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १ ॥

बृ० उ० अ० १ ब्रा० ५ ॥

उदात्तादि स्वरों में वर्ण व्यवस्था ।

११३-उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः ॥

पा० अ० १ पा० २ सू० २९, ३०, ३१) ।

११४-उदात्ताद्यास्त्रयः स्वराः । (अ० को० कां० १ व० ६) ।

११५-उच्चादुच्चतरं नास्ति नीचान्नीचतरं तथा ।

अक्षरात्तुल्ययोगाच्च नीचेनीचगतानि च ॥ २७ ॥ (या० व० शि०) ।

भाषा—उच्च से उच्च और नीच से नीच नहीं होता, अक्षर तुल्य योगवाले हैं नीच स्वर को प्राप्त होकर नीचे होजाते हैं ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्यशिक्षा ।

(वाजसनेयि श्री शुक्लयजुर्वेदसंहिता परिशिष्टभागः)

११६- अथातस्त्रैस्वर्यलक्षणं व्याख्यास्यामः ।

भाषा—अब इससे तीन स्वरो के लक्षण व्याख्यान करते हैं ।

११७- उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च तथैव च ।

लक्षणं वर्णयिष्यामि दैवतं स्थानमेव च ॥ १ ॥

भाषा—उदात्त अनुदात्त और स्वरित, यह तीन स्वर हैं, इनके लक्षण देवता स्थान वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

११८-शुक्लमुच्चं विजानीयान्नीचं लोहितमुच्यते ।

श्यामं तु स्वरितं विद्यादग्निरुच्चेतु दैवतम् ॥ २ ॥

११९-नीचे सोमं विजानीयात्स्वरिते सविता भवेत् ।

उदात्तं ब्राह्मणं विद्यान्नीचः क्षत्रिय उच्यते ॥ ३ ॥

१२०-वैश्यं तु स्वरितं विद्याद्भारद्वाजमुदात्तकम् ।

नीचं गौतममित्याहुर्गार्ग्यं च स्वरितं विदुः ॥ ४ ॥

१२१-विद्यादुदात्तं गायत्रं नीचं त्रैष्टुभमुच्यते ।

जागतं स्वरितं विद्यादेतएवं नियोगतः ॥ ५ ॥

भाषा—उदात्त स्वर शुक्ल, अनुदात्त लाल, स्वरितका श्याम रंग है, उदात्तका अग्नि देवता ॥ २ ॥ अनुदात्तका चन्द्रमा, स्वरितका सविता देवता है, उदात्त ब्राह्मण, अनुदात्त

क्षत्रिय, ॥ ३ ॥ स्वरितस्वर वैश्य वर्ण है, उदात्तका भारद्वाज, अनुदात्तका गौतम और स्वरित का गार्ग्य ऋषि है ॥ ४ ॥ उदात्त का गायत्री, अनुदात्तत्रिष्टुप्, स्वरितका जगती छन्द जानना चाहिये ॥ ५ ॥

अक्षरों में वर्ण व्यवस्था ।

१२२-स्वरास्तु ब्राह्मणाज्ञेया वर्गाणां प्रथमाश्च ये ।
द्वितीयाश्च तृतीयाश्च चतुर्थाश्चापि भूमिपः ॥ २ ॥
वर्गाणां पंचमावैश्याश्चतस्थाश्च तथैव च ।
ऊष्माणश्चहकारश्च शूद्रा एव प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥

स्वर वर्ण ब्राह्मण हैं, तथा वर्गों के प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ अक्षर क्षत्रियवर्ण हैं ॥२॥ वर्गों के पांचवें अक्षर और अन्तस्थ वैश्यवर्ण है, ऊष्माण और हकार यह शूद्र कहाते हैं ॥ ३ ॥

पदों में वर्ण व्यवस्था ।

१२३-शुक्लवर्णानि नामानि आख्याता रोहिता मता ।
कपिञ्जलास्तु उपसर्गाः कृष्णाश्चैव निपातकाः ॥ ४ ॥

भाषा—नामिक शुक्ल वर्ण हैं, आख्यात (क्रिया) लाल वर्ण उपसर्ग पीला वर्ण है और निपात कृष्ण वर्ण हैं ।

पीतवर्णश्चोपसर्गो निपातः कृष्णवर्णकः ।

पदों में गोत्र

१२४-भार्गवतगोत्राणि नामानि भारद्वाजा आख्याताः ।
वासिष्ठाउपसर्गास्तु निपाताः काश्यपा. स्मृताः ॥ ५ ॥

पदों के देवता ।

१२५-सर्वं तु सौम्यमाख्यातं नामवायव्यं दृश्यते ।
आग्नेयस्तूपसर्गः स्यान्निपातोवारुणः स्मृतः ॥ ५ ॥

भाषा—सब आख्यात चन्द्र देवता वाले हैं, सब नामिक वायु देवता वाले हैं, उपसर्ग अग्नि देवता वाले, निपातका वरुण देवता वाले हैं ॥ ५ ॥

ब्रह्मणादिसृष्टिः

१२६-सर्वपापहरं दिव्यं सर्वसंशयनाशनम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामत्रिः शास्त्रमकल्पयत् ॥
(अ० स्मृ० ॥ १ ॥ श्लो० ५)

१२७-यज्ञसिद्धयर्थमनघान्ब्राह्मणान्मुखतोऽसृजत् ।
असृजत्क्षत्रियान्बाह्वोर्वैश्यानप्यूरुदेशत. ॥ १२ ॥
शूद्रांश्च पादयोः सृष्ट्वा तेषां चैवानुपूर्वश. ॥ १३ ॥
(हा० स्मृ० अ० १।१२-१३)।

१२८-लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥
(मनु० १।३१)

१२९-ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
(भ० गी० १८।४१)

१३०-विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ॥
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥ १३ ॥
(श्री म० भा० स्क० ११ अ० १८)।

ब्राह्मणादीनां कर्मनिर्माणम्।

१३१-वेदं गृहीत्वा यः कश्चिच्छास्त्रं चैवावमन्यते।
स सद्यः पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ११ ॥
(अ० स्मृ० श्लो० ११)।

१३२-ब्राह्मणस्य तु यत्कर्म कथितं बाहुजस्य च।
ऊरुजस्यापि यत्कर्म कथितं पादजस्य च ॥ १६ ॥
(हा० स्मृ० अ० ७।१६)

१३३-सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८६ ॥
(मनु० १।८७)।

१३४-चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्यकर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥
(भ० गीद ४।१३)।

१३५-वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन्प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमः ॥ १५ ॥
(श्री म० भा० स्कं० ११ अ० १८)

ब्राह्मणस्य कर्माणि।

१३६-षर्म विप्रस्य यजनं दानमध्ययनं तपः।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च याजनं चेति वृत्तयः ॥ १३ ॥
(अ० स्मृ० ॥ १ ॥ श्लो० १३)।

१३७-अध्यापनं चाध्ययनं याजनं यजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणीति प्रोच्यते ॥ १८ ॥
(हा० स्मृ० अ० १।१८)

१३८-अध्यापनमध्ययनं यजनयाजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणामामकल्पयत् ॥८८॥
(मनु० १।८८)

१३९-शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ ४२ ॥
(भ० गी० १८।४२)।

१४०-शमोदमस्तपः शौच सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १६ ॥
(श्री म० भा० स्कं० ११ अ० १७)।

क्षत्रियकर्माण्याह

१४१-क्षत्रियस्यापि यजन दानमध्ययनं तपः।
शस्त्रोपजीवनं भूतरक्षणं चेति वृत्तयः ॥ (अ० स्मृ० ॥ १ ॥ श्लो० १४)।

१४२-राज्यस्थः क्षत्रियश्चापि प्रजा धर्म्मेण पालयन्।
कुर्यादध्ययनं सम्यग्यजेद्यज्ञान्यथाविधि ॥ (हा० स्मृ० अ० २।२)।

१४३-प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत ॥ ८९ ॥ (मनु० १।८९)

१४४-शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥ (भ० गी० १८।४३)।

१४५-तेजोबलं धृतिः शौर्य तितिक्षौदार्यमुद्यम.।
स्थैर्यंब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १७।
(श्री म० भा० स्कं० ११ अ० १७)।

वैश्यकर्माण्याह

१४६-दानमध्ययनं वार्ता यजनं चेति वै विशः ॥ (अ० स्मृ० ॥१॥ श्लो० १५)

१४७-गोरक्षां कृषिवाणिज्यं कुर्याद्वैश्यो यथाविधि।
दानं देयं यथाशक्त्या ब्राह्मणानां च भोजनम् ॥ ६ ॥ (हा० स्मृ० अ० २।६)

१४८-पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥ (मनु० १।९०)।

१४९-कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥४४॥ (भ० गी० १८।४४)।

१५०-आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १८ ॥
(श्री म० भा० स्कं० ११ अ० १७)।

शूद्रकर्माह

१५१-शूद्रस्य वार्ता शुश्रूषा द्विजानां कारुकर्म च ॥ १५ ॥
अ० स्मृ० ॥ १ ॥ श्लो० १५)।

१५२-वर्णत्रयस्य शुश्रूषां कुर्य्याच्छूद्रः प्रयत्नतः।
दासवद्ब्राह्मणानाञ्च विशेषेण समाचरेत् ॥ ११ ॥ (हा० स्मृ० २।११)।

१५३-एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥ (मनु० १। ९१)।

१५४-परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥ (भी० गी० १८। ४४)

१५५-शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ॥
तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमा ॥ १९ ॥
(श्री म० भा० स्कं० ११ अ० १८)।

* वेद भगवान् की मूर्ति *

१५६-चत्वारिशृङ्गात्रयोअस्यपादाद्वेशीर्षेसप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धोवृषभोरोरवीतिमहोदेवोमर्त्याँ आविवेश ॥ ३ ॥

(ऋ० सं० ३, ८, १०, ३)। (य० स० १७, ९१) (नि० अ० १३ ख० ७)। (म० भा० १, १, १, १)।

चत्वारि। शृङ्गा। त्रयः। अस्य। पादाः। द्वे। इति। शीर्षे इति। सप्त। हस्तासः। अस्य। त्रिधा। बद्धः। वृषभः। रोरवीति। महः। देवः। मर्त्यान्। आ। विवेश ॥ ३ ॥

यद्यपिसूक्तस्याग्निसूर्यादिपंचदेवतात्मकत्वात्पंचधायं मंत्रोव्याख्येयः तथापि निरुक्ताद्युक्तत्वा यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्यचप्रकाशकत्वेनतत्परतयाव्याख्यायते— अस्ययज्ञात्मकस्याग्नेः चत्वारिशृंगा चत्वारोवेदाः शृंगस्थानीयाः यद्यप्यागस्तेवेन यज्ञंव्याख्यास्यामः सत्रिभिर्वेदैर्विधीयतइत्युक्तंतथाप्यथर्वणस्येतरानपेक्षयैवैकाग्निसाध्यानांकृत्स्नकर्मणां अभिधायकत्वात् तदपेक्षयाचत्वारि शृंगेत्युक्तं त्रयोअस्यपादाः सवनानित्रीण्यस्यपादाः प्रवृत्तिसाधनत्वात्पादाइत्युच्यन्ते द्वेशीर्षे ब्रह्मौदनं प्रवर्ग्यश्चइष्टिसोमप्रधान्येनेदमुक्तं सप्तहस्तासः सप्तच्छन्दांसिहस्तामुख्यसाधनं छन्दांस्यपिदेवताप्रीणनस्यमुख्यसाधनमितिहस्तव्यवहारः त्रिधाबद्धः मंत्रब्राह्मणैस्त्रिप्रकारंबद्धः बन्धनमस्यतान्निष्पाद्यत्वात् वृषभः फलानांवर्षिता रोरवीति भृशं शब्दायते ऋग्यजुःसामभिः शस्त्रयागस्तुतिरूपैः होत्राद्युत्पादितैर्ध्वनिभिः असौरौति एवंमहोदेवः एषयज्ञात्मामहानुभावोदेवः मर्त्यानाविवेश मर्त्यैर्यजमानैर्निष्पाद्यत्वात् प्रवेशउपचर्यते अत्रयास्कः (१)चत्वारिशृंगेतिवेदावाएतउक्ता-इत्यादिनानिखोचत्तदत्रानुसंधेयं। अथसूर्यपक्षेव्याख्यायते—अस्यादित्यचत्वारि शृंगाणि चतस्रोदिशएताः श्रयणार्हत्वाच्छृङ्गाणीत्युपचर्यंते त्रयो अस्यपादाः त्रयोवेदाः पादस्थानीयाभवन्त गमनसाधनत्वात् तथाहि (२)ऋग्भिः पूर्वाह्णेदिविदेवईयतेइत्युपक्रम्यवेदैरशून्यस्त्रिभिरेतिसूर्यः इतिहिवेदत्रयेणगतिराम्नाता द्वेशीर्षे

(१) नि० १३, ७।
(२) तै० ब्रा० ३, १२, ९।

अहश्चरात्रिश्चेतिद्वेशिरसी सप्तहस्तासोऽस्य सप्तरश्मयः षड्विलक्षणाकनचपकः साधारण इतिसप्तहस्ताभवन्ति त्रिधाबद्धः त्रिपुस्थानेपु क्षित्यादिपु अग्न्याद्यात्मकत्वेनसंबद्धः ग्रीष्मवर्षाहेमन्ताख्यैस्त्रिभिर्वाधावद्धोवा वृपभोवर्षिता रोरवीति शब्दं करोतिवृष्ट्यादिद्वारा समनोमहान्देवोमर्त्यानाविवेश तन्नियंतृतया सूर्यआत्माजगतस्तस्थुषश्चेतिहि(१)श्रुतं। एवमवादिपक्षेपियोज्यं शाब्दिकास्तुशब्दब्रह्मपरतयाचत्वारिश्रृंगेनिचत्वारिपदजातानि नामाख्यातेचोपसर्गनिपाताश्चेत्यादिनाव्याचक्षते अपरेत्व रतया तत्सर्वमत्रद्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥*

॥ ब्राह्मणादिसृष्टि और अथर्ववेद ॥

१५७-यत् पुरु॑षं (२)व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।

मु॒खं किम॑स्य॒ किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ ५ ॥

(अ० सं० १९, ६, ५)

यत्। पुरु॑षम्। वि। (३)अद॑धुः। कति॒ऽधा। वि। अ॒क॒ल्प॒य॒न्। मु॒खम्। किम्। अ॒स्य॒। किम्। बा॒हू इति॑। किम्। ऊ॒रू इति॑ पादौ॑। उ॒च्ये॒ते॒ इति॑ ॥ ५ ॥

"विराट् अग्ने समभवद् विराजो अधिपुरुषः" [६] इति पुरुषसृष्टिराम्नास्यते। "यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञम् अतन्वत" [१०] इति पुरुषेण साधनेन यज्ञसृष्टिश्च आम्नास्यते। तं पुरुषं निमित्तीकृत्य प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुम् अत्र ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। यत् यदा पुरुषम् यज्ञं व्यदधुः विशेषेण अकुर्वन् साध्या नाम देवाः वसवश्चतदा तं पुरुषं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। एष सामान्यरूपः प्रश्न।

X "डति च" इति संख्यासंज्ञकात् कतिशब्दात् "संख्याया विधार्थेधा" इति धा प्रत्ययः X। मुखं किम् इत्यादयो विशेषप्रश्नाः। अस्य यज्ञात्मनः पुरुषस्य किं वस्तु मुखम् आसीत्। किं वस्तु बाहू। किं वस्तु [ऊरू। किं वस्तु] पादा उच्येते। बाहूरुपादद्वयात्मना किं वस्तु कथ्यते। X "लोपः शाकल्यस्य" इति वकार लोपः X। किम् इति सामान्यरूपत्वाद् नपुंसकलिङ्गता एकवचनता च ॥ अध्यात्मपक्षे यत् यदा पुरुषम् वैराजं व्यदधुः मनः संज्ञकप्रजापतेर्विराजः प्राणरूपा देवाः संकल्पेन उत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा व्यकल्पयन् इत्यादि पूर्वेण समानम्।

---

(१) ऋ० सं० १, ८, ७। (२) व्यद॑धुः। (३) अद॑धुः।

* वेद भगवान् की मूर्तियाँ तो असंख्य हैं सूर्य, चन्द्र पृथिव्यादि लोकों में व्याप्त है और एशिया यूरप, अमरीका, आस्ट्रेलिया, आदि आदि स्थानों पर मिलेगी। हमने विस्तार के भय से, यजुर्वेद, निरुक्त महाभाष्य के भाष्य नहीं दिये पाठक गण वहाँ पर देख लें।

१५८-ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यो॑ऽभवत् ।

मध्यं तद॑स्य यद्वैश्यः॑ पद्भ्यां शूद्रो अ॑जायत ॥ ६ ॥

(अ० सू० १६, ६, ६)

ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् । बाहू इति॑ । राजन्यः॑ऽअभवत् ।

मध्यम् । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः॑ । पत्ऽभ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥६॥

"कतिधा व्यकल्पयन्" इति सामान्यप्रश्नस्य "चन्द्रमा मनसो जातः" इत्यादिना उत्तरं भविष्यति । मुखादिविशेषप्रश्नानाम् उत्तरम् अनया उच्यते । अस्य यज्ञात्मनः पुरुषस्य ब्राह्मणो मुखम् आसीत् । ब्राह्मणजातिविशिष्टः पुरुषः अस्य मुखाद् उत्पन्न इत्यर्थः । योयं राजन्यः क्षत्रियजाति विशिष्टः पुरुषः स तस्य यज्ञपुरुषस्य बाहू बाहुद्वयम् अभवत्] । [यद् वैश्यः वैश्यजातम्] इति यद् अस्ति [तद् अस्य यज्ञपुरुषस्य मध्यम् मध्याङ्गम् अभवत्] मध्यभागाद् वैश्य उत्पन्न इत्यर्थः । पद्भ्याम् पादाभ्यां शूद्रः अजायत उत्पन्नः ॥ इत्थं च मुखादिभ्यो (१)ब्राह्मणादीनाम् उत्पत्ति तैत्तिरीयः समामनन्ति । "स मुखतः त्रिवृतं (२)निरमिमीत । ब्राह्मणो मनुष्याणाम्" इति । "उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत । राजन्यो मनुष्याणाम्" इति । "मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत । वैश्यो मनुष्याणाम्" इति । तत्र "अन्नधानाद्ध्यसृजन्त" [तै० सं० ७, १, १, ५] इति वाक्यशेषेण शरीरस्य मध्यभाग एव विवक्षितः । मध्यभागः उर्वोरुपलक्षकः । अत एव प्रश्नः किम् ऊरू इति युज्यते । तत्रैव प्रश्ने "एकविंशं निरमिमीत । शूद्रो मनुष्याणाम्" इति च । अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परत्वेन योजनीये ॥ अध्यात्मपक्षेपि एपार्थः समानः ॥

(सा० आ० भा०)

* ब्राह्मणादिसृष्टि और यजुर्वेद *

१५६-यत्पुरु॑षं व्यद॑धुः कतिधा व्य॑कल्पयन् ।

मुखं किम॑स्यासीत्किं बाहू किमूरू पादा॑ उच्येते ॥ (य० स० ३१, १०)

उ० यत्पुरुषम् । यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखम् किम् अस्य आसीत् किं बाहू किम् ऊरू पादौ उच्येते । यत्पुरुषम् देवा इन्द्रादयः तस्मिन् यज्ञे व्यदधुः कृतवन्तो यथा । तद्वत् योगिनः आत्म यज्ञे पुरुषं ज्ञानम् यत् ज्ञानान्तं तत्कृतवन्तः कति प्रकारं विकल्पितवन्तः । तस्यैवंविधस्य किं मुखम् कौ बाहू कौ ऊरू पादौ उच्येते उच्यन्तामित्यर्थः ॥ ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्यशूद्राः स्थिता इत्यर्थः ॥ (उ० भा०) ।

---

(१) ब्राह्मणानाम् । (२, निरमिमीते ।

म० प्रश्नोतररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यत् यदा पुरुषं व्यदधुः कालेनोदपादयन् तदा कतिधा कतिभि. प्रकारैर्व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत् किं वाहू ऊरू चास्ताम्। किंच पादौ उच्येते पादावपि किमास्तामित्यर्थः॥ १०॥ (म० भा०)।

१६०—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याशूद्रो अजायत॥ ११॥
(य० स० ३१, ११)

उ० ब्राह्मणोऽस्य। ब्राह्मण. अस्य मुखम् आसीत् वाहू राजन्यः कृतः। ऊरू-तत् अस्य यत् वैश्यः पद्भ्याम् शूद्रः अजायत अस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य ये के-चिद्ब्राह्मणाः ते मुखम् आसीत्। ये क्षत्रियाः ते वाहूकृताः। ये वैश्याः ते अस्य ऊरूकृताः। ये शूद्राः ते पद्भ्याम् अजायन्त इति कल्प्यन्ते तदस्योत्पन्नत्वादिति। एवमेतेऽवयवा. शिरः प्रभृतयः पुरुषस्य विद्यन्ते नान्ये इति॥ ११॥ (उ० भा०)।

म० पूर्वोक्तप्रश्नोत्तराण्याह। ब्राह्मणः ब्रह्मत्वजातिविशिष्टः पुरुषोऽस्य प्रजापतेर्मुखमासीत्। मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। राजन्य. क्षत्रियत्वजातिविशिष्टो वाहू कृतः वाहूत्वेननिष्पादितः। तत् तदानीमस्य प्रजापतेः यत् यावूरू तद्रूपो वैश्यः संपन्नः। ऊरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान्पुरुषोऽजायत उत्पन्नः॥ ११॥ (म० भा०)।

❀ ब्राह्मणादिसृष्टि और ऋग्वेद ❀

१६१—यत्पुरुषंव्यदधुः कतिधाव्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौबाहू का ऊरुपादा उच्येते॥ ११॥
(ऋ० सं० ८, ४ १८, ११)

यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः। कतिधा। वि। अकल्पयन्। मुखम्। किम्। अस्य। कौ। वाहू इति। कौ। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति॥ ११॥

प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्नाउच्यन्ते प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः यद्यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्त अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत् कौ वाहू अभूतां का ऊरू कौचपादौ उच्येते प्रथम सामान्यरूपप्रश्न. पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः॥ ११॥ (सा० आ० भा०)

१६२-ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

(ऋ० सं० ८, ४, १८, १२)

ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् आसीत् । बाहू इति । राजन्यः । कृतः । ऊरू इति । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः । पत्ऽभ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥ १३ ॥

(सा० आ० भा०)

इदानीं पूर्वोक्त प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति अस्य प्रजापतेर्ब्राह्मणोब्राह्मणत्व-जातिविशिष्टः पुरुषोमुखमासीत् मुखादुत्पन्नइत्यर्थः योयं राजन्यः क्षत्रियत्व-जातिविशिष्टः सबाहूकृतः बाहुत्वेन निष्पादितः बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः तत्तदानीमस्य प्रजापतेः यद्यौ ऊरू तद्रूपोवैश्यः संपन्नः उरुभ्यामुत्पन्नइत्यर्थः तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोजायत इयं तु मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिः यजुः-संहितायां सप्तमकांडे—समुखतस्त्रिवृतंनिरमिमीत-इत्यादौविस्पष्टमाम्नाता । अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परत्वेनैव योजनीये ॥ २॥

(सा० आ० भा०)

महाभारत और चारों वर्णों के धर्म

ब्राह्मण धर्मः ।

भीष्म उवाच ।

१६३-ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तन्ते वक्ष्यामि केवलम् ।

दममेव महाराज धर्ममाहु पुरातनम् ॥

स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥ ८ ॥

१६४-तञ्चेद्वित्तमुपागच्छेद्वर्तमानं स्वकर्मणि ।

अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम् ॥९॥

१६५-कुर्वीतापत्यसन्तानमथो दद्याद्यजेत च ।

संविभज्य हि भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्य्यते ॥१०॥

१६६-परिनिष्ठितकार्य्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः ।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ११ ॥

क्षत्रियधर्मः ।

१६७-क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तन्ते वक्ष्यामि भारत ।

दद्याद्राजन्न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥ १२ ॥

१६८-नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम् ॥ १३ ॥
१६६-ये तु क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपः ।
ये पवाहवजेतारस्ते एषां लोकजित्तमाः ॥ १४ ॥
१७०-अविक्षतेन देहेन समराद्यो निवर्तते ।
क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ १५ ॥
१७१-एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः ।
नास्य कृत्यतमं किञ्चिदन्यद्दस्युनिवर्हणात् ॥ १६ ॥
१७२-दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते ।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममप्सिता ॥ १७ ॥
१७३-स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः ।
धर्मेण सर्वकृत्यानि समनिष्ठानि कारयेत् ॥ १८ ॥
१७४-परनिष्ठितकार्यस्तु, नृपतिः परिपालनात् ।
कुर्य्यादन्यन्नवा कुर्य्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ॥ १६ ॥

वैश्यधर्मः ।

१७५-वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तन्ते वक्ष्यामि शाश्वतम् ।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसञ्चयः ॥ २० ॥
१७६-पितृवत् पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह ।
विकर्म तद्भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत ॥ २१ ॥
१७७-रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥ २२ ॥
१७८-ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम ॥ २३ ॥
१७६-षण्णा.कां विवेद्धेनु शताच्च मिथुनं हरेत् ।
लब्ध्वान्न सप्तम भागं तथाशृङ्गे कलाखुरे ।
शस्यानि सर्ववीजानामेषा साम्वत्सरो भृतिः ॥ २४ ॥
१८०-न च वैश्यस्य काम स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥ २५ ॥

शूद्रधर्मः ।

१८१-शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तन्ते वक्ष्यामि भारत ।
प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ॥ २६ ॥
१८२-तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ।
तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात् ॥ २७ ॥

१८३-शूद्र एतान् परिचरेत्त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः ।
सञ्चयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन ॥ २८ ॥
१८४-पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद्गरीयसः ।
राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः ॥ २९ ॥
१८५-तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ।
अवश्यभरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ॥ ३० ॥
१८६-छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद्व्यजनानि च ।
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे ॥ ३१ ॥
१८७-अधार्य्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ।
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत् ॥ ३२ ॥
१८८-यश्च कश्चिद्द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुरावजेत् ।
कल्प्यां तस्य तु तेनाहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः ॥ ३३ ॥
१८९-देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्त्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ।
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्त्ता कस्याञ्चिदापदि ॥ ३४ ॥
१९०-अतिरेकेण भर्त्तव्यो भर्त्ता द्रव्यपरिक्षये ।
न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ३५ ॥

चारों वर्णों में विभाग और यज्ञ अधिकार

१९१-उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत ।
स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे नविद्यते ॥ ३६ ॥
१९२-तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेता व्रतवान् स्वयम् ।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥ ३७ ॥
१९३-शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ ।
ऐन्द्राग्ने विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥ ३८ ॥
१९४-यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत ।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ३९ ॥
१९५-दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजताञ्चयत् ।
दैवतं हि परं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम् ॥ ४० ॥
१९६-अयजन्निह सतैस्ते तैस्तैः कामैः समाहितैः ।
संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषुवर्णेषु सृष्टयः ॥ ४१ ॥
१९७-देवानामपि ये देवा यद्ब्रूयुस्ते परं हितम् ।
तस्माद्वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यन्ते न काम्यया ॥ ४२ ॥
१९८-ऋग्यजुः सामवित् पूज्यो नित्यं स्याद्देववद्द्विजः ।
अनृग्यजुरसामा च प्राजापत्य उपद्रवः ॥ ४३ ॥
१९९-यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ।

नास्य यज्ञकृतो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः ।
२०० —ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४४ ॥
२०१—एवं दैवतः ब्राह्मणः स्वेन नित्यं परान् वर्णानयजन्नेवमासीत् ।
अधरो वितानः संसृष्टो वैश्यो ब्राह्मणास्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः ॥ ४५ ॥
२०२—तस्माद्वर्णो ऋजवो ज्ञातिवर्णाः संसृज्यन्ते तस्य विकार एव ।
एकं साम यजुरेक ऋगेका विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः ॥ ४६ ॥
२०३—अत्र गाथा यज्ञगीताः कीर्त्तयन्ति पुराविदः ।
वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम् ॥ ४७ ॥
२०४—उदितेऽनुदिते चापि श्रद्धधानो जितेन्द्रिय ।
वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत् ॥ ४८ ॥
२०५—तत् स्कन्नमस्य तत् पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम् ।
बहूनि यज्ञरूपाणि नानाकर्म्मफलानि च ॥ ४९ ॥
२०६—तानि यः सम्प्रजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः ।
द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति ॥ ५० ॥
२२७—स्तेन वा यदि वा पापो यदि वा पाप कृत्तमः ।
यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम् ॥ ५१ ॥
२०८—ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम् ।
सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः ॥ ५२ ॥
२०९—न हि यज्ञसमं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तस्माद्यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानुसूयता ।
श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति यथेच्छया ॥ ५३ ॥
अनु० पं० वर्णाश्रम धर्म कथने षष्टितमोऽध्यायः ॥

महाभारत और सृष्टिः ।

भृगुरुवाच—
२१०—असृजद्ब्राह्मणानेवं पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान् ॥ १ ॥
२११—ततः सत्यञ्च धर्मञ्च तपोब्रह्म च शाश्वतम् ।
आचारञ्चैव धर्मञ्च स्वर्गाय विदधे प्रभुः ॥ २ ॥
२१२—देव दानव गन्धर्वा दैत्याऽसुर महोरगाः ।
यक्ष राक्षस नागाश्च पिशाचा मनुजास्तथा ॥ ३ ॥
२१३—ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
ये चान्ये भूतसंघानां वर्णास्ताश्चापि निर्ममे ॥ ४ ॥
२१४—ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियानान्तु लोहितः ।
वैश्यानां पीतको वर्ण शूद्राणामसितस्तथा ॥ ५ ॥

भारद्वाज उवाच।

२१५—चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः॥ ६॥

२१६—कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ताक्षुधा श्रमः।
सर्वेषां न प्रभवति कस्माद्वर्णो विभज्यते॥ ७॥

२१७—स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मापित्तं सशोणितम्।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभज्यते॥ ८॥

२१८—जङ्गमानामसंख्येयाः स्थावराणाञ्चजातयः।
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः॥ ९॥

भृगुरुवाच—

२१९—न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टंहि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ १०॥

२२०—कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥ ११॥

२२१—गोभ्योवृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः॥ १२॥

२२२—हिंसाऽनृतप्रियालुब्धाः सर्वकर्म्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥ १३॥

२२३—इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते॥ १४॥

२२४—इत्येते चतुरोवर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गता॥ १५॥

२२५—ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति।
ब्रह्मधारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा॥ १६॥

२२६—ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः॥ १७॥

२२७—पिशाचा राक्षसा प्रेता विविधाम्लेच्छ जातयः।
प्रनष्टज्ञान विज्ञानाः स्वच्छन्दाचार चेष्टिताः॥ १८॥

२२८—प्रजा ब्राह्मणसंस्कारा. स्वकर्मकृतनिश्चयाः।
ऋषिभिः स्वेन तपसा सृजन्ते चापरे परैः॥ १९॥

२२९—आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया।
वा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा॥ २०॥

(म० भा० शां० प० अ० १८८)

मन्त्राणामनर्थकत्वम् ।

२३०-अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते ।
अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः ॥
तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च ॥१॥

एवं नामाख्यातोपसर्गनिपातानां प्रविभागेनावस्थितानामेतल्लक्षणं परिज्ञायते—"अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते"। अथशब्दोऽधिकारार्थः द्वितीयं शास्त्रारम्भप्रयोजनमधिकरोति। अपीति सम्भावने। अपिपदेषु विभागेनावस्थितेषु लोके वेदे वा, अपिमन्त्रेषु वाक्यभावेनावस्थितेषु, यः समस्तार्थस्तस्मिन् प्रत्ययो विशेषावधारणं न विद्यते, न (१) भवतीत्यर्थः। अपीदं शास्त्रमन्तरेण पदार्थे प्रत्ययो नास्ति, (२) अपि वाक्यार्थे इत्यभिप्रायः॥

आह—कः पुनः पदार्थवाक्यार्थयोर्विशेष इति? उच्यते—साकाङ्क्षः पदार्थो निराकाङ्क्षो वाक्यार्थः। तद्यथा—गौरित्युक्ते किमित्याकाङ्क्षा भवति, ततो गच्छतीत्युक्ते निराकाङ्क्षं भवति। तथा गच्छतीत्युक्ते क इति साकाङ्क्षं भवति, ततो गौरित्युक्ते निराकाङ्क्षं भवति। अथेदानीं गौर्गच्छतीत्युक्ते गौर्वाहदोहादिभ्यो व्यावृत्य गमनेऽवतिष्ठते; गमनं चान्येभ्यो व्यावृत्य गव्येवावतिष्ठते, एष वाक्यार्थः। स एष प्रकरणाविरोधी वाक्यार्थः पदार्थं नियमेन लक्षयति, पदार्थश्च पदलक्षणम्। पदार्थसन्नियोगेन हि व्याकरणे पदानां प्रकृतिप्रत्ययादीनि लक्षणानि व्यादिश्यन्ते॥

यत एवमतः "अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः"। अर्थमप्रतियतोऽप्रतिपाद्यमानस्यानवधृतार्थस्येत्यर्थः। नात्यन्तम् नैकान्तिकेन, एकान्तं नाम निश्चयोऽनिश्चयेनेत्यर्थः किम्? **स्वरसंस्कारोद्देशः** स्वरोद्देशश्च संस्कारोद्देशश्च, स्वरावधारणं संस्कारावधारणं नास्तीति वाक्यशेषः॥ किं कारणम्? न ह्यनवधृतार्थः स्वरसंस्काराववधारयितुं शक्नुयात्। अर्थवशेन हि स्वरसंस्काराववतिष्ठेते॥

"तदिदम्" एवं कृत्वा निरुक्तशास्त्रं "विद्यास्थानम्" एतदधीनत्वादर्थपरिज्ञानस्य। अर्थवशगत्वाच्च स्वरसंस्कारयोरिदं "व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्" कृत्स्नभावं—करोतीति वाक्यशेषः॥ व्याकरणेन हि स्वरसंस्कारौ चिन्त्येते। तस्मादपरिसमाप्तमेव तावद् व्याकरणम्, यावत् निरुक्तं नाधिगतमिति। न हि अनैरुक्तोऽर्थमवधारयितुमलम्,—नानवधृतार्थः स्वरसंस्कारौ विजानीयादिति॥

आह—ननु व्याकरणस्य कार्त्स्न्यमेतत् करोतीत्युक्ते तच्छेषभूतमेवैतत्, उणादिवत्, ततश्च विद्यास्थानत्वमस्य विरुध्यत इति? नेत्युच्यते—"स्वार्थसाधकं च"। स्वार्थाजहद्वृत्त्या ह्येतदनुषङ्गतो व्याकरणस्य कृत्स्नतां करोति। यथा लोके स्वार्थमपरिहाय कश्चित् परानुग्रहं करोत्येवम्॥ यत् पुनरेतदुक्तम्-उणादिवदिति। ते हि तन्त्रान्तर्भूता एव-"उणादयो बहुलम् (पा० ३, ३, १)"-इत्युक्तम्, न पुनर्निघण्टवो बहुलमिति। तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानमर्थनिर्वचनम्, व्याकरणं तु लक्षणप्रधानमिति विशेषः॥ १। १५। १॥

---

१ 'नास्तीत्य॥ २ 'नास्ति समस्तार्थः'॥

यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सः ॥ अनर्थका हि मन्त्राः ॥ २ ॥

आह,—"यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय" एतदारभ्यते, हन्त, तह्येतदेवमर्थमारभ्यमाणम् "अनर्थकम्" एव "भवतीति" ॥ आह-क एवमाहेति ? उच्यते-"कौत्सः" ।

किं कारणम् ? "अनर्थका हि मन्त्राः" । न हि मन्त्राणामर्थोऽस्ति वाच्यवाचकत्वेन । तदर्थनिर्वचनायारभ्यमाणमिदमप्यनर्थकमेव भवति । तस्मान्नारब्धव्यमित्येवं कौत्सो मन्यते ॥ १ । १५ । २ ॥

तदेतेनोपेक्षितव्यम् ॥ ३ ॥

"तत्" एतदेवमुच्यमानं कौत्सेन "एतेन" अनेन नैरुक्तेन ["न(१)"] "उपेक्षितव्यम्" । उपगम्य चेदं शास्त्रञ्च ईक्षितव्यम्, किमसौ सत्यमाचष्टे मृषेति वा परीक्ष्यम् ॥

अर्थवत्त्वे मन्त्राणां यद्धेतुजातं वक्ष्यमाणं तदुपगम्यार्थवत्त्वं मन्त्राणामीक्षितव्यमिति केचिदाहुः ॥ १ । १५ । ३ ॥

नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ॥ ४ ॥

कया पुनरुपपत्त्या कौत्सो मन्त्राणामानर्थक्यमाहेति ? उच्यते—"नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति"—इति । नियतवाचोयुक्तयः निरूढवाचोयुक्तयः,—अभिधाननियता हि ते भवन्ति—"अग्न आ याहि वीतये (सा० वे० सं० १, १, १,)"—इति मन्त्रे, न पुनर्—'विभावसो ! आगच्छ पानाय' इति । नियतानुपूर्व्या नियतानुपूर्वीपदप्रयोगस्य । तद्यथा-'अग्न आयाहि' इति, न पुनर्भवति 'आयाह्यग्ने' इति । इह लोकेऽर्थवतां शब्दानामनियमेन पर्य्यायवचनता दृष्टा गवादिप्रयोगे, तथा न पौर्वापर्य्यं दृष्टम् । तद्यथा—'शोणीमभ्याज' 'गामभ्याज' 'आहर पात्रम्' 'पात्रमाहर' इति । न च तथा मन्त्रेषु । ततोऽर्थवच्छब्दवैधर्म्यात् पश्यामोऽनर्थका मन्त्रा इति ॥ १ । १५ । ४ ॥

अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते—"उरु प्रथस्वेति प्रथयति" । "प्रोहाणीति प्रोहति" ॥ ५ ॥

"अथापि" अयमपरो हेतुरानर्थक्ये मन्त्राणाम् । आह—कतम ? इति, उच्यते—"ब्राह्मणेन" ते (२) "रूपसम्पन्नाः" अपि सन्तो "विधीयन्ते" एव । रूपं नाम लिङ्गम्, तेन संपन्ना लिङ्गसंयुक्ता इत्यर्थः । प्रकटलिङ्गा अपि सन्तस्तदविवक्षितं कृत्वा कर्मसु विधीयन्त एव ॥ यदि ह्येते अर्थवन्तोऽभविष्यन्, स्वेनैव लिङ्गेन स्वमात्मानमेते विनियोक्तुं समर्था इति

---

(१) 'अयं नकारः' निरुक्ते हस्तलिखितटीकापुस्तके च नैवोपलभ्यते । मुद्रितपुस्तक एव दृश्यते नापिच स कंचिद्विशेषमर्थं गमयत्यतः (   ) कोष्टक एव निवेशितः ।

(२) 'ह्येते' ॥

कृत्वा न ब्राह्मणेन तेषुतेषु कर्मसु व्यधास्यन्त, विहिताश्च—तद् यथा-"उरु प्रथस्वेति प्रथयति (श० ब्रा० १, २, ६, ८)" प्रथनलिङ्गो मन्त्रो विहितः प्रथनकर्मणि, तथा च—"उरु प्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम् (य० वा० सं० १, २२)" यजुरिदम्। पुरोडाशं प्रत्युच्यते। हे पुरोडाश त्वं विस्तीर्णप्रथनः सन् (१)विस्तारयथाः स्वात्मानम्। ते तव यज्ञपतिश्चायं यजमानः प्रजापशुहिरण्यादिभिश्चोरु प्रथतां विस्तीर्यतामिति। तथा-"प्रोहाणीति प्रोहति"-इति ब्राह्मणं द्रोणकलशप्रोहणविधायि "इदमहमात्मानमेव प्राञ्चं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसाय" इति। तेजोर्थं ब्रह्मवर्चसार्थं चात्मानं प्रोहामि-प्राञ्चं प्रेरयामि इति। प्रोहाणीति प्रोहति—इति प्रोहणलिङ्गो विहितः प्रोहणकर्मणि तस्माल्लिङ्गसम्पन्नविधानात् पश्यामो ब्राह्मणेनानर्थकत्वरूपमेव सन्तं मन्त्र विनियुक्तम्। एवं सति, मन्त्रं पुनर्विदधत् ब्राह्मणमर्थवत्, अनर्थका हि मन्त्राः॥ नह्यर्थवन्तः सन्तो दासवद्ब्राह्मणेन विधीयेरन्, विहिताश्च। तस्मादनर्थका मन्त्रा इति पश्यामः। अपि च, (२)ब्राह्मणस्यानर्थक्याभ्युपगमे देशकालकर्तृदक्षिणादिकर्माङ्गभूतं कुत उपलभ्येत (३)? तथा च ब्राह्मणस्यानर्थक्येऽभ्युपगम्यमाने वैदेिक देशस्य मन्त्रस्यात्यन्तमिवानर्थकत्वमभ्युपगतं स्यात्, न हि ब्राह्मणस्य विधिवस्त्वर्थो(४)दत्तेऽर्थवत्तास्ति, मन्त्राणां पुनर्वाच्यवाचकत्वेनानर्थकानामपि सतां विनियोगमात्रेणाप्यर्थवत्ता स्यादेव। एतस्माच्च काममनर्थका मन्त्रा वाच्यवाचकत्वेन सन्तो विनियोगमात्रेणैवार्थयतो(५) विधेयत्वात्(?) विधायकत्वाच्च ब्राह्मणमर्थवदस्त्विति॥ १। १५। ५॥

अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति-"ओषधे त्रायस्वैनम्" "स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः" इत्याह हिंसन्॥ ६॥

"अथापि" अयमपरो हेतुरनर्थकत्वे मन्त्राणाम्। आह—कतम इति? उच्यते—"अनुपपन्नार्थाः" हि एते "भवन्ति" य एतेष्वर्थो लभ्यते—अयमेतेष्वर्थः स्यादिति नासावुपपद्यते। तद्यथा—"ओषधे त्रायस्वैनम् (य० वा० सं० ४, १, ६, १५)"—इत्याह। न चौषधिरात्मानमपि त्रातुं समर्था, किं (६)पुनर्वृक्षम्॥ तथा—"स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः (य० वा० सं० ४, १, ६, १५) इत्याह" आत्मनैव "हिंसन्"। को हि नाम एवमुक्त्वा स्वयमेव हिंस्यात् हिनस्ति च?। लोके यान्येवंविधानि वाक्यान्युन्मत्तप्रभृतीनां तान्यनर्थकान्यु(७)च्यन्ते, तथैवेमानि। तस्मादिमान्यप्यनर्थकानीत्युपपद्यते॥ १। १५। ६॥

अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति—"एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः"। "असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि

---

(१) 'स्यात्मा' (२) 'नर्थकत्वाभ्यु'। (३) 'भ्यते'। (४) 'र्थस्वाद्दन्ते'
(५) 'वन्तो'। (६) 'किमुत वृ'॥ (७) "नोत्यु"॥

भूम्याम्" ॥ "अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे" "शतं सेना अजय त्साकमिन्द्रः" इति ॥ ७ ॥

"अथापि" अयमपरो हेतुरनर्थक्ये मन्त्राणाम्। आह,—कतम इति ? उच्यते— "विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति" इति। अन्यस्यान्येन विरुद्धार्थेन प्रतिषेधोऽन्यस्य (१)वाऽन्येन विप्रतिषेध इतरेतरव्याघात इत्यर्थः। तद्यथा,—"एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः", "असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्(य०वा०सं०१६,५४)"। "अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे (ऋ०सं८,७,,२१,२)", "शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः" [ऋ० सं० ८, ५, २२; १]—इति। एतान्युदाहरणानि।

"एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयो रणे निघ्नन् पृतनासु शत्रून्।
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता प्रत्यङ् जनान् सञ्चुकोचान्तकाले ॥"

'एक एवावतस्ते रुद्रः ऽस्थितवान्, 'रणे' रणाय रणार्थम्, 'न' अन्यो 'द्वितीय' कश्चिदस्तियु। इति रुद्रबहुत्वप्रतिषेधः। कथमवतस्थे ? 'नि' निश्चयेन 'घ्नन्' 'पृतनासु' स्पर्द्धनीयेषु संग्रामेषु 'शत्रून्' ॥ किञ्च, स एकः 'संसृज्य' सृष्ट्वा, 'विश्वा' विश्वानि, 'भुवनानि' 'गोप्ता' रक्षिता, सृष्ट्वा च सर्गकालेऽनन्तरमेव पालयित्वा च स्थितिकाले। 'प्रत्यङ्' सर्गप्रातिलोम्येन 'जनान्' 'सञ्चुकोच' सङ्कोचयति, 'अन्तकाले' प्रलयकाले। य एवं गुणयुक्तो रुद्रस्तं वयं स्तुमः ॥

"असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।
तेषाᳯं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि" [य० वा० सं० १६, ५४]

एषा शतरुद्रियेऽनुष्टुप्। अनेन चाग्निचयनेऽर्कपर्णेनाजाक्षीरमिश्रा गवेधुकाः [२] सक्तवो हूयन्ते उत्तरस्यां श्रोणावन्त्यायामिष्टकायाम्। प्रजापतेरार्षम्। 'असंख्याता' असंख्यातानि 'सहस्राणि' बहूनीनि यावदुक्तं स्यात् ॥ केषाम् ? 'ये रुद्राः' 'भूम्याम्' 'अधि' उपरि 'तेषां' 'सहस्रयोजने' अध्वनि अवस्थितानामेव 'अव' 'तन्मसि' तनुमः 'धन्वानि' धनूंषि। अप्राप्तानामेवास्मान् प्रतीत्यभिप्रायः। तावदेव च तानभिप्लुष्मो (३) यावदेव ततानि तानि धनूंषि ॥

"त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परिष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥" (ऋ० सं० ८,७,२१,२)।

एतया अतिच्छन्दसा इन्द्रं तुष्टाव सुदाः पैजवनः। षोडशिनि शस्त्रे विनियुक्ता। हे 'इन्द्र!' 'त्वम्' 'अवासृज' 'सिन्धून्' स्यन्दनान् एतान् माध्यमिकान् उदकसं-

(१) 'चान्येन'। (२) 'सक्तवो'। (३) 'यावदेव ततानि', 'यावदनवनमानि' इति क्वचित् पुस्तके पाठः।

स्यातान् । कथं पुनरवासृजः ? 'अधराच.' तानधोगमनान् कृत्वा सर्वानेवावासृजः' नित्यकालम् 'अहन् अहिम्' घ्नन् मेघम् 'अशत्रु' अशातयितव्यः 'जज्ञिषे' जायसे नित्यकालं भवसि, तस्मिन् हते मेघे। किञ्च, त्वमेतेन प्रकारेण मेघवधकर्मणा 'विश्वं' सर्वं 'पुष्यसि' पुष्णासि 'वार्यं' वारिप्रभवं व्रीह्यादिकम्। 'तं' 'त्वा' त्वाम् एवंगुणसंयुक्तं वयं 'परिष्वजामहे' सर्वतः स्वजामहे आदिलष्यामः। 'नभन्ता' मा भूवन् 'अन्यकेषाम्' अन्येषाम् 'ज्याका ज्या अपि 'अधिधन्वसु' अधिधनुःषु। किमुतान्ये केचनाभ्युद्यच्छमाना एतेऽस्मद्द्विषः अवनतज्यधनुषो हतसर्वोद्यमाः सन्त्वित्यतस्त्वां परिष्वजामह इत्यभिप्रायः॥

"आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः॥"

(ऋ० सं० ८,५, २२, १)॥

इत्येषा अप्रतिरथेन त्रिष्टुवग्निप्रणयने विनियुक्ता। अप्रतिरथस्येन्द्रपुत्रस्यार्षम्।

'आशुः' व्यापकः क्षिप्रो वा, 'शिशानः' शिश्यानः तीक्ष्णीकुर्वन् आयुधम्, प्रगृहीतायुधः, 'वृषभो न' वृषभ इव पुष्टो योद्धा। 'भीमः' शत्रूणां भयजनकः। 'घनाघनः' हनाहनः जहि-जहीत्येवं शब्दकारी 'क्षोभणः' केषाम्? 'चर्षणीनाम्' प्रत्यनीकावस्थितानामसुरादीनाम्। 'सङ्क्रन्दनः' समाह्वाता शत्रूणाम्। आहूय च 'अनिमिषः' आदरवान् जयं प्रति। 'एकवीरः' एक एव विक्रान्तः अप्रति[१]द्वन्द्वः सङ्ग्रामेषु, 'शतसेनाः' बह्वीः शत्रुसेनाः, 'शाकम्' अवस्थिताः 'अजयत्' एक 'इन्द्रो' यः, तं वयं स्तुमः॥ एवमितरेतरविप्रतिपिद्धान्येतानि मन्त्रवाक्यानियद्येको रुद्रः, नासङ्ख्यातानि सहस्राणि। अथासङ्ख्यातानि, नैकः। यद्यशत्रुः, कथं शतं सेना अजयत्? अथ शतं सेना अजयत्, कथमशत्रुः? लोके हि यान्येवंलक्षणानि वाक्यानि उन्मत्तादीनाम्, तान्यनर्थकानीत्युच्यन्ते। तथा चेमानि। तस्मादिमान्यनर्थकानीति॥ १। १५। ७॥

अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यत्यग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति॥ ८॥

"अथापि" अयमपरो हेतुर्मन्त्राणामानर्थक्ये। कतम इति? उच्यते—"जानन्तं सम्प्रेष्यति" अध्वर्युर्होतारम्। कथम्? "अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति"॥ "तदु हैक आहुः। अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रू(२)हीति। (श०ब्रा० १,३, २,३)"होता हि विधिज्ञ[३] एव भवति,—न ह्यविद्वान् विहितोऽस्तीति स विजानात्येवासुष्मिन्नवधाविदं मयानुष्ठातव्यमिति। तदेतद्विज्ञातार्थस्य सतः सम्प्रेषणमनर्थकमेव भवति। यथैतदनर्थकमेवमन्येऽपि मन्त्रा इति॥ ११। ५। ८॥

अथाप्याह-"अदितिः सर्वम्" इति। "आदातिर्द्यौरदि

(१) 'अप्रतिबद्धः'। (२) 'ब्रवीति'। (३) 'विहित'।

तिरन्तरिक्षम् । तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ॥ ९ ॥

"अथापि" अयमपरो हेतुर्मन्त्राणामानर्थक्ये । आह—कतम इति ? उच्यते –"आह" मन्त्रनिगमः "अदितिः सर्वमिति" । आह—किमुदाहरणम् ? "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति"

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥"

[ऋ० सं० १,६, १६, ५] ।

"तत्" एतदुदाहरणम् "उपरिष्टाद्" ऐकपदिके "व्याख्यास्यामः" इह त्वेवमर्थमियमुदाहृता,—कथं यैव द्यौः, सा अन्तरिक्षम् , यैव माता, स एव पुत्रः, स एव च पितेत्येवमादि किमपि बहुत्र परस्परासम्बद्धमुच्यते ? तदर्थवत्वे सत्युपपादयितुमशक्यम् । तस्मादनर्थका मन्त्रा इति ॥ १ । १५ । ९ ॥

अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति अम्यग्यादृश्मिञ्जारयायिकाणुकेति ॥ १० ॥ १५ ॥

"अथापि" अयमपरो हेतुरानर्थक्ये मन्त्राणाम् । आह – कतम इति ? उच्यते—"अविस्पष्टार्थाः" अपि हि केचित् "भवन्ति" । तद्यथा—"अम्यग्, यादृश्मिन् , जारयायि, काणुका, इति" एवमादयः । न ह्येतेषां विस्पष्टार्थता मन्त्रेषु शक्यते परिज्ञातुम् ,–न च केचिदर्थवन्तः केचिदनर्थका इति न्याय्यमभ्युपगन्तुम् , अर्द्धवै[१]शेषं हि स्यात् । तस्मात् सर्व एवानर्थका इति ॥ परिसमाप्तः पूर्वपक्षः ॥ १ । १५ । १० ॥❀

मन्त्राणामर्थवत्त्वम् ।

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् ॥ १ ॥

स्वपक्षीमदानीं स्थापयिष्यामः, तदर्थमिदमारभ्यते,—"अर्थवन्तः शब्दसालान्यात्" इति । अर्थवन्त एव मन्त्रा इति प्रतिज्ञा । हेतुरुच्यते—शब्दसामान्यादिति । सामानं एव हि शब्दो लोके मन्त्रेषु च । (२) तथा च, य (३) एव गोशब्दो लोके स्वरसंस्कारसंयुक्तः स एव मन्त्रेष्वपि । तत्रैवं सति स एवार्थवान् लोके, स एव चानर्थको मन्त्रेष्विति विशेषहेतुर्नास्ति । असति च विशेषहेतावर्थवन्त एव मन्त्राः शब्दसामान्यादित्युपपद्यते ॥

यत्पुनरेतदुक्तम्—'प्रयोगानियमाल्लोकेऽर्थवत्त्वं प्रयोगनियमाच्च मन्त्राणामानर्थक्यम्' ।

---

(१) 'अर्धवैशस' ।

❀ इतोऽग्रे–'इति निरुक्तव्याख्यायां पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

(२) 'तथा' । (३) 'य' ।

इति,—तत् प्रति वक्ष्याम एतत् । लोकेऽपि हि प्रयोगनियमो दृष्टः । तद्यथा—पिता-पुत्राविति ॥ १ । १६ । १ ॥

२३१—एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

किञ्चान्यत्,—"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् ।" एतदेव हि यज्ञस्य कर्मणः समृद्धम् । तत् किम् इति ? उच्यते-यद्रूपसमृद्धम् मन्त्रलिङ्गैरभिधीयते, तदेव हि समस्तवृद्ध्या युक्तं भवति, नेतरत् । एतदेव सुतरां स्पष्टीकरोति—यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् इति । शब्दसामान्याद् ब्राह्मणप्रामाण्याच्चेति च शब्दः । ब्राह्मणमपि च मन्त्राणामर्थवत्त्वमेव दर्शयति । अनर्थका हि सन्तः कथं कर्माभिवदेयुः ? कथं वा(१)ऽनभिवदन्तः समर्द्धयेयुः ? अर्थवत्त्वं (२)चाभ्युपगतं भवता ब्राह्मणस्य 'अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते' इति । अत्र ब्राह्मणेन सिद्धमेवार्थवत्त्वमुक्तं मन्त्राणाम् । तदेतदुपदर्शितमस्माभिस्तस्मादर्थवन्त एव मन्त्रा इति ॥ १ । १६ । २ ॥

क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिरिति ॥ ३ ॥

आह—किं पुनः समृद्धरूपत्वे मन्त्राणामुदाहरणम् ? उच्यते—"क्रीलन्तौ"—इति ।

"इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥" (ऋ० सं० ८, ३, २८, २) ।

सूर्य्याया आर्षम् । विवाहे विनियुक्ता अनुष्टुप् ॥ 'इहैव' 'स्तं' भवतं युवां, 'स्वे गृहे' 'मोदमानौ' हर्षमाणौ 'मा वियौष्टम्' मा चः (३) वियुज्येथाम् । 'विश्वं' सर्वम् 'आयुः' 'व्यश्नुतं' 'क्रीलन्तौ' क्रीडन्तौ 'पुत्रैः' 'नप्तृभिः' पौत्रैश्च सहेत्याशीः । स्थापितमर्थवत्त्वं मन्त्राणाम् ॥ १ । १६ । ३ ॥

यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद्यथेन्द्राग्नी पितापुत्राविति ॥ ४ ॥

अधुना (४) परपक्षे हेतवो निराकर्तव्याः, तदर्थमिदमाह-"यथो एतत्" इति ॥ यत् पुनरेतदुक्तम्—"नियतवाचोयुक्तयः नियतानुपूर्व्या भवन्ति इति" । अत्र ब्रूमः—"लौकिकेष्वपि" हि अर्थवत्सु शब्देषु नियतवाचोयुक्तित्वं नियतानुपूर्व्यत्वञ्च दृष्टमेव । "एतद्यथा इन्द्राग्नी" इति "पितापुत्राविति" च ॥ तत्र,—यदुक्तं नियतवाचोयुक्तित्वान्नियतानुपूर्व्यत्वाच्चानर्थका मन्त्रा इति । एतदयुक्तम्, लौकिकेष्वपि हि नियत-

---

(१) 'चा' । (२) 'वा' ॥

(३) 'वियुज्येतम्' 'वियुज्यतम्' । परमस्य दैवादिकस्यानुदात्तेत्त्वादात्मनेपदप्रयोग एव साधु ।

(४) 'परपक्षहेतवो' ॥

प्रयोगाः-सन्तः शब्दाः केचिदर्थवन्तो दृष्टाः, यथेन्द्राग्नी पितापुत्राविति। स एष प्रयोग-नियमादनर्थका मन्त्रा इत्यनैकान्तिको हेतुः। तस्मादर्थवन्त एवेति ॥ १।१६।४ ॥

यथो एतद्ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इत्युदितानुवादः स भवति ॥ ५ ॥

"यथो एतत्" यत् पुनरेतदुक्तम्,—" ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इति "। अत्र ब्रूमः—" उदितानुवादः स भवति "। न [नाम] समर्था आत्मानमेव [एते] स्वेन रूपेण विधातुमित्यतो ब्राह्मणेन विधीयंते, किन्तर्हि? आत्मनियोगाश्रयमुक्तमेव सन्तं मन्त्रेणार्थं ब्राह्मणमनुवक्ति विस्तरेण प्रकृतार्थसन्तुष्टयया। न ह्यन्यत्तं स्तोतुं शक्यते सोऽय-मेवमुदितानुवाद एव भवति, उक्तानुवाद इत्यर्थः। अपि चानेकेऽपि समानलिङ्गाः प्रकरणे(१) मन्त्रा भवन्ति। ते ह्यहम्पूर्विकया एकं प्रयोगं प्रति 'खले कपोत'—वत् सम्पतन्ति, तेषां समुच्चये विकल्पे च प्राप्ते सति अभिमत एको नियमार्थं ब्राह्मणेन विधीयते। एवमुभ-योरर्थवत्त्वं मन्त्रब्राह्मणयोः ॥ तत्र यदुक्तम्—रूपसम्पन्नविधानान्मन्त्रानर्थक्यम्, मन्त्रा-र्थवत्त्वे वा ब्राह्मणानर्थक्यमिति, एतदयुक्तम्। तस्मादुभयमर्थवत्—मन्त्राश्च ब्राह्मणं चेति १।१६।५॥

यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत ॥ ६ ॥

"यथो एतत्" यत् पुनरेतदुक्तम्—'ओषधे त्रायस्वैनम्, स्वधिते मैनं हिंसीः'-इत्यादयः "अनुपपन्नार्था भवन्ति।" अत्र ब्रूमः—ओषध्यधिदैवतोच्यते, हे ओषधे! त्रायस्वैनम्, त्वत्पूर्वको ह्येष वृक्षश्छिद्यमानः सम्यक् छिन्नो भविष्यति, ततश्च यज्ञे विनि-युक्तः। अतिविशिष्टमुत्कर्षमेतस्मात्स्थावरत्वात् प्राप्स्यत इत्येतदत्र त्राणमभिप्रेत्योक्तम्-'ओषधे त्रायस्वैनम्' इति 'न च्छेदनं प्रतिपत्स्यतेऽयम्' इत्यनेनाभिप्रायेण। तस्मादुपपन्नार्थ एवायम्। तत्र यदुक्तम् 'अनुपपन्नार्था इत्येवमादयो मन्त्राः' इति, एतदयुक्तमिति ॥

यदपि चोक्तम्—'स्वधिते मैनं हिंसीरित्याह हिंसन्' इति। (२)अत्र ब्रूमः—"आम्नायवचनादहिंसा" एषा " प्रतीयेत "। आह—कथमहिंसा? प्रत्यक्षतो हि छिद्यते वृक्षः। शृणु—इयमहिंसा इयं हिंसा—इत्यागमादेतत्। प्रतीयते। प्रतिविशिष्टश्चायमेव वैदिक आम्नाय आगमः, एतत्पूर्वकत्वादन्येषामागमानाम्। स एष कृत्स्नस्य जगतः, प्रतिविशिष्टाय श्रेयसेऽभ्युद्यतः सन् हिंसायां कर्तारं विनियोक्ष्यत इति कुत एतत् (३)पुनरियमहिंसैव? यतोऽस्यां (४) नियुनक्ति कर्तारम्। तदेतदागमप्रत्यक्षमेव यथेयमहिंसेति। अपि चैतदोषधि-वनस्पतिपशुमृगपक्षिसरीसृपाः सम्यगुपयुक्ताः सन्तो यज्ञे परमुत्कर्षं प्राप्नुवंति। सोऽय-मभ्युदय एव सम्पद्यते, न हिंसा ॥ तत्र यदुक्तम्—' मैनं हिंसीरित्याह हिंसन् ' इति, न ह्यसौ हिनस्ति। किन्तर्हि? अनुगृह्णाति (५)यज्ञविनियोगार्थं विधानतः छिन्दन्। तस्मादुपप-

(१) 'प्रकरणमन्त्रा' ॥ (२) 'तत्र' ॥
(३) 'नूनमि' ॥ (४) 'अस्मात्' ॥ (५) 'यज्ञः विनि' ॥

स्वार्थमेवमपि । तत्र यदुक्तम्—'अनुपपन्नार्थत्वादनर्थका(१) मन्त्रा' इति, पुनरयुक्तमिति १ । १६ । ६ ॥

यथो एतद्विप्रतिपिद्धार्था भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद्यथाऽसपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजेति ॥ ७ ॥

"यथो एतत्" यत् पुनरेतदुक्तम्—"विप्रतिपिद्धार्था भवन्ति" इति । अत्र ब्रूमः—नैष विप्रतिपिद्धोऽर्थः—"एक एव रुद्रोऽवतस्थे" "असंख्याता सहस्राणि"—इति,—देवता हि माहाभाग्ययोगादेकापि सत्यनेकधा भवति, (२) अनेकापि चैकधा, तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः "माहाभाग्याद्देवतायाः (दै० का० ७, १, ४)" इत्यत्र ॥

यत् पुनरेतदुक्तम्-"अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे" "शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः"-इति । अत्र ब्रूमः-"लौकिकेष्वपि" अर्थवत्सु शब्देषु "एतत्" एवमेवोच्यमानं दृष्टम् । तद् यथा- "असपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजेति" । न हि कश्चिदसपत्नोऽस्ति लोके । उक्त (३) हि

'मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः ।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ॥' इति ।

तथापि स्वल्पसपत्नं दृष्ट्वा केचिदेवं वक्तारो भवन्ति—'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः' इति । एवमेव कस्मिंश्चिदतिप्रवृद्धे भृशं (४) पातिते मेघेऽन्येषामसारतामभिप्रेत्येदमुक्तं (५) स्यात "अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे यस्त्वामेतमेवमतिप्रवृद्धमहन्नहिम्"—इति ॥ यत् पुनरेतदुक्तम्—'शतं सेना अजयत' इति । अत्र ब्रूमः—कुतो हि सेनाः, या इन्द्रो जेष्यति ? न हि देवानां शत्रवः सन्ति, ये जेतव्या इति । किं कारणम् ? विभवो देवा वशिनः अधिकरणधर्माणश्च परेण महिम्ना युक्ताः ॥ आह—कथं तर्हि 'शतं सेना अजयत्' इत्येतदुक्तम् ? उच्यते—रूपकल्पनयैवैषा युद्धप्रवादा (६) स्तुतिः । वक्ष्यति च-'अपां च ज्योतिषश्च मिश्राभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थे न युद्धवर्णा भवन्ति (नैग० का० २, ५, २)"—इति । तदेतद् भवता न सम्यग् दृश्यते, सम्यगन्विष्यतां देवतासतत्त्वं नैरुक्तेभ्यः, ततो मन्त्रार्था न विरोधेन सम्यगवभोत्स्यसे । नैवमवाक्यतत्त्वज्ञेन मन्त्रार्थो विगा(७)हितुं शक्यः । गम्भीरपदार्थो हि वेदः कथमवलोक्यते कथमवभोत्स्यते ? वेदार्थाववोधविभ्रान्ता एव हि प्रवादिनः स्वबुद्धिलाघवमाविर्भावयन्तो ब्राह्मणाः सन्तः सर्ववर्णसाधारणानि दर्शनान्तराणि प्रतिपेदिरे ॥ यदुक्तम्—'विप्रतिपिद्धार्थत्वादनर्थका मन्त्राः' इति । एतदयुक्तम्, न हीमे विप्रतिपिद्धार्थाः ॥ भवत एष (८)मतिविभ्रमो मन्दशिक्षितत्वात् । तस्मादर्थवन्त (९) एव मन्त्रा इति ॥ १ । १६ । ७ ॥

यथो एतज्जानन्तं संप्रेष्यतीति जानन्तमभिवादयते जानते मधुपर्कं प्राहेति ॥ ८ ॥

---

(१) क्वचित्पुस्तके 'अनुपन्नार्थका मन्त्रा' इति ॥ (२) 'अनेकधापि चै' ॥
(३) 'च' ॥ (४) 'शान्ति गते' ॥ (५) 'स्येतदुक्त' ॥ (६) 'दार' ॥ (७) 'ऽवगा' ।
(८) 'व' ॥ (९) 'दनर्थव' ॥

"यथो एतत्" यत् पुनरुक्तम्,—"जानन्तं सम्भेत्स्यतीति" ॥ अत्र ब्रूमः—लौकिकेष्व-प्यर्थवत्सु शब्देषु एतदेव स्वाभाव्यं दृष्टम् । तद्यथा "जानन्तम्" गुरुम्, "अभिवादयते" स्वगोत्रमभिवदन् । तथा च "जानते मधुपर्कं प्राह" त्रिर्मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः इति । तदेतदर्थवत्स्वपि शब्देषु विहितार्थख्यापनार्थंशब्दसामान्यादर्थवन्तो मन्त्रा इति । १ । १६ । ८ ॥

यथो एतददितिः सर्वमिति लौकिकेष्वप्येतद्यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति ॥ ९ ॥

"यथो एतत्" यत् पुनरेतदुक्तम्,—अथाप्याह "अदितिः सर्वमिति" । अत्र ब्रूमः—द्विविधा हि शब्दप्रवृत्तिः, मुख्या[र्था] गौणी चेति । तत्रैवं सति यत्र मुख्याऽसम्भवस्तत्र गौण्याश्रीयते । स एष भक्तिवादः—अदितिः सर्वम्—इति, यथा कश्चित् कस्यचित् कञ्चिदनेकोप-कारे प्रवृत्तम्—'त्वमेव मे माता, त्वं मे पिता' । एवमेतदपि द्रष्टव्यम् । "लौकिकेष्वपि" चार्थवत्सु शब्देषु "एतत्" उच्यमानं दृष्टम्, "यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति" ततो हि तेषां प्रभव इति, अनया गुणवृत्त्या एवमुच्यते, एवमिहापि गुणवृत्त्या कयाचिद-दितेः सर्वत्वमुच्यते ॥ यदुक्तमितरेतरविरुद्धं किमपि वहत्येति, एतदयुक्तम् । सर्वमेतदुपपद्य-त एव गुणवृत्त्या । तस्मादर्थवन्त एव (१) सर्वे मन्त्रा इति । १ । १६ । ९ ॥

यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति । यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥ १० ॥ १६ ॥

"यथो एतत्" यत् पुनरेतदुक्तम्,—अथापि—"अविस्पष्टार्था भवन्तीति" । अत्र ब्रूमः—"नैष स्थाणोरपराधः" इति । न ह्यत्र स्थाणुरपराध्यति "यदेनं" स्थाणुम् "अन्धो न पश्यति" यदत्रासावभिहन्यते । किन्तर्हि ? "पुरुषापराधः स भवति" पुरुष एवापराधी तत्र, यदसावचक्षुष्मान् । एवमिहापि (२) नैष मन्त्राणामपराधो यदशिक्षितेन भवता न विज्ञायन्ते, भवत एवापराधोऽस्ति, यो (भो) भवान् सर्वमात्मीयमपराधं मन्त्रेष्वस्मासु वा संयोजयितुमिच्छति, न (३) तव प्रज्ञास्ति किञ्चित् ॥

"यथा जानपदीषु" कासुचित् प्रवृत्तिषु इतिकर्त्तव्यतासु कौशलशिक्षाकृतः "विद्यातः पुरुषविशेषो भवति" । पुरुषाणां विशेषः । एवमिहापि मन्त्रार्थ-शिक्षाकौशलकृतः पुरुषाणां विज्ञानविशेषो भवत्येव । तत्रैवं सति केचित् पु-रुषाः [ये] सुविस्पष्टार्थानपि मन्त्रान् न शक्नुवन्ति निर्वक्तुम्, अपरे पुनरविस्पष्टार्थानपि

---

(१) 'सर्वमन्त्रा' ॥ (२) 'च' ॥ (३) 'ते प्र' ॥

शक्नुवन्ति विस्पष्टीकर्तुम्। तदुक्तम्—"उत त्वः (ऋ० सं० ८, ०, २३, ४। नैघ० का० १, [६,] ३)"—इत्यत्र ॥

तत्रैवं सति "पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति"–इति। य एते पारोवर्य्यविदो ब्राह्मणाः, पारोवर्य्येण विजानन्ति आचार्य्यपरम्परया—ते पारोवर्य्यविदः, न साक्षात्कृतधर्माण इत्यभिप्रायः। किं तेषाम्? तेषां य एव भूयोविद्यो भवति बहुश्रुतः (१) कश्चित् स एव प्रशस्यते। स एव मन्त्रार्थं वज्ञाता (२) प्रशस्यो भवति, नेतरो मन्दबुद्धिरशिक्षितः। स हि बहुश्रुतो बहुदृष्टत्वादनेकविषये मन्त्रार्थे न क्वचित् प्रतिवध्यते, (३) न हि तस्याविस्पष्टार्थो नाम कश्चिदस्ति। तस्माद्धेतोः स त्वं बहु श्रुणु, ततः सम्यगवभोत्स्यसे मन्त्रार्थान् ॥ तत्र यदवोचः –' अविस्पष्टार्था मन्त्रा ' इति। न हि ते अविस्पष्टार्थाः, तांश्चोपरिष्टात् स्पष्टीकृत्य व्याख्यास्यामहे। तवैष मति विभ्रमयति सम्मोहः। तस्मादर्थवन्त एव मन्त्रा इति सिद्धम्। तस्माच्चैतदपि शास्त्रं मन्त्रार्थप्रत्ययायारभ्यमाणमर्थवदेव भवतीति सिद्धः शास्त्रारम्भः ॥ तत्र (४) यदुक्तं—' यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति ' इति, एतदयुक्तम्। इति प्रभिन्नेषु परस्य (५) हेतुषु स्वपक्षसिद्धावुत्थिते (६), च कारणे अवस्थिता मन्त्रगणस्य सार्थता। तदर्थमेतत् खलु शास्त्रमर्थवदिति ॥ १। १६। १० ॥ ❀

पदविभागायाप्यर्थवत्त्वम्।

२३२–अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते ॥ १ ॥

" अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते "। (७) शास्त्रारम्भप्रयोजनाधिकारे वर्त्तमाने अपीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थावधारणं नास्तीत्युक्ते यदि मन्त्रेत्यादिनानर्थक्यहेतुभिर्बहुभिरानर्थक्य उपपादिते निरुक्तशास्त्रस्य कौत्सेन, मन्त्राणामर्थवत्तां स्थापयित्वा परपक्षहेतवः प्रत्युक्ताः। तेषु स्थितमर्थवत्त्वं मन्त्राणाम्। तेषामर्थनिर्वचनायेदमारभ्यमाणमर्थवदित्युपपन्नमर्थवत्त्वं निरुक्तशास्त्रस्य। तदेतत् सर्वमपि चोदकशास्त्रकारव्याजेन प्रसक्तानुप्रसक्तमुक्तं प्रज्ञाया विवृद्ध्येय शिष्यस्य। कथं नामासावविवृद्धप्रज्ञः शब्दार्थयायसङ्करेषु हेतुसमयानभिज्ञः परैः प्रतिवध्यमानोऽपि पदार्थान् वाक्यार्थांश्चासम्मोहेन निर्ब्रूयादिति। एवं तावत् एतदन्तरेण मन्त्रार्थप्रत्ययो नास्ति। अथेदमपरमारम्भप्रयोजनमित्येवं विशेषाधिकारार्थोऽयमथशब्दः। अपि मन्त्रार्थप्रत्यय इदमन्तरेण नास्ति, नाप्यस्ति यदिदं वक्ष्यमाणम्, इत्यपिशब्दः एवं सम्भावने ॥

आह—किं पुनस्तद् वक्ष्यमाणम् इति? उच्यते—पदविभागः। 'एवं पदानि वक्तव्यानि'—इत्येतद् विभागपरिज्ञानं नास्तीत्यर्थः। किं कारणम्? अर्थवशेन हि पदान्यवतिष्ठन्ते, न चेदमन्तरेणार्थपरिज्ञानमस्ति। तस्मादत एव पदविभागप्रसिद्धिरिति।

(१) 'क्वचित्' (२) 'ने' ॥ (३) 'तिषिध्य' ॥ (४) कौत्सेन–इत्यनुपजनीयम्–प्रक्रान्तनएट्नोधनत्वात् दुक्तेः ॥ (५) 'स्पष्टे' ॥ [६] 'चुदिते' ॥ ❀ इतोऽग्रे–'इति निरुक्तव्याख्यायां षोडशः खण्डः ॥१६॥' इति द्रष्टव्यम् ॥ 'इति निरुक्तवृत्तौ प्रथमा [षष्ठा] ध्यायस्य पञ्चम पादः ॥ ५ ॥ इति नृपनन्दने ॥

७ 'अथ–इत्यस्यायमर्थ.॥

इदमर्थवत्त्वं मन्त्राणामन्तरेण पदविभागोऽप्यकिञ्चित्करः । प्रसिद्धश्चैष सर्वशाखासु । तस्मात् पदविभागार्थवत्त्वाय चार्थवन्तो मन्त्रा इति केचिद् वर्णयन्ति ॥ १ । १७ । १ ॥

"अवसायं पद्वते रुद्र मृल" इति । पद्वदवसं गावः पथ्यदनम्, अवतेर्गत्यर्थस्यासौ नामकरणः । तस्मान्नावगृह्णन्ति ॥ "अवसायाश्वान्" इति स्यतिरुपसृष्टो विमोचने तस्मादवगृह्णन्ति ॥ २ ॥

एवं प्रतिज्ञाय समानसंहितेषु ग्रन्थेष्वर्थहेतुकं पदविभागविशेषं दर्शयति,—तद्यथा— "अवसायं पद्वते रुद्रमृलति"। "पद्वत्" पादवत् पादसंयुक्तम् । "अवसं गावः पथ्यदनम्" इति निगमप्रसक्तस्य पर्यायवचनम् । "अवतेर्गत्यर्थस्यासौ नामकरणः" प्रत्ययः । "तस्मात्" असमासत्वादस्य "नावगृह्णन्ति" एतत्पदकारा इति शेषः ॥

"मयोभूर्वातो अभिवातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरारिशन्ताम् ।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्रमृल ॥"

(ऋ०सं० ८,८,२७,१) ॥

(१) शबरोनाम काक्षीवतः, स मयोभूरित्यस्यास्त्रिष्टुभः पूर्वैस्त्रिभिः पादैः गवामाशिषमाशास्योत्तमेन तासामेव च रुद्रात् सुखमयाचत । गवामुपस्थाने विनियुक्ता (२) । 'मयोभूः' मयोभावयिता पाश्चत्यः 'वातः', एताः 'उस्राः' 'अभिवातु' आभिमुख्येन वातु । किञ्च, तेन सुखभुवा वातेनानुद्वेजनीयेन स्पृश्यमानाः 'ऊर्जस्वतीः' प्रभूतरसाः 'ओषधीः' 'आरिशन्ताम्' आस्वादयन्तु । आस्वाद्यास्वाद्य च सलवणस्वामदमात्माभिमते काले उदकं 'पिबन्तु'। तच्च पीतमोषधिसहितमासां तथा कोष्ठे विपच्यतां रसशोणितमांसमेदोमज्जाऽस्थिक्रमेण यथैताः 'पीवस्वतीः' पीवस्वत्यः पीवगुणयुक्ताः स्थूला बलवत्योः बहुपयस्का भवेयुः । सति च बहुपयस्त्वे 'जीवधन्याः' 'जीवधनिन्यो रोग(३)दुष्टमातृकाः हे 'रुद्र !' वयम् एतासां गवाम् एताम् आशिषम् आशास्महे । त्वमप्यस्मै गोलक्षणाय 'अवसाय' पथ्यदनाय 'पद्वते' पादयुक्ताय 'मृल' सुखी भव । मैना हिंसीस्त्वमासामीश्वर इत्याभिप्रायः ॥

"अवसायाश्वानिति"। इदमपरमुदाहरणम् । अस्मिन् पूर्वेण रूपेण सरूपमेव पदमर्थकृतादविशेषादवगृह्णन्ति ॥ द्वयोः पदयोः बहूनांवा यदविच्छेदेनोच्चारणं स समासः । तयोरेवार्थप्रवि (४) भागोपदर्शनार्थमवच्छेदेनग्रहणमवग्रहः । तदेतदवगृह्यते पदम्—"स्यतिः" धातुः "विमोचने" अर्थे वर्तते, स पुनः "उपसृष्टः" उपसर्गेणावेत्यनेनोपसृष्टः संयुक्त इत्यर्थ । यतो धातूपसर्गविभागोपदर्शनार्थमेव तत् पदमवगृह्यते (५)अवसायेत्येतत् ॥

---

१ 'सूचरो नाम गीतमः' ॥ २ 'विनियोगः' ॥ ३ 'रोगदुष्टपातृकाः' 'रोगदुष्ट मातृकाः' ॥
४ 'र्थप्रति-भागोप' ॥ ५ 'वगृह्येत' ॥

"योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारितमा निषीद स्वानो नार्वा ।
विमुच्या वयोऽवसायाश्वान्दोषावस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे ॥

(ऋ० सं० १, ७, १८, १)" ।

एतया त्रिष्टुभा कुत्स आङ्गिरस इन्द्रं तुष्टाव । "योनिष्टे" हे "इन्द्र !" योनिः स्थानं 'ते' तव यदिदं 'निषदे' निषदनाय, मया 'अकारि' कृतम्, 'तं' योनिं तत स्थानम् 'आ निषीद' एत्य निश्चयेन सीद । कथं पुनर्निषीद ? 'स्वानो न' स्वन्यमान इव 'अर्वा' अश्वः । संशब्द्यमान इवाश्वबन्धने स यथा स्वे स्थाने निषीदेदेवं मया त्वमपि शब्द्यमानः स्तुतिभिरेतास्मिन् मया संस्कृते स्वास्तीर्णे बर्हिषि स्थाने निषीद । कथंपुनर्निषीद ? 'विमुच्य' एतान् 'वयःअश्वान्' । कुतः ? रथात् । पुनरपि च एतान् 'अवसाय' वियोज्य रश्मिभ्योऽश्वान् लब्धोदकयवसान् कृत्वा 'दोषावस्तोर्वहीयसः' अहनि च रात्रौ च ये केचिद् वहन्ति, तेभ्योऽपि वहीयसः शीघ्रतरेण जवेन वोढृतमान् ततस्त्वं स्वस्थो भूत्वा निषीद । एतस्मिन् योनौ, एतस्मिन् संस्कृते बर्हिषि 'प्रपित्वे' प्राप्ते अस्माकं त्वद्यजनकाले मा नो विघ्नं कार्षीरित्यभिप्रायः ॥ एवं तावदिदमवगृह्यमिदमनवगृह्यमित्यर्थपरिज्ञानद्वारेण "तस्मात्" एतन्निरुक्तशास्त्राद् विज्ञायते ।

१ । १७ । २ ॥

"दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम" इति-पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वाः कारान्तम् ॥

"परो निर्ऋत्या आचक्ष्व" इति । चतुर्थ्यर्थे प्रेक्षैकारान्तम् ॥३॥

यान्यपि च खल्वनवगृह्याणि पदानि समानसहितानि, तेषामप्यर्थकृतमेव विभागवैशेष्यं भवति । तद्यथा—"दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम-इति-पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा" अस्मिन् पदे निरुच्यमाने पञ्चम्यर्थदर्शनं वेत्यर्थः, पञ्चम्यर्थोऽत्र दृश्यते ? "षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा" षष्ठ्यर्थ-दर्शनं वेत्यर्थः, षष्ठ्यर्थोऽत्र दृश्यते ? अत एतत् "आःकारान्तम्" पदं निर्ऋत्या इति ।

"देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

(ऋ० सं० ८, ८, २३, १)" ।

प्रचेता नामाङ्गिरसः, तेनेयं कपोतसूक्ते दृष्टा । कपोतनिलयनशान्त्यै कपोतपदनिर्हरण एतत् सूक्तम् । त्रिष्टुबेषा ॥ हे 'देवाः !' 'कपोतः' 'इषितः' प्रेषितः 'निर्ऋत्याः' स्वभूत', तयैवानुप्रेषितः इत्येव षष्ठ्यर्थं । अथवा निर्ऋत्याः सकाशादित्येवं पञ्चम्यर्थः । 'दूतः' 'यत्' कर्तुम् 'इच्छन्' 'इदम्' अस्मद्गृहम् 'आजगाम' यस्य नः पापस्य च पापकर्मणो जन्मान्तर-कृतस्य एतत् कपोतगृहनिलयनं तत्पददर्शनं च कुड्यादिषु विपाकलिङ्गम् । 'तस्मै' कर्मणे तदर्थं युष्मानेव 'अर्चाम' । समर्था यूयमेतत् पापकर्म विपच्यमानमस्माकमपहर्तुं विपाकं वा कर्तुम् वयमपि च तस्मै पापाय कर्मणे 'कृणवाम' 'निष्कृतिम्' निष्क्रमणं निर्णेजनम्, तपसा

एतद्भूतानुरूपेण । यतो ब्रूमः—'शं नः' सुखं नः 'अस्तु' 'द्विपदे शं चतुष्पदे' युष्मत्प्रसादेन च स्वेन च तपसेत्यभिप्रायः ॥

"परो निर्ऋत्या आचक्ष्वेति" । एतस्मिन् पदे "चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा" चतुर्थ्यर्थदर्शनम् अत एतत् पदम् ""ऐकारान्तम्" ॥

"अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥
(ऋ० सं० ८ ८, २२, १)" ।

प्रचेता नाम आङ्गिरस एतामनुष्टुभमपश्यत् । दुःस्वप्नदर्शने विनियुक्ता । मन इति हि विज्ञानमुच्यते, बुद्ध्यादिः, तस्य पतिः मनसस्पतिरात्मा, इह पुनस्तु स्वप्नाभिमानी मनसस्पतिः । उभावपि स्वकृतकर्मापेक्षया प्राणिनां बुद्ध्यादिविज्ञानोपसंहारस्येशाते । तयोरन्यतरः सम्बोध्यते,—'मनसस्पते !' 'अपेहि' अपगच्छ । अस्मत्तो गत्वा च त्वमीषदपगत्य अस्मत्तः, समीप एव मा स्था अस्माकम् । किन्तर्हि ? 'अपक्राम' दूरमपेत्य क्राम । अपक्रम्य च 'परः' परतः, (१)अन्यत्रास्मत्तः 'चर' अपुनरावर्त्तमानोऽस्मान् प्रति । किञ्च 'पर' परागत्य, यस्याः त्वं दूतः निर्ऋत्याः, तस्यै 'निर्ऋत्यै' 'आचक्ष्व' । किमिति ? 'बहुधा जीवतः' मम 'मनः' । अथवा परः प्रकृष्ट आप्तस्त्वं तस्याः निर्ऋत्या दूतो मां प्राप्तः । अविज्ञानमरणकाल एवातिसम्मोहात् । अतो ब्रवीमि । तस्यै 'निर्ऋत्यै' गत्वा 'बहुधा' अनेकप्रकारम् 'आचक्ष्व' कथय । 'जीवतः' यादृशं मनः भवति, तादृशं मम 'मनः' बुद्ध्या (२) विकरणं ज्ञानं हि न करणस्पष्टवृत्ति न तावत् स मुमूर्षुरित्येतदाचक्ष्व । मुमूर्षोर्हि (३) उपक्षीणकर्मणो नातिस्पष्टा इन्द्रियवृत्तयो भवन्ति, न च मम तथेत्यभिप्रायः । एवं समानसंहितानामपि पदानामर्थभेदकृतं विभागं दर्शयन्त्र । न चार्थ इदमन्तरेण न विज्ञायते । अत इदमुक्तम्—'अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते' इति ॥ १ । १७ । ३ ॥

"परः सन्निकर्षः संहिता" "पदप्रकृतिः संहिता" ।
"पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि" ॥ ४ ॥

पदविभागप्रसक्तमधुना संहितालक्षणमाह—"परः संनिकर्षः संहिता (पा० १, ४, १०९)"—इति । परः प्रकृष्टो यः सन्निकर्षः संश्लेषः, परस्परेण स्वराणां स्वराविच्छिन्नानां च व्यञ्जनानां सा संहितेत्युच्यते । सा च पुनरियं "पदप्रकृतिः संहिता (ऋ० प्रातिशा० २, १)" ॥ अत्र द्विधा वर्णयन्ति—पदानां या प्रकृतिः, सेव पदप्रकृतिः संहिता । किं कारणम् ? तस्मिन्नेतो ह पदानि प्रक्रियन्ते, तस्मात् संहितैव प्रकृतिः, विकारः पदानीत्येवमेके मन्यन्ते । अपरे पुनः, पदप्रकृतिः संहितेति पदानि प्रकृतिर्यस्याः सेयं पदप्रकृतिरिति । किं कारणम् ? पदान्येव हि संहन्यमानानि संहिता भवति, तस्मात् पदान्येव प्रकृतिः, विकारः संहितेति ॥ (निरुक्त उपोद्घात ।)

---

(१) 'अन्यतोऽस्मत्तः' ॥ २ 'बुद्धियादिकरणज्ञानादिनकरूकिरणस्पष्टवृत्तित्वेन तावत्' इति मुद्रितपाठः । तदविचारितरमणीयम् ॥ ३ 'मुमुर्षो' ॥

एवं च कृत्वा " पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि " । सर्वेषां चरणानां शाखान्तराणामित्यर्थः । किम् ? पार्षदानि स्वचरणपर्षद्येव यैः प्रतिशाखानियनमेव पदावग्रहप्रगृह्यक्रमसंहितास्वरलक्षणमुच्यते, तानीमानि पार्षदानि प्रातिशाख्यानीत्यर्थः । आह—किं तेषाम् इति ? उच्यते—तानि पदप्रकृतीनि । पद येषु संहितायाः प्रकृतित्वेन चिन्त्यते, तानीमानि पदप्रकृतीनि । तेषामपि स एव समय इत्यभिप्रायः ॥

आह—किं पुनरत्र साधीयः—पदानां प्रकृतित्वम् , संहिताया विकारत्वम् ? (१) उत वा विकारत्वं पदानाम्, प्रकृतित्वं संहिताया इति ? उच्यते—संहितायाः प्रकृतित्वं ज्यायः ।

आह – किं कारणम् ? उच्यते— मन्त्रो ह्यभिव्यज्यमानः पूर्वस्मृपैर्मन्त्रदृशः संहितयैवाभिव्यज्यते, न पदैः, अतश्च संहितामेव पूर्वमध्यापयन्त्यनूचाना ब्राह्मणाः, अधीयते चाध्येतारः ॥ अपि च यज्ञकर्मणि संहितयैव विनियुज्यन्ते मन्त्रा न पदैः । यदि हि पदानि प्रकृतिरभविष्यत, न संहिता, पदैरेव मन्त्रोऽभिव्यज्येत पदान्येव च पूर्वमध्यापयिष्यन् ब्राह्मणा अध्यैष्यन्त चाध्येतार । पदैरेव विनियोक्ष्यन्त मन्त्राः कर्मसु । न त्वेतत् सर्वमस्ति । तस्मादेतैर्विशेषहेतुभिः संहितैव प्रकृतिर्न पदानीति पश्याम ॥ समयमात्रमितरत् स्वशास्त्रनियतमेव । यदुक्तं "पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' ॥ तेष्वेव हि व्याख्यायमानेषु पदानां प्रकृतित्वं भवति, न सर्वत्रैव । तस्मात् संहितैव प्रकृतिरित्येतदेव (२) साधीय इति ॥ १ । १७ । ४ ॥

२३३–अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति तदेतेनोपेक्षितव्यम् ॥ ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति, "इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुम्पृणन्ति" इति वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गञ्चाग्नेये मन्त्रे "अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व" इति तथाऽग्निर्मान्यवे मन्त्रे । त्विषितो ज्वलितः । त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति ॥ ५॥१७ ॥

"अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति" । अथेदमपरमारम्भप्रयोजनमस्य शास्त्रस्येत्येवं विशेषाधिकार्थोऽयमथशब्दः । अपीदं वक्ष्यमाणमपि यान्युक्तानीत्येवमपिशब्दः सम्भावने । आह—किं पुनस्तत् इति? उच्यते—याज्ञे कर्मणि प्रवर्त्तमाने दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, दैवतेन लिङ्गेन बहवो(३)विधिप्रदेशा भवन्ति । तद्यथा—"उपतिष्ठते द्युच्छन्त्यामैन्द्रया सदः, आग्नेय्याग्नीध्रं वैष्णव्या हविर्धानम्" इत्येवमादि । न्यायविदः खल्वपि याज्ञिकाः । पठन्ति,—लिङ्गतो मन्त्राणां शेषभावमधिकृत्य, "लिङ्गक्रमसमाख्यानात् काम्ययुक्तं समाम्नानम्" इत्यधिकारे, (४) "मन्त्रविधिस्तदाख्येयेषु विशिष्टत्वात्" इति चैवमादि ।

तत्रैवं सति "ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति' । ते यद्यत्र ब्रुयुः । किमिति ?

---

१ 'अथवा ।। २ 'स्येतदसाधाय ३' ॥
३ 'धिपु दे' ॥ ४ 'दाख्येपु विशि ॥

लिङ्गज्ञाः लिङ्गज्ञातारो वयमत्र एतस्मिन्नाम्नाये। लिङ्गतो वयमत्र या यस्मिन् देवता तां तत्र विजानीमः। विज्ञाय च तद्दैवत एव कर्मणि विनियुञ्ज्महे तं मन्त्रम्। एवं च सति न नो निरुक्तशास्त्रेण प्रयोजनमस्तीति लिङ्गमस्माकं ज्ञापकमिति केचिद् वर्णयन्ति॥

न एवं ब्रुवन्तो वक्तव्याः,—यदि यूयं लिङ्गतो मन्त्रदेवतां विजानीध्वे, तर्हि "इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति (ऋ० सं० ४, ५, ६, २)" इत्येतस्मिन् मन्त्रे का देवता? इति॥

आह—केन पुनरभिप्रायेणास्मिन् मन्त्रे देवता पृच्छ्यते? इति। उच्यते—'वायुलिङ्गं चैन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे'। अथ तावदयमाग्नेयो मन्त्रः, अथ च तावदेतस्मिन् मन्त्रे इन्द्रवायू अपि श्रूयेते, तदेतद् दुष्परिज्ञानं लिङ्गमात्रेण कतमदत्र प्रधानं देवताभिधानम्? कतमदत्र नैघण्टुकम्? इति। ते चेद् याज्ञिका लिङ्गमात्रान्निरुक्तमुपेक्ष्य मन्त्रान् कर्मसु विनियुञ्जीरन्, गुणप्रधानभावमजानन्तो देवताभिधानानामेकमन्त्रगतानामन्यदेवतमन्त्रमन्यदेवते कर्मणि विनियुञ्जीरन्, ततश्चायथाकरणात् कर्मासमृद्धिः स्यात। न च केवलं कर्मासमृद्धिरेव, किं तर्हि? अपध्वंसोऽपि स्यादेव दुरिष्टहेतुकः। तस्मात् परिज्ञेयं निरुक्तम्। तेन हि गुणप्रधानभावः शक्यते विज्ञातुमेकमन्त्रगतानां देवताभिधानानामिति तदेतदेवं देवतापरिज्ञानद्वारेण पुरुषस्य प्रति विशिष्टोपकारकारि। तस्माद् युज्यते प्रारब्धुमिति॥

"त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः॥
(ऋ० सं० ४, ५, ६, २)"।

बार्हस्पत्यस्य भरद्वाजस्यार्षम्। आग्नेयी। प्रातरनुवाकादिवनयोर्विनियोगः। हे 'अग्ने!' 'त्वां हि' त्वामेव 'मन्द्रतमं' मुदितमं सुखाराध्यतमम्, त्वं हि देवेषु सर्वेषु मृदुहृदयतमो यतः, अतस्त्वामेव 'ववृमहे' सम्भजामहे। केन? 'अर्कशोकैः'। एकपदमेतत्। अर्चनैर्मन्त्रैः शोकैर्दीप्तैः यथोक्तब्रह्मचर्य्यजनितवीर्य्यैः। अतस्त्वं भज्यमानः तैः मन्त्रैः संसेव्यमानः 'नः' अस्माकं 'महि' महत् स्तोत्रं तैरेव मन्त्रैर्युष्मद्गुणानुस्मृतिसन्तानगर्भैरुपग्रथितं 'श्रोषि' शृणु। किंच, एवं त्वं महती देवता, येन 'त्वा' त्वामेवैकं 'देवता' अपि सर्वाः 'इन्द्रं न' इन्द्रमिव च 'वायुम्' इव च 'शवसा' बलेन बलवतीभिः स्तुतिभिः अभ्यर्च्चयन्ति। किं पुनः स्वैः कर्मभिः? येऽपि च केचिदन्ये (१) त्रिलोके नृणां मध्ये बलधनश्रुतः 'नृतमाः' तेऽपि च त्वामेव 'पृणन्ति' पालयन्ति पूरयन्ति वा। 'राधसा' हविर्लक्षणेन धनेन। एवं सदेवमनुष्यस्य जगतः पूज्यस्त्वं न केवलमस्माकमिति॥

एवमयमाग्नेयो मन्त्रः, स एव लिङ्गमात्रदर्शनेनाविज्ञातप्रधानदेवतो विनियुज्यमान ऐन्द्रे वायव्ये वा कर्मणि कर्त्तुरभिप्रेतफलसिद्धये नालं स्यात्, कर्मवैगुण्याच्च कर्त्तुरपध्वंसाय स्यात्। तस्माद् विज्ञेयं मन्त्रदेवतानिश्चयज्ञानाय निरुक्तमिति॥

---

१ 'नृलोके'॥

"अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो विमृधो नुदस्व ॥

(ऋ०सं० ८, ३, १९, २)" इति ॥

यथा पूर्वस्मिन्नाग्नेये वायुलिङ्गमिन्द्रलिङ्गं च, " तथा " एतस्मिन्नपि " मान्यवे मन्त्रे " "अग्निः" अग्निलिङ्ग नैघण्टुकम्। एवमनेकदेवतालिङ्गसन्देहेषु दुरवधारं देवतातत्त्वमनेनैरुक्तेनाप्रसिद्धमन्त्रव्याख्यानसमयेन ॥

यदुक्तम्—लिङ्गज्ञातारो वयमत्र लिङ्गत एव मन्त्रान् कर्मसु विनियोक्ष्यामहे, न नो निरुक्तेन प्रयोजनमस्ति—इति एतदयुक्तमिति । " त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति " अपठितमपि दीप्तिनामसु न केवलं यान्येव पठितानि, अन्यान्यपीति ॥ १ । १७ । ५ ॥

अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति, अज्ञाननिन्दा च—
स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥"
"यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।"
स्थाणुस्तिष्ठतेः ॥ अर्थोऽर्त्तेररणस्थो वा ॥ १ ॥ १८ ॥

"अथापि" इदमपरमारम्भप्रयोजनमस्य । आह—किम् इति ? उच्यते—"ज्ञानप्रशंसाभवत्यज्ञाननिन्दा च" ज्ञानं च प्रशस्यते, अज्ञान च निन्द्यते । तत्रैवं सति (१) वयमनिन्द्याः स्याम प्रशस्याश्चेति परिज्ञेयं निरुक्तम् । अतो हि आध्यात्माधिदैवताधियज्ञाभिधायिनो मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते, ते च परिज्ञाताः सन्तः पुरुषस्योत्तमाय श्रेयसे भवन्ति । तदेवमखिलपुरुषार्थोपकारसमर्थशास्त्रमिति न्याय्यमारब्धुम् ॥ *पुनर्ज्ञानं प्रशस्यतेऽज्ञानं च निन्द्यते ? इति । उच्यते—लोके, शास्त्रे च । लोके तावद् यः कश्चिद् विद्वान् भवति, स पूज्यते पुण्यफलेप्सिभिर्जनैः, तदेतत् प्रत्यक्षत एव दृष्टम् । शास्त्रेऽपि* " स्थाणुरयं भारहारः "—इत्यादि । स्थाणुर्वृक्षः, स यथा पत्रपुष्पफलानामात्मीयानां धारणमात्रेणैव सम्बध्यते,—न तज्जैर्गन्धरसरूपस्पर्शोपभोगसुखैः । एवञ्च " किल " असौ " अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् " तस्य वेदस्याध्ययनभारमात्रमेव ह्यसौ बिभर्ति । " योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते " य एवार्थज्ञो भवति न ग्रन्थमात्राध्येता, स एव सकलमनवखण्डितभद्रम् अश्नुते, अर्थपरिज्ञानफलमश्नुते प्राप्नोति । किं पुनस्तत् ? इह लोके पूज्यतामुपेत्य शिष्टानाम्, इतो लोकादन्तकाले "नाकमेति" यत्रासुख किञ्चिदपि नास्ति, आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं वा, [(२)"क-

---

(१) वय कथ नामानिन्द्या.' ॥ * इतोऽत्रे—इति निरुक्तव्याख्यायां सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥ यत्पुनर्ज्ञानं … भ्मते तद 'अथापि' इत्यतः प्रागेव समुचितम् । (२) अय कोष्ठकान्तर्गतः पाठो लिखितपुस्तके नोपलभ्यते ॥

मिति सुखनाम, तत् प्रतिषिद्धं अनितिपिध्येत 'न वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्च नाकम् ।' न वा अमुं लोकं गतवते किञ्च नासुखम् । पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति"—इति नैघ० का० अ० २, ख० १४, । तत् स्थानमेति निरतिशयम् । कस्मात् पुनरस्माविदं स्थानमेति इति ? उच्यते—इतः—यस्मादसौ " ज्ञानविधूतपाप्मा " श्रे ति नाकगमनप्रतिनिधिनः पाप्मानः, ते तस्य ज्ञानेन विधूताः, अतोऽसावेत नाकम् । उक्तंचान्यत्रापि—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति ।

अथवा (१) स्थाणुरयं भारहारः । स यथा चन्दनभारं वहत्येवं न तदुपभोगेनाभिसम्बध्यते, एवं किलासौ यो ग्रन्थमात्राध्येता नार्थज्ञः । एवं तावदस्मिन्ज्ञानं प्रशस्तम् ॥

अथैतस्मिन् अज्ञानं निन्द्यते,—" यद् गृहीतमविज्ञातम् "—इति । यद् गृहीतं गुरुमुखात् अविज्ञात चार्थतः । किञ्च "निगदेनैव शब्द्यते" निगदमात्रेणैव नित्यकालं शब्द्यते उच्चार्य्यते न पुनरर्थतो विचार्य्यते । आह—किं तस्य ? उच्यते— "अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्" । शुष्कं काष्ठमनग्नौ प्रक्षिप्तं नालं ज्वलनाय प्रकाशाय । एव यो वेदार्थस्यानभिज्ञोऽध्येता स वेदाध्ययनभारमात्रेणैव मग्न यते, न तु तदर्थेन फलेन, परिज्ञानं तु श्रेयसा चाभ्युदयेन च युनक्तीति । तस्मादेतत्परिज्ञानाय अध्येयं निरुक्तशास्त्रमारब्धव्यमिति ॥

स्थाणुशब्दमर्थशब्द च उदाहरणप्रसक्तौनिर्वक्ति, ॥ " स्थाणुस्तिष्ठतेः " स्थितो ह्यसौ नित्यकालमेव भवति, न कदाचिदप्यासीतेति ॥ " अर्थोऽर्त्तेः " गतिकर्मणः, अर्य्यते ह्यसवर्थिभिः । " अरणस्थो वा " यदास्य स्वामी (२) अरति गच्छति इतो लोकादमुं लोकं तदायमिहैव तिष्ठति, नानेनैव सहामुं लोकं गच्छति दीनारादिरर्थः, तत्सामान्यादितरोऽपि शब्दार्थोऽर्थ उच्यते ॥

एवं तावत् शिष्टानुगमस्मृतौ ज्ञानं प्रशस्यते अज्ञानं च निन्द्यते ॥ १ । १८ । १ ॥

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥"

अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम् । अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनामित्यविद्वांसमाहार्धम् ॥ अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति स्वमात्मानं विवृणुते । ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचोपमोत्तमया वाचा । जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतु-

(१) एतमेवार्थं गृहीत्वोक्तं सुश्रुते सूत्रस्थाने चतुर्थं प्रभापणीयाध्याये—
'यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्यवेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥ २ ॥" इति ।
(२) 'ऋच्छति' इति तूचितम् ॥

कालेषु ॥ सुवासाः कल्याणवासाः ॥ कामयाना ऋतुकालेषु । यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा ॥१॥१६॥

न केवलं स्मृतावेव ज्ञानप्रशंसा अज्ञाननिन्दा च । किं तर्हि ? (क) वेदेऽपि "उत त्वः पश्यन् (ऋ० सं० ८, २, २३, ४)"–इति । विद्यासूक्ते द्वे अप्येते ऋचौ बृहस्पतेरार्षम् ।

"उत" शब्दोऽपिशब्देन समानार्थः । "त्व." एक इत्यर्थः । बहूनामपि समानपृष्ठोदरपाणिपादानां समानमेवाध्ययनमधीयानानाम् एकः कश्चित् "पश्यन्" अपि "वाचं" मनसा स्वभ्यस्ताध्ययनोऽपि तीक्ष्णधियः सन् "न ददर्श" न पश्यत्येव, अर्थानभिज्ञत्वात् । स हि तां सम्यक् पश्यति, यस्तस्या अर्थं विजानाति । अर्थपरिज्ञानफला हि वागित्यभिप्राय. । एवमेकः "शृण्वन्" अपि "न शृणोति" "एनां" वाचम् । य एव हि अर्थमवबुध्यते वाचः, तेनैव हि सा सम्यक् श्रुता भवति, नेतरेण, इतरो ह्यविद्वान् ध्वनिमात्रमेवोच्चारयति न श्रृणोति वाचम् । एवम् "अर्धम्" अनेनार्द्धर्चेन "अविद्वांसमाह" निन्दन् मन्त्रदृक् । साम्प्रतमुत्तरेणार्द्धर्चेनार्थज्ञप्रशंसमाह—"उतो त्वस्मै" "अप्येकस्मै" कस्मैचिदर्थज्ञाय "तन्वं" शरीरं "विसस्रे" विस्रंसयति विवृणोतीत्यर्थः । अर्थो वाचः शरीरं त विवृ (१) णोति ॥ आत्मानं दर्शय(२ त्येक कस्मैचिदर्थज्ञाय " प्रकाशनमर्थस्याज्ञानया वाचा " अनेन तृतीयेन पादेनेत्यर्थः ॥ (३)कथं तर्हि विवृणुते तन्वम् ? इति (४) अतः—"उपमोत्तमया वाचा" उत्तमेन पादेनोच्यते—" जायेव पत्य उशती सुवासाः " –इत्यनेन । यथा हि जाया विवृतसर्वाङ्गावयवा भूत्वा उशती " कामयमाना " पत्ये इष्टाय भर्त्रे प्रेम्णा दर्शयेदात्मानम् । कस्मिन् काले ? यदा सुवासाः भवति, निर्णिक्तवासा भवति । निर्णिक्तवासा नीरजस्का " ऋतुकालेषु " तदा ह्यतितरां स्त्री पुरुष प्रार्थयते । अत एतयावस्थयोपमीयते । " यथा सः " पुरुषस्ताम् " एनां " यथावत् " पश्यति " स्त्रियम्, नेतरां या घनपटप्रावृतसर्वगात्रा । एवं " सः " एव एनां वाचं यथावत् " (५) शृणोतीति " । यः पदशोऽवच्छिद्यैतां विगृह्य वार्थमस्या. पश्यति समस्तव्यस्तम् । एवमस्यामृचीयम् "अर्थज्ञप्रशंसा:" ॥ १ । १६ । १ ॥

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

"उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥"

अप्येकं वाक् सख्ये स्थिरपीतमाहू रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये रमणीये स्थान इति वा विज्ञातार्थं यन्नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु

* इतोऽग्रे—इति निरुक्तव्याख्यायां प्रथम (षष्ठा)ध्यायेऽष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥' इत्युपलभ्यते परं तु 'न केवलम्' इत्यतः प्रागुचितम् ॥

(१) 'विवृत्य आ' ॥ (२) 'यति–कस्मै' ॥ (३) 'कथ पुनर्वि' ॥ (४) 'यतः' ॥ (५) 'पश्यति' ।

बलवत्स्वपि। अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया नास्मै कामान्दुग्धे वाग्दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग् भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा ॥ १ ॥

अपीयमपरा ऋक् अस्या एव "उत्तरा" "तस्य" अस्यैवार्थस्य प्रकृतस्य ज्ञानप्रशंसाख्यस्य फलाभिधानद्वारेण "भूयसे" बहुतराय अनुमा फलेनाभिसम्बन्धात् प्रतिविशिष्टज्ञानमित्येवं "निर्वचनाय" निर्विविच्य निर्धार्य वचनं कथनं निर्वचनम्, तस्मै निर्वचनाय।

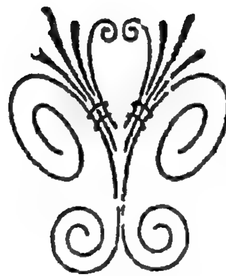
तद्यथा—* "उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः (ऋ० सं० ८, ७, २४, ४)"—इति। "अप्येकम्" अपि बहून् विदुषः 'सख्ये' सन्निभावे, कतरस्मिन् "देवसख्ये" देवानां समानस्थानतायां देवसायुज्ये इत्यर्थः। वक्ष्यति हि,—"यां यां देवतां निराह, तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति (अ० १२, ख० १३)"—इति। अथवा, देवसख्ये रमणीये स्थाने। यस्मिन् देवानां सन्निभावः, तद्देवसख्यं स्थानम्, तस्मिन् देवसख्ये रमणीये स्थाने, देवलोक इत्यर्थः। किम्? इति, "स्थिरम्" (१) अविचालिनम् अप्रच्यवनधर्माणम्। कमेवमाहुः? "विपीतार्थम्" आपीतार्थं गृहीतार्थमित्यर्थः। क एवमाह? इयमेव "वाक्" (२) ऋक्संज्ञिका। किञ्च, "नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु"। एनं वागर्थज्ञं न हिन्वन्ति नानुगन्तु शक्नुवन्ति। केषु? वाजिनेषु "वाग्ज्ञेयेषु" अर्थेषु "बलवत्सु" "अपि" दुर्ज्ञेयेषु दुरवबटनीयेषु, समुद्रपिहितरत्नसन्निभेषु देवतापरिज्ञानादिषु व्याकर्त्तव्येषु। स हि तान् व्याकर्तुं शक्नोति, नेतरे मन्दबुद्धयो बहवोऽपि समागताः शक्नुवन्ति तानर्थान् व्याकर्तुम्, यानसौ व्याकरोति। अत एतदुक्तम् — नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु—इति। अपि एवं तावदर्थज्ञः प्रशस्तः ॥

अथेदानीमविद्वांसमुत्तरेणार्द्धर्चेन निन्दन्ते - "अधेन्वा चरति" "अधेन्वा हि एष चरति" न हि सा वाक् पिनोतीह न परत्र च, यस्या अर्थो न परिज्ञायते। तया गृहीतयैव तामधीयान इतश्चेतश्चरति, तत्प्रधान एव सर्वतः पर्यटतीत्यभिप्रायः। किञ्च, "माययैष" चरति गृहीतया यथा हि कश्चिन्मायया सुवर्णं बिभृयात, एवमयं "(३) वाचम्" एव एतां बिभर्त्ति। सा तादृशी ध्रियमाणा "वाक्" किं करोति? "नास्मै कामान् दुग्धे?" कतमान्? "दोह्यान्" ये तस्या वाचो दोग्धव्याः। क्व? "देवमनुष्यस्थानेषु" देवतास्थानेषु मनुष्यस्थानेषु च। "यः" किं करोति? य एवं "शुश्रुवान्" "श्रुतवान् भवति"। कथम्? "अफलामपुष्पामिति" एवं यः श्रुतवान् भवति अन्येभ्यः सकाशात्, श्रुत्वा च दृढग्राहेण गृहीत्वावस्थितो भवति, अध्ययनादृते नान्यदस्ति वाचि किञ्चित् मृग्यमिति ॥ तस्मै

* इतोग्रे—'इति निरुक्तव्याख्यायां प्रथमा(षष्ठा) ध्याय एकान्नविंशः खण्डः ॥१९॥' इत्येवमुपलभ्यते तत् 'अपीयमपरा' इत्यग्रः प्राग्युचितम् ॥ (१)'अविचालितम्' ॥ (२, ऋक्संहिता' ॥ (३) अचावमेताम्'।

किम् ? इति " अफलैवास्मा अपुष्पा " च " वाग् भवतीति " । यथैव इसौ पश्यति अफलेयमपुष्पा चेति तथैव भवतीत्यभिप्रायः । अथ " वा " " किञ्चित्पुष्पफलेति वा " । एतदुक्तं भवति—अल्पफलामल्पपुष्पामिति । किं कारणम् ? अस्ति ह्यध्ययनमात्रेऽपि किञ्चिदल्प फलम्, नासौ परिश्रमो व्यर्थ एवेति भाष्यकाराभिप्रायः ॥ आह—किं पुनर्वाचः पुष्पफलम् ? इति । उच्यते—" अर्थं वाचः पुष्पफलमाह " एतस्मिन् मन्त्रे मन्त्रदृगाहः पुनरसावर्थः ? इति । याज्ञ दैवतमध्यात्ममित्येषं वाचः समासतोऽर्थः । स पुनरेष रूपककल्पनया पुष्पफलवि-भागेन द्विधा प्रविभज्यते,—" याज्ञदैवते " " पुष्पफले " " देवताध्यात्मे वा " इति । यज्ञपरिज्ञानं याज्ञम् देवतापरिज्ञानं दैवतम्, आत्मन्यधि यद् वर्त्तते तदध्यात्मम् । स एष सर्वोऽपि मन्त्रब्राह्मणराशिरेवं त्रेधा विभक्तः । तत्रैवं सति,—यदा अभ्युदयलक्षणो धर्मोऽभि-प्रेयते, तदा याज्ञं पुष्पं दैवतं फलम् । किं कारणम् ? पूर्वं हि पुष्पं भवति फलार्थम्, याज्ञमपि च । पूर्वं तन्यते दैवतार्थम् इत्येतस्मात् सामान्याद् याज्ञं पुष्पम्, दैवतं फलम् । यदा पुनर्निः श्रेयसलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते, तदोभे (१)अपि याज्ञदैवते पुष्पत्वमेव बिभृतः । दैवतं हि याज्ञमन्त-र्भूतमेव तदर्थत्वात्, अतो न पृथगुच्यते । यत्पुनरेतदधिदैवतं सर्वमपि प्रतिविशिष्टज्ञानेनोपासकेन मुमुक्षुणा निरूप्य चेतसा आत्मानमेव प्रत्यभिसम्पाद्यते कार्यकारणाधिदैवताद्वारेण, सोऽयमेवम-धिदैवतमधियज्ञं चोच्छ्रियाध्यात्ममेवाभिसम्पादयति, यथा पुष्पभावमुच्छ्रिय पुष्पं फलभावायेति । एवं सोऽयमात्मयाजयेवाभिसपद्यते । तत्रैव सति—अध्यात्मार्थत्वादधिदैवतस्य, अध्यात्मस्य च पुरुषार्थस्य निष्पन्नत्वात्, दैवतं पुष्पम्, अध्यात्मं फलमित्येवमुक्तम् ॥ १ । २० । १ ॥

(नि० अ० १ ख० १५, १६, १७, १८, १९, २०)



(१) एव ॥

२३४-कालसूक्तम् ।

"कालो अश्वो वहति" इति सूक्तद्वियस्य सौवर्णभूमिदाने आज्यहोमे विनियोगः । उक्तं हि परिशिष्टे । "अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्त पुरुषसूक्तम्" इति [प० १०, १] कालप्रतिपादकत्वात् कालसूक्तम् उच्यते ॥

अ० सं० १९ । ५३ । १ ।

कालसूक्तम्

तत्र प्रथमा

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।

तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ १ ॥

(अ० सं० १९, ५३, १) । पृ० ५०४ ।

कालः । अश्वः । वहति । सप्तऽरश्मिः सहस्रऽअक्षः । अजरः । भूरिऽरेताः । तम् । आ । रोहन्ति । कवयः । विपःऽचितः । तस्य । चक्रा । भुवनानि । विश्वा ॥ १ ॥

अ(१)नेन सूक्तद्वयेन सर्वजगत्कारणभूतः कालरूपः परमात्मना स्तूयते । तत्र प्रथमया कालोऽश्वात्मना रूप्यते । सप्तरश्मिः [सप्त] संख्याका रश्मयोरज्जवो मुखग्रीवापादाव(२)बद्धा यस्य सः सहस्राक्षः सहस्रलोचनः अजरः जरारहितः नित्ययुवा भूरिरेताः । रेतः शुक्र(३)रूप सप्तमोधातुः । प्रभूतवीर्यः रेतः सेचनसमर्थः अपत्योत्पादनशक्तः कालः कालपिता अश्वो वहति स्वा(४)रोहकान् अभिमतं प्रदेशं प्रापयति । तम् अश्वं विपश्चितः अश्वारोहणाचसरोहणादिषु कुशला अश्वशास्त्रनिष्णाताः कवयो धीमन्तः आरोहन्ति । तस्य अश्वस्य चक्रा चक्राणि । चङ्क्रमणाच्च क्रम् इति यास्कः [नि० ४, २७] । गन्तव्यानि स्थानानि विश्वा विश्वानि भुवनानि । इति अश्वप(५)क्षेर्थः ।

विपश्चितस्तु । अश्वः अश्नुते व्याप्नोति भूतभविष्यद्वर्तमानकाणवर्तीनि वस्तूनीति । अश्वः । कालः कलयिता सर्वस्य जगतः अनवच्छिन्नकालरूपः परमेश्वरः । सप्तरश्मिः । रश्मिशब्देन ऋतव उच्यन्ते । सप्तर्तुः एकैक ऋतुर्मासद्वयात्मकः सप्तमस्तु त्रयोदशो मासः । तथा च दाशतय्याम् आम्नायते । "साकंजानां सप्तथम् आहुरेकजं षळियमा ऋषयो देवजा इति" [ऋ० १, १६४, १५] । अत्रापि समाम्नातं प्राक् [९, १४, १६] । सहस्राक्षः । अत्र अक्षिशब्देन दिनानि रात्रयश्च उच्यन्ते सहस्रसंख्याकाहोरात्रयुक्तः । अजरः जरारहितः सर्वदा एकरूप । भूरि-

(१) अस्मिन्-अनेन । (२) पादावद्धा ।
(३) शुक्ल । (४) स्वारोहकान् । (५) अश्वपक्षेर्थः ।

रेताः प्रभूतजगत्सर्जनसमर्थशक्तिसंपन्नः। एवंरूप. कालो वहति प्राणिजातं स्वस्व-कर्मसु प्रापयति। तं कालं कवयः क्रान्तदर्शिनो विपश्चितः विद्वांसः आ रोहन्ति स्वाधीनं कुर्वन्ति। स्वाधीनकाला भवन्तीत्यर्थः। तस्य कालात्मकस्य रथस्य चक्रा चक्राणि विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतजातानि। लोकान् अभिगच्छन्तीति शेषः। अथ वा अश्वशब्देन आदित्य उच्यते। तथा च यास्कः। "एको अश्वो वहति सप्त-नामा। आदित्यः(१) सप्तास्मै(१) रश्मयो रसान् अभिसंनामयन्ति सप्तैनम् ऋषय स्तु-वन्तीति वा" इति [नि० ४, २७]। कालात्मकोश्व. सूर्यः सप्त रश्मयः प्रधानभूता यस्य। ते चैव सप्त सूर्या इत्युच्यंते। "देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष नः" इति निगमः [ऋ० ६, ११४, ३]। तेषां च नामानि तैत्तिरीया अधीयते। "आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः(२) स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः" इति [तै० आ० १. ७. १]। असौ तु प्रधानभूतः(३) कश्यपाख्य(३) आदित्यः। "कश्यपोष्टमः स महामेरुं न जहाति" इति श्रुतेः [तै० आ० १. ७. १]। यद्वा रश्मिशब्देन छन्दां-स्यभिधीयन्ते। गायत्र्यादीनि छन्दांसि यस्य। तथा च निगमः। "ऋग्भि पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अन्हः। सामवेदेनास्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति(४) सूर्यः" इति [तै०ब्रा० ३ १२, ६, १]। यद्वा रश्मिमन्तोऽश्वा रश्मिशब्देन उच्यन्ते। X मत्वर्थीयस्य लोपः X। सप्ताश्वः। "सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम्" इति निगमः [६. १४. २]। सहस्राक्षः अक्षिवद् अक्षीणि किरणाः सहस्रकिरणोपेतः अजरः अविनश्वरो नित्यः भूरिरेताः। उदकवाची रेतः शब्दः। "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" इति श्रुति [तै० सं० २. ४. १०. २]। एवंरूप आदित्यो वहति कालचक्रं धारयति। तं कालात्मकं सूर्यं विद्वांसः अधिगतपरमार्थाः आ रोहन्ति सूर्यमण्डलं भित्वा उप-गच्छन्ति।

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
> परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

इति स्मृतेः। यद्वा स्वात्मभावेन अधितिष्ठन्ति। अत एव आदित्यं पुरुषं प्रकृत्य श्रूयते। "तद् योहं सोसौ योसौ सोहं तद् उक्तम् ऋषिणा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इति [ऐ० आ० २. २. ४]। तस्य सूर्यस्य चक्रा चक्राणि चङ्क्रमणानि व्याप्तिस्थानानि सर्वाणि जगन्तीति॥ (सा० आ० भा०)।

---

(१) सप्तादित्यस्य रश्मयो FOR सप्तास्मै रश्मयो (२) पतंगाः।
(३) कश्यपस्या आदित्यः। (४) शून्यः। (सा० आ० भा०)।

॥ द्वितीया ॥

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतंन्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवना(१)न्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥२॥
(अ० सं० १६, ५३, २)

सप्त । चक्रान् । वहति । कालः । एषः । सप्त । अस्य । नाभीः ।
अमृतम् । नु । अक्षः ।
सः । इमा । विश्वा । भुवनानि । (२)अञ्जत् । कालः । सः । ईयते ।
प्रथमः । नु । देवः ॥ २ ॥

अनया संवत्सररूपकालचक्रं वर्ण्यते । तस्य संवत्सरकालस्य चक्राणि एकं त्रीणि पञ्च षट् सप्त द्वादशेति तत्रतत्र आम्नायते । "सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम्" [६, १४, २] "त्रिनाभि चक्रम्" [६, १४, २] "सप्तचक्रे षडरे" [६, १४, १२] "द्वादशारम्" [६, १४, १३] इत्यादिषु । तथा च शौनकोप्याह ।

त्रिधा द्वादशधा षोढा पञ्चधा सप्तधा तथा ।
संवत्सरं चक्रवच्च पराभिः कीर्तयत्यृषिः ।

इति [वृ० ४, ३२] ॥ एष सर्वजगत्कारणत्वेन अनुभूयमानः कालः परमात्मा सप्त चक्रा चक्राणि सप्त ऋतून् (३)अनु अनुक्रमेण वहति धारयति। अस्य संवत्सरस्य (४) सप्त नाभीः नाभयः। नह्यते नाभिः। अक्षबन्धकानि मध्यच्छिद्राणि सप्त ऋतुसंधिकालाः। अस्य अक्षः (५) तनु सततं सूक्ष्मम् अमृतम् अमरणधर्मकम् अविनश्वरं तत्त्वम् । सप्तचक्रच्छिद्रेषु प्रोतः (६) अनुस्यूतोऽक्षः सत्यम् अबाध्यं तत्त्वम् । सः पूर्वोक्तसंवत्सररूपः प्रथमः सर्वस्य आदिभूतो देवः द्योतमानः नित्यज्ञानरूपः कालः परमात्मा इमा इमानि नामरूपात्मना व्याकृतानि विश्वा विश्वानि भुवनानि भवनवन्ति चराचरात्मकानि जगन्ति अञ्जत् अञ्जन् । X अनक्तेः शतरि "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः X । व्यक्तीकुर्वन् स्वेन कालेन अवच्छिन्नानि कुर्वन् उत्पादयन् सः स्यति संहरतीति सः । X षो अन्तकर्मणि । कर्तरि कप्रत्ययः । आतो लोपः X । संहरश्च ईयते गच्छति व्याप्नोति सर्वम् आवृत्य वर्तते । X ईङ् गतौ । दैवादिकः X । (७) नुशब्दः प्रसिद्धौ ॥ यद्वा अध्यात्मपरत्वेन योज्यः । कालः कलयिता सर्वेन्द्रियव्यापारकर्ता शरीराभिमानी देवः । बन्धकाः विषया रूपादयः । तनु सूक्ष्मं दुर्दर्शम् । अमृतम्

---

(१) न्यंजकालः,-न्यंजन्कालः । (२) अंजत् ।

(३) सप्त चक्रानुवहति for सप्त चक्रान् वहति । (४) स्तनीभिः for सप्त नाभीः ।

(५) अमृतं तन्वक्षः । (६) स्यूतो and ऽक्षः । (७) ह प्राब्दः ।'

चैतन्यम्। अत. सर्वेन्द्रियेषु तद्विषयेषु च अनुगतः। एवं सर्वाणि प्राणिजातानि (१) अञ्जत् प्रेरयन् ईयते। सः उपसंहरंश्च स काल· ईयते तत्त्वर्गांयते। X इण् गतौ। कर्मणि यक् प्रत्ययः X॥ (सा० आ० भा०)

२३५- जाति

जातिर्जातं च सामान्यं। (अ० को० का० व० कां० १)।
जातिः, जातम्, सामान्यम्, इति ३ घटत्वादिजाते।
जातिः सामान्यजन्मनोः। (अ० को० ना० अ० व० का० ३)?
सामान्यं गोत्वादि जन्मनि च जातिः।

२३६- जाति के लक्षण और निर्णय।

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः॥ १८॥ विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्॥ १९॥ तद्विकल्पाज्जातिनिग्रह स्थानबहुत्वम्॥ २०॥

(न्या० द० अ० १ आ० २ सू० १८-२०)

जातिविशेषे चानियमात्॥ ५५॥ तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः॥ ५६॥ न कर्म्म कर्तृसाधनवैगुण्यात्॥ ५७॥ अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्॥ ५८॥ अनुवादोपपत्तेश्च॥ ५९॥ वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्॥ ६०॥

(न्या० द० अ० २ आ० १ सू० ५५—६०)

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात्प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः॥ ६६॥ नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः॥ ६७॥ व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थः॥ ६८॥ व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः॥ ६९॥ आकृतिर्जातिलिंगाख्या॥ ७०॥ समानप्रसवात्मिका जातिः॥ ७१॥

(न्या० द० अ० २ आ० २ सू० ६६—७१)।

इस अन्तिम सूत्र पर चार सज्जनों के भाष्यः—

समानप्रसवात्मिका जातिः॥ ७१॥

जाति लक्ष्यति। समानः समानाकारकः प्रसवो बुद्धिजननं आत्मास्वरूपं यस्या सा तया च समानाकारबुद्धिजननयोग्यत्वमर्थः समानाकारबुद्धिजननयोग्यधर्मविशेषो नित्यानेकसमवेत· रूपार्थ इत्यपि वदन्ति इदन्तु बोध्यं एव सत्याकृत्यविषयको गवादिपदात् न शाब्दबोधः अनुभव· बलेन तथैव कार्य्यकारणभावकल्पना इन्यथालाघवाद्गोपदस्यगोत्वविशिष्टे शक्तिरेव स्यादिति॥ ७१॥

श्री विश्वनाथ भट्टाचार्य भाष्य। "तिमिरनाशक"

यन्त्रालय काशी सं. १८९० ई मे मुद्रित।

समान प्रसवात्मिका जगतिः॥ ६६॥

(न्या. द. अ. २ आ २)

या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावृ·

(१) अजन्।

तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम् । यच्च केषां चितभेद कुतश्चिद्भेदं करोति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति । [वा० भा०] ।

भाषा—द्रव्यों के आपस में भेद रहते भी जिससे समान बुद्धि उत्पन्न हो उसे 'जाति' कहते है, जैसे घटों का परस्पर भेद है, पर घटत्व रूप से सब एक हैं । इसी लिये 'घट' यह एक रूप से बोध होता है । अनेक व्यक्तियों के एक नाम पड़ने का यही कारण है । सब घटों का पट आदि वस्तुओं से इसी जातिरूप भेदक धर्म के रहने से भेद होता है, नहीं तो सब एकही नाम से पुकारे जाते ॥ ६६ ॥

यह हिन्दी भाष्य श्रीक्षत्रिय कुमार श्रीमदुदयनारायणवर्मा से किया हुआ । मुज़फ्फरपुर मे सन् १९०६ ई. में छपा ।

१६६-समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ७१ ॥

(द्रव्यों में आपस का भेद होते हुये भी) जिससे समान प्रसवपना पाया जाता है ।

श्री पं० तुलसीरामजी स्वामी मेरठ,

में छपी सन् १९१० ई. मार्च ।

२३७- व्याकरण और जाति

जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् । ४ । १ । ६३ ॥ (१) जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात् ॥ (२) आकृतिग्रहणा जातिः * ॥ (३) अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्येत्यर्थः । तटी ॥ (४) लिङ्गानां च न सर्वभाक् ॥ सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या * ॥ असर्वलिङ्गत्वे सत्येकस्यां व्यक्तौ कथनाद्व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सुग्रहा जातिरिति लक्षणान्तरम् । वृषली ॥ सत्यन्तं किम् ? (सि. कौ.) ।

शुक्ल ॥ सकृदित्यादिकिम् ? देवत्ता । गोत्रं च चरणैः सह । (५) अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः । औपगवी । (६) कठी बह्वृची । ब्राह्मणीत्यत्र तु शार्ङ्गरवादिपाठात् ङीना ङीप् बाध्यते ।

---

(१) जातौ स्त्रीविषयत्वायोपधत्वादीनामभावात्तद्वाचकशब्दोपादानमित्याह-जातिवाचीति ॥

(२) इदं श्लोक वार्तिकम् ॥

(३) 'आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या' (२ । ६५) इति गौतमसूत्रम् । 'यया जातिर्जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात् । सा च नान्यसत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियताद् व्यूहादिति । नियतावयवव्यूहाः खलु सत्त्वावयवा जातिलिङ्गम् । शिरसा पादेन गामनुमिन्वन्ति । नियते च सत्त्वावयवानां व्यूहे सति गोत्वं प्रख्यायते, इति वात्स्यायनभाष्यं च मनसि निधायाह-अनुगतेति ॥

(४) मनुष्यमात्रे संस्थानस्यानुगतत्वेन वृषलादिजाति—ग्राहकसंस्थाने विशेषाभावाद् वृषलादिजातिरंभवामाव इत्यतो लक्षणान्तरमाह-लिङ्गानां चेति ॥

(स्त्री० प्र० प्र०) (सि० कौ०)

(५) अपत्यप्रत्ययान्ते शाखाध्येतरि च संस्थानविशेषाभावात् व्यक्त्यन्तरे सुग्रहत्वाभावाच्च जातिकार्यं न प्राप्नोतीत्यतो जातिकार्यमतिदिशति—अपत्यप्रत्ययान्त इति ।

(६) कठीति । कठेन प्रोक्तम् अधीत इति वैशम्पायनान्तेवासित्वाज्जातस्य णिनेः 'कठचर-

जातेः किम् ? मुण्डा । अस्त्रीविषयात्किम् ? बलाका ॥ अयोपधात्किम् ? क्षत्रिया । योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः * हयी गवयी । मुकयी । हलस्तद्धितस्येति यलोपः—मानुषी ॥ मत्स्यस्य ङ्याम् ।* मत्सी ।

जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् । ६३ ॥

जातेरित्युच्यते । का जातिर्नाम । आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

अपर आह

प्रादुर्भाव विनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद् गुणैः ।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः ॥

गोत्रं च चरणानि च । (म० भा० ४।१।६) ।

[जात्याख्याया(१) मेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् ।

अष्टा० अ० १ पा० २ सू० ५८ ।

एकोऽप्यर्थो(२) वा बहुत्ववद्भवति । ब्राह्मणाः पूज्याः । ब्राह्मणः पूज्यः ।

सि० कौ० त० पु० प्र० ।

कालुक' इति लुकि कठशब्दः कठप्रोक्तवेदाध्यायिवाचकत्वाज्जातिकार्यं ङीपं लभते । स्त्रीणामपि पतिसमानमेव वेदाध्ययनादिष्वधिकारम् 'स्त्री चाविशेषात्' 'दर्शनाच्च' इति श्रौतसूत्रे कात्यायनः, 'जातिं तु बादरायणः तस्मात् अपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्' इति पूर्वमीमांसायां जैमिनः, काशकृत्स्निना प्रोक्तां मीमांसामधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी' उपेत्याधीयतेऽस्या इति उपाध्यायी उपाध्याया' इत्युदाहरणमुपन्यस्यन् भगवन्भाष्यकारश्च स्वीकरोत्येवेति भावः ॥ तद्व्यङ्ग्यत्वेन ताच्छब्द्ये तु 'वृषली' इत्यत्रेव 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इत्यनेनैव सकलेष्टसिद्धौ 'गोत्रं च चरणैः सह' इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः स्यादिति बोध्यम् ॥ किंच 'अनुपसर्जनात्' इति सूत्रे तु स्वयमपि भाष्योक्ते एवोदाहरणे 'काशकृत्स्ना आपिशला' इति स्वीकृतवान् । अत्राधिकाराभावमिति पूर्वापरविरोधो विचार्य एवेति बोध्यम् ।

[सि० कौ० स्त्री० प्र० प्र०]

(१) कोष्ठकान्तर्गतस्य पाठस्य नात्रोपयोगः । किन्तु त्रयाणां षडलिङ्गप्रकरणे, 'तिष्यपुनर्वस्वोः')—इत्यस्य द्वन्द्वप्रकरण एवोपयोग इति बोध्यम् ॥ जात्याख्यायाम् भावप्रत्ययं विना प्राधान्येन जातिवाचकतायाम् ।

(२) "अर्थातिदेशात् सिद्धम्" इति वार्तिकव्याख्यायाम् "यावद् ब्रूयात् एकोऽर्थो बहुवद्भवति, इति तावद् 'एकस्मिन् बहुवचनम्' इति" इति भाष्यमनुसृत्याह एकोऽप्यर्थो वेति । इदं च सूत्रं "जातिशब्देन द्रव्यमप्यभिधीयते जातिरपि । यदा द्रव्यभिधानं तदा बहुवचनं भविष्यति यदा सामान्याभिधानं तदैकवचनं भविष्यति" इति । भाष्यकृता प्रत्याख्यातम् ॥

(सि० कौ० त० पु० प्र०) ।

"जत्याख्यायमेकस्मिन् बहुवचमन्यतरस्यामित्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा सरूपाणामेकशेष आरभ्यते। किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित्कार्यः। संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितं नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः। यद्येवं नित्यः। अथापि कार्यः। उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति। कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्॥ सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे॥ सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति।

[म० भा० १।१।१]।

जातिरप्राणिनाम् २।४।६॥ प्राणिवर्जजाति वाचिनां द्वन्द्व एकवत्। धानाशष्कुलि। प्राणिनां(१) तु विट्शूद्राः। (२)द्रव्यजातीयानामेव। नेहरूपरसौ गमनाकुञ्चने। जाति (३ प्राधान्य एवायमेकवद्भावः। (४)द्रव्यविशेषविवक्षायां तु वदरामलकानि।

[सि० कौ० द्व० स० प्र०]।

वोतो गुणवचनात् (५) ४।१।४४। उदन्ताद्गुणवाचिनो वा ङीप् स्यात्।

पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च। ४।१।६४। पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचनः स्त्रीविषयादपि ङीप् स्यात्। ओदनपाकी। शंकुकर्णी॥ शालपर्णी। शङ्खपुष्पी। दासीफली। दर्भमूली। गोवाली। ओषधिविशेषे रूढा एते। (६) इतो मनुष्यजाते ४।१।६५॥ ङीप् स्यात। दाक्षी। योपधादपि। उदमेयस्यापत्यं औदमेयी॥ मनुष्येति किम्? तित्तिरः। ऊङुतः। ४। १। ६६। उकारान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात। कुरूः (७) 'कुरुनादिभ्योण्यः' तस्य 'स्त्रियामवन्तीत्यादिना लुक्। अयोपधात्किम्? अध्वर्युः॥ अप्राणि जातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्।❀ रज्ज्वादिपर्युदासादुवर्णान्तेभ्य एव। अलाब्वा। कर्कन्ध्वा। अनयोर्दीर्घान्तत्वेऽपि 'नोङ्धात्वोरिति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेध उदः फलम्। प्राणि-

(१) "आपोमयः प्राणः" इति श्रुतेरद्भिर्विनाग्लायमानप्राणानां लोकप्रसिद्ध्या जङ्गमानां मनुष्यादीनामेव प्राणित्वमिति नक्षत्राणां न प्राणित्वमिति 'तिष्यपुनर्वसु' इत्यत्रैकवद्भावः सिध्यतीति भावः (२) द्रव्येति। 'अप्राणिनाम्' इति पर्युदासाल्लब्धमिदमिति भावः। (३) तज्जात्याश्रयसकलव्यक्तिबोधनमेव जातिप्राधान्यम्। (४) तज्जात्याश्रयकिंचिद्व्यक्तिबोधनेच्छैव द्रव्यविशेषविवक्षा।

(५) 'अर्थवत्प्रातिपदिकम्' 'गुणवचनं च' इत्यर्थवतः प्रातिपदिकसंज्ञां गुणवचन संज्ञां च विधाय 'समासकृत्तद्धिताव्ययसर्वनामासर्वलिङ्गा जातिः' 'द्व (षट् संज्ञा) च' "एकद्वयोपनि वेशिनी संज्ञा" इति वार्तिकैः "एतेनानुपूर्व्येण संनिविष्टानां बाधनं यथा स्यात्। गुणवचनसंज्ञायाश्चैताभिः संज्ञाभिर्बाधनं यथा स्यात्" इति भाष्येण च 'समासकृत्तद्धिताव्ययसर्वनामासर्वलिङ्गजातिषट्—संज्ञा-संज्ञाविनिर्मुक्तमर्थवत् गुणवचनम्' इति लक्षणलक्षितमेवगुणवचनशब्देन गृह्यते। समासकृत्तद्धिताद्यतिरिक्ता त्वमुणादीनामव्युत्पन्नत्व एव संभवतीति बोध्यम्॥

[सि० कौ० स्त्री० प्र० प्र०]

(६) इञ उपसंख्यानम्।❀ सौतंगमी। मौनिचिती। तेन निर्वृत्तमित्यर्थे 'वुञ्छण' इति चातुरर्थिक इञ्॥ (७) कुरुशब्दस्य जातिकार्यसंपत्तयेऽपत्यप्रत्ययान्तत्वं दर्शयति—कुरुनादिभ्य इत्यादिना। 'जनपदसमानशब्दात्क्षत्रियात्' इत्यनुवृत्त्या अपत्ये ण्य इति भावः।

जातेस्तु कृकवाकुः ॥ रज्ज्वादेस्तु-रज्जुः । हनुः ॥ बाह्वन्तात्संज्ञायाम् ४।१।६७' स्त्रियामूङ् स्यात् । भद्रबाहूः । संज्ञायां किम् ? वृत्तबाहुः । पङ्गोश्च । ४ । ६८ ॥ पङ्गूः ॥ श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च । ❀ चादूङ् । पुयोगलक्षणस्य ङीपोऽपवादः ॥ लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्वादयः (५) श्वश्रूः । ऊरूत्तरपदादौपम्ये । ४ । १ । ६६ ॥ (६) उपमानवाचिपूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात् ।

(सी० प्र० प्र० सि० कौ०) ।

२३८ ईश्वरस्वरूप

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

(यं०सं० ४०।८) ।

उ० स पर्यगात् । जगती । य एवमात्मानमुपास्ते स पर्यगात्परिगच्छति शुक्रं शुक्लं विज्ञानानन्दस्वभावमचिन्त्यशक्तिम् । अकायं न विद्यते कायः शरीरं यस्य स तथोक्तः । अव्रणं कायरहितत्वादेवास्नाविरं स्नायुरहितमकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं सत्वरजस्तमोभिरपापविद्धं क्लेशकर्मविपाकाशयैरसंस्पृष्टम् । अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूयासमर्थं मन्यन्त इत्यदोषः । इत्थंभूतं ब्रह्म प्रतिपद्यते । अथात्मोपासनायुक्तस्य फलमाह । यश्च कविः क्रान्तदर्शनः मनीषी मेधावी परिभूः सर्वतो भविता विज्ञानबलात्स्वयंभूः स्वयं ज्ञानबलाद्ब्रह्मरूपेण भविता सः याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाद्यथास्वरूपमर्थान्विहितवान् त्यक्तस्वस्वामिसंबन्धैरर्थैश्चेतनाचेतनैरुपभोगं कृतवान् । शाश्वतीभ्योऽनन्ताभ्यः समाभ्योऽर्थाय अनन्तवर्षप्राप्तये च कर्म कृतवान् । ननु कर्मजाड्याल्लोकः कर्मवान्भवति । सत्यम् । आत्मसंस्कारकं तु कर्म ब्रह्मभावजनकं स्यात् । तस्मात्सोऽपि गच्छति शुक्रमकायं ब्रह्म इति ॥ ८ ॥ [उ० भा०]

म० एवंभूतात्मज्ञस्य फलमाह । य एवमात्मानं पश्यति स ईदृशं ब्रह्म पर्यगात् परिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । कीदृशम् । शुक्रं शुद्धं विज्ञानानन्दस्वभावमचिन्त्यशक्ति । अकायं न कायः शरीरं यस्य तत् । अकायत्वादेवाव्रणमक्षतम् । अस्नाविरं न विद्यन्ते स्नावाः शिरा यत्र तदस्नाविरं स्नायुरहितम् । अकायत्वादेव

---

(५) 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति सूत्रभाष्ये "उवर्णान्तादूङ् विधीयते । तत्रैकादेशः । एकादेशे कृतेऽन्तादिवद्भावात्प्रातिपदिकसंज्ञा भविष्यति" इति ग्रन्थेन तु श्वश्रूशब्दस्य व्युत्पन्नत्वं ध्वन्यते ॥ (६) उपधीयते इति उपमा । कर्मण्यट् । उपमेयम् । तद्भाव औपम्यम् । तत्रोपमेयत्वविषयवर्तमानोरूत्तरपदादित्यर्थः उरूत्तरपदस्योपमेयत्वं पूर्वपदस्योपमानवाचित्वे एव संभवतीत्यभिप्रेत्याह उपमानवाचीति ।

(सी० प्र० प्र० सि० कौ०)

शुद्धमनुपहतं सत्वरजस्तमोभिः। अपापविद्धं न पापैर्विद्धं क्लेशकर्मविपाकाशयरस्पृष्टम्। अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तिरर्थातिशयद्योतनाय। 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०।४२) इति यास्कोक्तेः ईदृशं ब्रह्मात्मतः प्रतिपद्यत इत्यर्थः। पुनस्तस्यैव फलान्तरमाह। य ईदृग उपासकः स शाश्वतीभ्यः समाभ्यः निरन्तरमनन्तवर्षेभ्योऽर्थाय अनन्तवर्षप्राप्तये याथातथ्यतः यथातथाभावो याथातथ्यं तेन यथास्वरूपमर्थान् व्यदधाद्विहितवान्। त्यक्तस्वस्वामिसंबन्धैश्चेतनाचेतनैरर्थैरुपभोगं कृतवानित्यर्थः। कीदृशः। कविः। क्रान्तदर्शी। मनीषी मेधावी। परि सर्वतो भवतीति परिभूः ज्ञानबलात्सर्वरूपः। स्वयं भवतीति स्वयंभूः ब्रह्मरूपेण भविता। ईदृशोऽपि पूर्वोक्तं शुक्रमकायमित्यादिविशेषणविशिष्टं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः। एतस्या ऋचोऽर्थान्तरं यथा। योऽयमतीतमन्त्रोक्त आत्मा स पर्यगात्परितः सर्वत्र गच्छति नभोवत्सर्वं व्याप्नोति। व्याप्य च शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यःसमाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यो याथातथ्यतः यथाभूत कर्मफलसाधनतः अर्थान्कर्तव्य पदार्थान् व्यदधात्। यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। स कीदृशः। शुक्रमित्यादिविशेषणानि लिङ्गव्यत्ययेन पुल्लिंगे नेतव्यानि। शुक्रः शुद्धो दीप्तिमान् अकायोऽशरीरः। लिंगशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽक्षतः। अस्नाविरः शिरारहितः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धो निर्मलः। अपापविद्धोऽधर्मादिवर्जितः। कविः सर्वदृक् 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' इति श्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञः। परिभूः परि सर्वेषामुपर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयंभूः स्वयमेव भवतीति येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः। स नित्य ईश्वरः सर्वं कृतवानित्यर्थः॥ ८॥ (म० भा०)

२३९—यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥

(मु० उ० मु० १ खं० १।६)।

२४०- ईश्वरलक्षणम्

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥ (यो०द०स०पा०)

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत् फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयास्ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते। स हि तत् फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावो यथा मुक्तस्य पूर्वाबन्ध कोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तराबन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य, स तु सदैव मुक्त सदैवेश्वर इति। योऽसौ प्रकृष्टसत्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तं। शास्त्रं

पुनः किं निमित्तं ? प्रकृष्टसत्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिसंबन्धः। एतस्मादेतद्भवति, सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्। न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयी स्यात्तदेवतत्स्यात्। तस्माद्यत्र काष्ठा प्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात् द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु, पुराणमिदमस्त्विति एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्य विघातादूनत्वं प्रसक्तं। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः, स च पुरुष विशेष इति ॥ २४ ॥ किंच

२४१ तत्र प्रमाणम्

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्धिवर्द्धमानं यत्र निरतिशय स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठा प्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाण वदिति। यत्र काष्ठा प्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुष विशेष इति। सामान्य मात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम् "आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति" ॥ २५ ॥

२४२ तस्य प्रभावः

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥

२४३ तस्य वाचकः

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं, वाच्यवाचकत्व, अथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सहसंबन्धः संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति, यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते, विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः ॥ २७ ॥

२४४ तदुपासना

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते, तथा चोक्तम्—"स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते" इति ॥ २८ ॥

किं चास्यभवति। (यो० द० व्या० कृ० भा० स० स० पा० ॥१॥)।

२४५ ईश्वर की प्रतिमा नहीं।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः। हिरण्यगर्भ इत्येष मा

मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥ ३ ॥ (य० सं० ३२। ३)।

उ० न तस्य गायत्री द्विपदा। न तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानभूतं किंचिद्विद्यते। यतो यस्य नाम महद्यश इत्येष वेदान्तविदः पठन्ति। हिरण्यगर्भ इत्येष चतुर्ऋचोऽनुवाकोदूरविप्रकर्षेण हिरण्यगर्भं प्रतिमाभूतमाह। मामाहिꣳसीदित्येषा च ऋक् यस्मान्न जात इत्येषा च द्विकण्डिकोऽनुवाकः षोडशिदैवत्योऽदूरविप्रकर्षेणाभिवदति। आसां च कण्डिकानां ब्रह्मयज्ञेऽध्ययनं कर्तव्यं प्रतीकग्रहणत्वात् ॥ ३ ॥

म० द्विपदा गायत्री। तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानमुपमानं किंचिद्वस्तु नास्ति। अतएव नाम प्रसिद्धं महत् यशः यस्यास्ति। सर्वातिरिक्तयशा इत्यर्थः। हिरण्यगर्भ इत्येषोऽनुवाकश्चतुर्ऋचः हिरण्यगर्भः यः प्राणतः यस्येमे य आत्मदाः। इति (२५। १०-१३)। मा मा हिंसीज्जनितेत्येका एषा (१२।१० २)। यस्मान्न जातः इन्द्रश्च सम्राडिति (८।३६-३७) द्व्यृचोऽनुवाकः। एताः प्रतीकचोदिताः पूर्वं पठितत्वादादिमात्रेणोक्ताः ब्रह्मयज्ञे जपे च सर्वा अध्येयाः। एवं सर्वत्र ॥ ३ ॥

२४६ ईश्वर के अनेक नाम।

सुपर्णंविप्राः कवयोवचोभिरेकंसन्तंबहुधाकल्पयन्ति।

छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्यमिमते द्वादश ॥

(ऋ० सं० ८। ६। १६। ५)

सुऽपर्णम्। विप्राः। कवयः। वचःऽभिः। एकम्। सन्तम्। बहुधा। कल्पयन्ति। छन्दांसि। च। दधतः। अध्वरेषु। ग्रहान्। सोमस्य। मिमते। द्वादश ॥ ५।१६ ॥

विप्रामेधाविन कवयः क्रान्तप्रज्ञाः मनुष्याः सुपर्णं सुपतनं एक सन्तं परमात्मानं वचोभिः स्तुति लक्षणैर्वचनैर्बहुधा बहुप्रकारं कल्पयन्ति कुर्वन्ति। किंच तएव कवयः अध्वरेषु यज्ञेषु छन्दांसि गायत्र्यादीनि सप्तच्छन्दांसि दधन स्तोत्रशास्त्रादिना धारयन्तः द्वादशसंख्याकान् सोमस्य ग्रहानग्रहणसाधनानि पात्राणि उपांश्वन्तर्यामादीनि मिमते निर्मिमते ग्रहान् गृह्यते एभिरिति ग्रहाः ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्चेति करणे अप्प्रत्ययः सोमस्येति कर्मणिषष्ठी द्वादशेत्यत्र संख्या इति पर्वपद प्रकृतिस्वरत्वं ॥ ५। (सा० आ० भा०)

इन्द्रंमित्रंवरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णोगरुत्मान्।

एकंसद्विप्राबहुधावदन्त्यग्निंयमंमातरिश्वानमाहुः ॥ २२ ॥

(ऋ० सं० २।३।२२)।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ १ ॥

(य० सं० ३२।१)।

उ० इदानीं सर्वे मन्त्राः प्राक्प्रवायुमित्यस्मादनुवाकात्सर्वमेधसबद्धाः। ब्रह्मण आर्षम्। तदेवाग्निः द्वे अनुष्टुभौ। विज्ञानात्मा परेणात्मना विशिष्टाग्न्यादिषु ओतप्रोतत्वेनोपास्योऽभिधीयते। तदेव कारणमग्निः तदादित्यः तद्वायुः तत् उ चन्द्रमाः। उकार एवार्थे। तदेव शुक्रं त्रयीलक्षणम्। तद्ब्रह्म परम् ता आपः सः प्रजापति. ॥ १ ॥

म० पुरुषमन्त्रा उक्ताः। अथ सर्वमेधमन्त्रा उच्यन्ते प्रवायुमच्छेत्यस्मात्प्राक् (३३।५५)। स्वयंभुब्रह्मदृष्टा आत्मदेवत्याः सप्तमेऽहनि आप्तोर्यामसंज्ञिके सर्वहोमे विनियुक्ताः 'आप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति' इत्युपक्रम्य 'सर्वं जुहोति सर्वस्यास्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै', (१३।७।१।६) इति श्रुतेः। द्वे अनुष्टुभौ। विज्ञानात्मा परेणात्मना विशिष्टोऽग्न्यादिष्वोतप्रोतत्वेनोपास्योऽभिधीयते। अग्निः तदेव कारणं ब्रह्मैव आदित्यस्तदेव वायुस्तदेव चन्द्रमास्तत् तदेव। उ एवार्थे। शुक्रं शुक्ल तत् प्रसिद्धम्। ब्रह्म त्रयीलक्षणं तत् ब्रह्मैव। ताः प्रसिद्धाः आपः जलानि स प्रसिद्धः प्रजापतिरपि तदेव ब्रह्म ॥ १ ॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्साक्षरस्य परमः स्वराठ।

स इन्द्रस्सकालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥ ७ ॥

(कैवल्य उपनिषत्)

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२६ ॥

(म० स्मृ० १२।१२३)।

एतमिति ॥ 'एतंच परमात्मानमग्नित्वेनैके याज्ञिका उपासते। तथा तमेकमानि-मित्यध्वर्यव उपासते। अन्ये पुनः स्रष्टृत्वात्प्रग्राख्यप्रजापतिरूपतयोपासते। एके पुनरैश्वर्ययोगादिन्द्ररूपतयोपासते।' अपरे पुनः प्राणत्वेनोपासते। सर्वाणि भूरादीनीमानि भूतानि 'प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहतः' इत्यादिश्रुतिदर्शनात्। अपरे पुनरपगतप्रपञ्चात्मकं सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मानमुपासते। मूर्तामूर्तस्वरूपे च ब्रह्मणि सर्वाएवोपासना श्रुतिप्रसिद्धा भवन्ति ॥ १२३ ॥ (कु० भ०)



२४७ परमात्मा से उत्पत्ति

प्रथमा

कालादापः समभवन् १ कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।

कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥ १ ॥

(अ० सं० १६, ५४, १)।

कालात्। आपः। सम्। अभवन्। कालात्। ब्रह्म। तपः। दिशः।

कालेन। उत्। एति। सूर्यः। काले। नि। विशते। पुनः ॥ १ ॥

कालात्। सर्वजगत्कारणात् परमात्मनः सकाशाद् आपः ब्रह्माण्डधारभूताः समभवन्। स्मर्यते हि।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् (२ अवाकिरत्। तद् अण्डम् अभवद्धैमम्। इति [म० स्मृ० १, ६]। ब्रततपः ३ व्रतम्। कर्मनामैतत्। यज्ञादि कर्म। तपः कृच्छ्रचान्द्रायादिकम्। X द्वन्द्वैकवद्भावः X। यद्वा ब्रततप इति पञ्चमी। जगत्सर्जनकमणे तप्यमानात् कालाद् दिशः प्राच्याद्याः समभवन्। कालेन प्रेरकेण सूर्यं उदेति उदयं गच्छति। "भीषास्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः" इति हि निगमः [तै० आ० ८, ८]

पुनः सूर्यः काले नि विशते विलीयते। अस्तम् एतीत्यर्थः। X "नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् X ॥ १ ॥

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही। द्यौर्मही काल आहिता ॥२॥

कालो १ ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् २ पुरा।

कालादृचः समभवन् ३ यजुः कालादजायत ॥ ३ ॥

---

१ समभवत्'''अभवत्। २ अपाकरत। ३ ब्रततपो for ब्रह्मतपो।

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो १ भागमक्षितम् । काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ४ ॥ कालेयमङ्गिरा देवोथर्वा चाधि तिष्ठतः । इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः । सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणाकालः स ईयते परमो नु देवः ॥ ५ ॥

(अ० सं० १६।५४।२-५)

२४८ शरीर इन्द्रियादि के बिना ईश्वर कर्म और व्यापकता।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ १६ ॥ अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः । तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥ वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् । जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनोऽभिवदन्ति नित्यम् ॥ २१ ॥

(कृ० य० श्वे० उ० अ० ३।१४—२१)

२४९ ईश्वर से जगद की उत्पत्ति।

पुरुषऽएवेदंसर्वंयद्भूतंयश्चभव्यं ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति ॥
एतावानस्यमहिमातोज्यायांश्चपूरुषः ।
पादोस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि ॥
त्रिपादूर्ध्वऽउदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः ।
ततोविष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि ॥
तस्माद्विराळजायतविराजोऽअधि पूरुषः ।
सजातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः ॥ १७ ॥
यत्पुरुषेणहविषादेवायज्ञमतन्वत ।
वसंतोऽअस्यासीदाज्यंग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः ॥
तंयज्ञंबर्हिषिप्रौक्षन्पुरुषंजातमग्रतः ।
तेनदेवाऽअयजंतसाध्याऽऋषयश्चये ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतंपृषदाज्यं ।
पशून्तांश्चक्रेवायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्चये ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानिजज्ञिरे ।
छंदांसिजज्ञिरेतस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
तस्मादश्वाऽअजायंतयेके चोभयादतः ।
गावोह जज्ञिरेतस्मात्त स्माज्जाताऽअजावयः ॥ १८ ॥
चन्द्रमामनसोजातश्चक्षोसूर्योऽअजायत ।
मुखादिंद्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥
नाभ्याऽआसीदंतरिक्षंशीर्ष्णोद्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यांभूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथालोकाँऽअकल्पयन् ॥
सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्तसमिधः कृताः ।
देवायद्यज्ञंतन्वानाऽअबध्नन्पुरुषंपशुं ॥
यज्ञेनयज्ञमयजंतदेवास्तानिधर्माणिप्रथमान्यासन ।
ते ह नाकंमहिमानः सचंतयत्रपूर्वेसाध्याः संतिदेवाः ॥ १६।१०।८।११

(ऋ० सं० अ० ८।४।१७।१६) ।

पुरुष एवेदᳫं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
ततो विराडजायत विराजो अधि पुरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒: संभृ॑तं पृषदा॒ज्यम् ।
प॒शूँस्ताँश्च॑क्रे वाय॒व्या॑नार॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये ॥ ६ ॥
तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ ऋच॒: सामा॑नि जज्ञिरे ।
छन्दा॑ᳬसि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥ ७ ॥
तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः ।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वय॑: ॥ ८ ॥
तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न्पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः ।
तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये ॥ ९ ॥
च॒न्द्रमा॒ मन॑सो जा॒तश्चक्षो॒: सूर्यो॑ अजायत ।
श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत ॥ १२ ॥
नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षᳬशी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्तत ।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिश॒: श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ२॥ अ॑कल्पयन् ॥ १३ ॥
यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ।
व॒स॒न्तो॒ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥ १४ ॥
स॒प्तास्या॑सन्परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिध॑: कृ॒ताः ।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न्पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥
य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् ।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑: सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥ १६ ॥
(य० स० ३१।२–१६)

सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १४ ॥
पुरुषएवेदᳬसर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ १५ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १६ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

सर्वस्य प्रभुरीशानं सर्वस्य शरणंबृहत् ॥ १७ ॥

नवद्वारे पुरेदेही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥
(कृ० य० श्वे० उ० अ० ३ १७ १८)

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १ ॥
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ २ ॥
(कृ० य० श्वे० उ० अ० ४।१—२)।

२५० ईश्वर बिना किसी की सहायता के सृष्टि कैसे रचते हैं।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखोविश्वतोबाहुरुतविश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्यांधमतिसंपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥
(ऋ० सं० अ० ८।३।१८।३)।

विश्वतःऽचक्षुः । उत । विश्वतःऽमुखः । विश्वतःऽबाहुः । उत । विश्वतःऽपात् । सम् । बाहुऽभ्याम् । धमति । सम् । पतत्रैः । द्यावाभूमीइति । जनयन् । देवः । एकः ॥ ३ ॥

अनया सर्वात्मकत्वेन कुलालादिविलक्षणत्वादधिष्ठानाद्यभावेपि स्रष्टुं शक्नोतीत्याह विश्वतश्चक्षुः सर्वतोव्याप्तचक्षुः उतापिच विश्वतो मुखः तथा विश्वतोबाहुः उतापिच विश्वतस्पात् सएवंविधः परमेश्वरः सर्वस्मिन् त्रैलोक्यमुत्पादयतीत्यर्थः । कथमित्युच्यते-बाहुभ्यां दिवं संधमति धमतिर्गतिकर्मा सम्यक् प्रेरयति तथा पतत्रैः गमनशीलैः पादैः पृथिवीं संधमतीत्युभयोरेवश्रवणं प्राधान्याभिप्रायं एवं द्यावाभूमी जनयन् दिवं च पृथिवींचोत्पादयन् देवोद्योतमानः स्वयप्रकाशः परमेश्वरएको सहायएव वर्त्तते ॥ ३ ॥ (सा० आ० भा०)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावा भूमी जनयन्देव एकः ॥
(कृ० य० श्वे० उ० अ० ३।३)

२५१ गर्भ में स्थित परमात्मा

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
(य० सं० ३१।१९)।

उ० किं भूतं तं विशिष्यते। प्रजापतिश्चरति। प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तः अजायमानः बहुधा विजायते। तस्य योनिम् परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन् ह तस्थु भुवनानि विश्वा। स एष पुरुष एकांशभूतः प्रजापतिः अस्य गर्भस्यान्तः अजायमानः चरति चतुर्विधेषु भूतेषु। स एव जायमानः बहुधाऽनेक प्रकारं विजायते। ये धीराः योगिनः ते तस्य योनिं परिपश्यन्ति सर्वत्यागेन परिहन्ति। विश्वे त्रैलोक्ये भुवनानि तस्मिन्नातस्थुः ॥ १६ ॥ (उ० भा०)।

म० यः सर्वात्मा प्रजापतिः अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति। यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते। धीराः ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेः योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति अहं ब्रह्मास्मीति जानन्ति। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि। सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥ १६ ॥ (म० भा०)।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
[कठ उ० वल्ली ५। मं० ६ ॥] स० प्र० पृ० ३०७।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भतीह विश्वम् ॥७॥
(मुं० उ० मु० १ खं० १। ७)।

२५२ ऐतरेय ब्राह्मण और सृष्टि।

प्रजापतिरकामयतंप्रजायेयभूयान्त्स्यामितिसंतपोतप्यतसतपस्तप्त्वेमाँल्लोकानसृजतंपृथिवीमंतरिक्षंदिवंताँल्लोकानभ्यतपंत्तेभ्योभितप्तेभ्यस्त्रीणिज्योतींष्यजायंतांग्निरेवपृथिव्याअजायतंवायुरंतरिक्षादादित्योदिवस्तानिज्योतींष्यभ्यतपंत्तेभ्योभितप्तेभ्यस्त्रयोवेदाअजायंतंऋग्वेदएवाग्नेरजायतंयजुर्वेदोवायोः-सामवेदऽआदित्यांत्तान्वेदानभ्यतपंत्तेभ्योभितप्तेभ्यस्त्रीणिशुक्राण्यजायंतंभूरित्येव-ऋग्वेदादजायतंभुवइतियजुर्वेदात्स्वरितिसामवेदात्तानिशुक्राण्यभ्यतपंत्तेभ्यस्त्रयोवर्णा-अजाययंतांकारउकारोमकारइतिंतानेकधासमभरत्तदेतदो३मितिंतस्मादोमोमितिप्रणौत्योमितिवैस्वर्गोलोकंओमित्यसौयोसौतपतिंसप्रजापतिर्यज्ञमतनुतंतमाहरत्तेनायजतंसऋचैवहौत्रमकरोंद्यजुषाध्वर्यवंसाम्नोद्गीथंयदेतत्त्रय्यैविद्यायैशुक्रंतेनब्रह्मत्वमकरोंत्सप्रजापतिर्यज्ञंदेवेभ्यःसंप्रायच्छंत्तेदेवायज्ञमतन्वतंतमाह-

रंततेनायजंततंतऋचैवहौत्रमकुर्वन्यजुषाध्वर्यवंसाम्नोद्गीथंयदेवैतत्त्रय्यैविद्यायैशु-
क्रंतेनब्रह्मत्वमकुर्वंस्तेदेवाअब्रुवन्प्रजापतिंयदिनोयज्ञऋक्तआर्तिःस्याद्यदियजुष्टो-
यदिसामतोयद्यविज्ञातासर्वव्यापद्वाकाप्रायश्चित्तिरितिसप्रजापतिरब्रवीद्देवान्य-
दिवोयज्ञऋक्तआर्तिर्भवतिभूरितिगार्हपत्येजुहवाथयदियजुष्टोभुवइत्याग्नीध्रीये-
ऽन्वाहार्यपचनेवाहविर्यज्ञेषुयदिसामतःस्वरित्याहवनीयेयद्यविज्ञातासर्वव्यापद्वा-
भूर्भुवःस्वरितिसर्वाअनुद्रुत्याहवनीयएवजुहवाथेत्येतानिहवैवेदानामंतःश्लेषणा-
नियदेताव्याहृतयस्तद्यथात्मनात्मानंसंदध्याद्यथापर्वणापर्वयथाश्लेष्मणाचर्म-
ण्यंवान्यद्वाविश्लिष्टंसंश्लेषयदेवमेवैताभिर्यज्ञस्यविश्लिष्टंसंदधातिसैषासर्वप्रा-
यश्चित्तिर्यदेताव्याहृतयस्तस्मादेषैवयज्ञेप्रायश्चित्तिःकर्तव्या ॥

पै० ब्रा० पं० ५, अ० ५ । ३२ ॥ पृ० ७४-७५ ।

२५३ ईश्वर ।

(३६) "ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायिताऽऽदित्यः"—इत्यादिः, "ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायिताऽऽत्मा"—इत्यादिश्च (३, २, ६,) । तदत्र यद्यपि जडात्मकस्य आदित्यस्य, चैतन्यात्मकस्य जीवात्मनश्चेश्वरत्वमुपात्तम् , तथापि तयोर्जड्योराश्रयतया जीवकतया शक्तिप्रदत्वेन चैतद्विलक्षणोऽप्यस्ति कश्चिदिति चाकथितमपि गम्यत एव । स एव परमेश्वर इति, परमात्मा इति, परब्रह्मेति च सर्वैर्गीयते । एवञ्चेह जगति जडः, आत्मा, परमात्मा चेति त्रय एव मूल-पदार्था इत्येव निष्पन्नम् । वस्तुतोऽस्य हि परमात्मनो विशेष नामरूपाभावात् सर्वाश्रयत्वात् सर्वव्यापकत्वात् सर्वान्तस्थायिरक्षकत्वाच्च सर्वरूपैः सर्वनाम-भिश्चोपास्यत्वमेवार्यसम्मतम् । अत एव यथा प्रयोजनं जडस्याजडस्य च स्तुति-रुपपद्यते । अत एवेवं श्रूयते (ऋ० सं० १, १६४, ४६,)

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"—इति ।

तद्व्याख्याने चाहायमपि—"एकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्"—इति (७, ४, ५,) । पुनरप्युक्तमूर्द्ध-मार्गगति प्रकरणे—"अथैतं महान्त मात्मानमेष प्रवदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरिति"—(१४, २, १) । (नि० आ० पृ० २३४-२४५) ।

२५४ ईश्वर सर्वत्रव्यापक और कार्य विभाग ।

(३६) आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषामेव पदार्थानामिह देवत्वञ्चोररी-कृतम् । तथाहि—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, "तद्देवतः स मन्त्रो भवति"—इति (निरु० ७, १, १), "यो देवः सा देव-

ता"—इति च (७, ४, २)। "देवो दानाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा" इति देवशब्दनिर्वचनञ्च तत्रैव। द्युशब्दश्चात्र नभोमण्डलमात्रस्योपलक्षकः; एवं हि अन्तरिक्षस्थानां, सौरजगद्बहिर्भूतानां ध्रुवादीनाञ्च ग्रहणमिह सिध्यति। तदेवमिन्द्रवाय्वादीनामचेतनानां वृष्ट्यादिदानहेतुकम्। याजावरराजादीनां चेतनानां चार्थादिदानहेतुकं देवत्वम्; अश्वादिजीवानामजीवानाञ्च ग्रावादीनां दीप्तिहेतुकं देवत्वम्, अग्निचन्द्रपर्जन्यादीनां ब्रह्मवर्चस्विनां विदुषाञ्च द्योतनहेतुकं देवत्वम्; सूर्यसूर्यकरादीनां तदुपरिस्थानां तारकादीनाञ्च द्युस्थत्वनिबन्धनं देवत्वम्, यत्रत्वीश्वरे सर्वे एवैते गुणा उपपद्यन्ते, तस्य देवत्वस्य तु कैव कथा। तदेवमाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषामेव पदार्थानां देवत्वमुपगम्यते। द्युस्थत्वे सति दानादिगुणवत्त्वमिदमेकमेव देवलक्षणं स्त्रीकार्यमिति मते तु सूर्येन्द्राग्न्यनिलेन्दुप्रभृतीनां मूलतो नभमण्डलस्थानामेव पदार्थानां मुख्यं देवत्वम्, तत्तत्स्थानभक्तिसाहचर्यतस्त्वन्येषां भूरादिलोकानां तत्रत्यानामश्वसोमौषध्यादीनामपीत्येव विशेषः।

तथाचोक्तं यास्केन—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः"—इति (७, ५, १,) "तासां [तिसृणां देवतानां] भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्याम.। अथैतान्यग्निभक्तीनि—

(नि० आ० पृ० २३९-२४०)।

२५५ वेद लक्षण।

न चास्मदीयवेदवदन्यान्यग्रन्थराशेरपि वेदशब्देन व्यवहारोऽस्तीति तदङ्गत्वमप्येषां स्यादिति वाच्यम्। सकलभाषामूलभूतसंस्कृतभाषाया आदिभाषात्वेन तादृशभाषाव्युत्पादकस्य स्वेतरभाषादिवेदाङ्गत्वे मानाभावात्। किञ्चात्र वेदशब्दस्य योगरूढत्व, तत्र तु केवलयोगिकत्वमिति विशेषात्। अपि चैनदुत्पत्तिसमयेऽनादेरपौरुषेयस्यार्थतो नित्यस्यास्य सिद्धत्वात्। मूलवेदवत्तदङ्गस्यापि नव्यत्वेन कल्पनीयत्वाच्च। (सि० कौ० पू० भा० पृ० ३)।

वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः। भोजने प्रयोजने श्येनयागादौ च दोषवारणाय पदत्रयमत्र लक्षणे बोध्यम्। ईश्वरेण वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्माधर्मा यैस्ता इति वेद। अपौरुषेयं वाक्यं वेद इति यावत्। यद्वेष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः। अलौकिकपदेन प्रत्यक्षानुमाने व्यावर्त्यते। अनुभूयमानस्रक्चन्दनवनितादेरिष्टप्राप्तिहेतुत्वमौषधसेवनादेरनिष्टपरिहारहेतुत्वं च प्रत्यक्षसिद्धम्। स्वेनानुभूयमानस्य पुरुषान्तरगतस्य च तथात्वमनुमानगम्यम्। नन्वेवं भाविजन्मगतसुखादिकमप्यनुमानगम्यमिति चेन्न। तद्विशेषस्यानवगमात्। नहि कोपि ज्योतिष्टोमादिष्टप्राप्तिः कलञ्जभक्षणवर्जनादनिष्टनिवृत्तिरित्यमुमर्थं वेदमन्तरेणानुमानसहस्रेणाप्यवगन्तुं शक्नोति। तस्मादुक्तलक्षणो वेद इति न स वेद

इति सिद्धम् । "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्धते । एवं वदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता" इत्यन्यत्र विस्तरः । (सि० कौ० पू० भा० पृ० ४)

२५६ विभागः ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥ १५ ॥ (य० सं० ५।१५)।

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् ।

अंशान् २ जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ ५ ॥ (अ० सं० ११।१।५)।

त्रेधा । भागः । निऽहिताः । यः । पुरा । वः । देवानाम् । पितॄणाम् । मर्त्यानाम् ॥ अंशान् । जानीध्वम् । वि । भजामि । तान् । वः । यः । देवानाम् । सः । इमाम् । पारयाति ॥ ५ ॥

वः युष्माकं देवानाम् अग्न्यादीनां पितॄणाम् पितृपितामहप्रपितामहानां मर्त्यानाम् मनुष्याणां (१)भोजयितव्यानां ब्राह्मणानां यो भागस्त्रेधा त्रिविधः [पुरा] निहितः प्रौढ्यवस्थायां विभज्य स्थापितः । X "एधाच्च" इति त्रिशब्दाद् विधार्थे एधाच् प्रत्ययः X । हे देवाद्याः अंशान् भागान् जानीध्वम् अवगच्छत ।X ज्ञा अवबोधने । क्र्यादित्वात् श्ना प्रत्ययः । "ज्ञाजनोर्जा" इति जादेशः ।X वः युष्मभ्यं तान् भागान् अहं विभजामि पृथक्करोमि । तत्र देवार्थेन भागेन निर्वापादिकं कर्तव्यम् पित्र्यर्थेन वृद्धिश्राद्धम् मनुष्यार्थेन ब्राह्मणभोजनम् इति विभागस्य उपयोगः । तत्र देवानां यो भागः सः अग्नौ हविरूपेण हूयमानः सन् इमां पत्नीं पारयाति इष्टफलस्य पारं गमयति । X पार तीर कर्मसमाप्ताविति धातुः X ॥ (सा० आ० भा०)

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।

अपां रेतांसि जिन्वति ॥ १६ ॥ (ऋ० सं० ३।३।३६ १६)।

अग्निः । मूर्धा । दिवः । ककुत् । पतिः । पृथिव्याः । अयम् । अपाम् । रेतांसि । जिन्वति ॥ १६ ॥

मूर्धा देवानां श्रेष्ठो दिवोद्युलोकस्य ककुदुच्छ्रितः पृथिव्याश्च पतिरयमग्निः ।

(१) भांजयितव्यानाम् ।

अपांरेतांसि स्थावरजंगमात्मकानि भूतानि जिन्वति प्रीणयति ॥ १६ ॥

(सा० आ० भा०) ।

अथ भगवान्परमकारुणिको लोकहितैषी यदृच्छया ब्रह्माणं सृष्ट्वा तस्मै त्रिवर्गस्य सर्वोत्तमस्य मोक्षस्य च, सम्पादकान् (ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्यान्) साङ्गांश्चतुरो वेदानुपदिदेश ।

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्वेताश्वतरोपनिषच्छ्रुतेः । ब्रह्मापि तदुपदेशक्रमेणैव जगत्सृष्ट्वा वेदोक्तान्येव नामानि तत्तज्जात्यनुगुणानि निर्माय, अध्ययनादिरूपाणि च योग्यानि कर्माणि प्रजाभ्य उपदिदेश । तत्रेयं स्मृतिः—

"सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् ॥ वेदशब्देभ्य एवासौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे' इति । (सि० कौ० पृ० १ पू० भा०) ।

२५७ वेद का विभाग ।

ऋग्यजुश्च 'मन्त्रः' इत्युच्यते । मन्त्रा द्विविधाः-वैदिकाः, तान्त्रिकाश्चेति ।

वैदिकाश्च द्विविधाः—प्रगीताः, अप्रगीताश्चेति । तत्र प्रगीताः सामानि ।

अप्रगीता द्विविधाः-छन्दोबद्धास्तद्भिन्नलक्षणाश्चेति । तत्र प्रथमा ऋचः । अन्त्या यजूंषि । नियतवर्णपदा ऋक् । ऋग्बाहुल्यवानृग्वेद इति यावत् । अनियतवर्णपद यजुः । निगदो यजुर्विशेषः । ऋग्यजुषोरविवक्षया गानप्राधान्यवान् सामवेदः । ऋग्यजुषोरविवक्षया शान्तिकपौष्टिकप्राधान्यवानथर्ववेद इति विवेकः ।

(सि० कौ० पूर्व० भा० पृ० ४)

"ऋचामग्निर्दैवतम्, तदेव ज्योतिः, गायत्रं छन्दः, पृथिवी स्थानम्, 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥' इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते ॥

यजुषां वायुर्दैवतम्, तदेव ज्योतिः, त्रैष्टुभं छन्दः, अन्तरिक्षं स्थानम्, 'इषेत्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु । श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते ॥

साम्नामादित्यो दैवतम् , तदेव ज्योतिः, जागतं छन्दः, द्यौः स्थानम् ।

'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । निहोता सत्सिबर्हिषि' इत्येवमादिं कृत्वा सामवेदमधीयते ॥"

इति गोपथब्राह्मणानुसारेण "पृथिवीस्थानमग्निम्, अन्तरिक्षस्थानं वायुम्, द्युस्थानमादित्यम् अर्थात् तद्वाचकशब्दघटितमन्त्रं प्रारभ्य ऋग्यजुः सामलक्षणं ब्रह्म दुदोह आदिब्रह्मा' इत्येतार्थं इति न कोपि शङ्कावसरः । तथा च वेदा अपौरुषेया एव ॥ (नि० प्रस्तावना पृ० ३) ।

२५८ अथात्र कश्चिच्छ्रौतः प्रस्तावः—

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः—' इत्यादि नैकशो निगमागमादिषु भगवन्निःश्वासात्मकत्वेनोद्घुष्टः कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डात्मको वेदो धर्मार्थकाममोक्षहेतुः। स च मन्त्रब्राह्मणात्मकः। तत्र मन्त्रास्तावद्यज्ञाद्यनुष्ठानकारणभूतद्रव्यदेवताप्रकाशकत्वेनाम्नाताः। ब्राह्मणविषयश्चोपरिष्टात्स्फुटीभविष्यति।

निर्दिष्टो वेदश्च प्रयोगत्रयेण यज्ञनिर्वाहार्थमृग्यजुःसामभेदेन भिन्नस्त्रयीसंज्ञितः। तत्र हौत्रप्रयोग ऋग्वेदेन, आध्वर्यवप्रयोगो यजुर्वेदेन, औद्गात्रप्रयोगः सामवेदेन, ब्राह्मयाजमानप्रयोगौ त्वत्रैवान्तर्भूतौ। अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तोऽपि शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकादिकर्मप्रतिपादकत्वेनात्यन्त विलक्षण एवेति वेदत्रयीतोऽस्य पृथग्ग्रहणम्।

एवंच प्रवचनभेदात्प्रतिवेदं भिन्नाः सन्ति भूयस्यः शाखाः। तथाच कर्मकाण्डे व्यापारभेदेऽपि सर्वासां वेदशाखानामैकरूप्यमेव ब्रह्मकाण्डमिति चतुर्णां वेदानां प्रयोजनभेदेन भेदो निगमपारावारपारीणैर्महर्षिभिः कृतो निर्दिष्टः। (अ०वे०प्र०)

व्याख्याय वेदत्रितयम् आमुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति॥ १०॥

ननु "यज्ञं व्याख्यास्यामः। स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" (१) [सत्या० सू० १, १] इति स्मरणाद् ऋग्यजुःसाम्नामेव फलवत्कर्मशेषत्वम् अवसीयते। प्रादुर्भावोपि त्रयाणामेव श्रूयते। "त्रयोवेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्" [इति ऐ० ब्रा० ५।३२]।

"ऋचः सामानि जज्ञिरे। यजुस्तस्माद् अजायत" इति [ऋ० १०, ९०,९] च॥ संख्यानियमश्च श्रूयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" [तै०ब्रा० ३,१२,९,१]। "यम् ऋषयस्त्रयिविदो विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि" इति [तै० ब्रा० १।२।१।२६]॥ धर्मविशेषश्रवणाच्च त्रित्वम् अवगम्यते। "उच्चैर्ऋचा क्रियते उपांसु यजुषा उच्चैः साम्ना" इति। [सत्या० सू० १।१।१]। "यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं [तद्] यद् ऋचा तद् दृढम्" इति [तै० सं० ६.५.१०.३]॥ ते च ऋगादयो विस्तरेण व्याख्याताः। अस्य तु वेदस्य त्रयीव्यतिरिक्तत्वेन कर्मशेषत्वाभावाद् न व्याख्यानार्हता। अथोच्येत। ऋग्वेदेन हौत्रमेव प्रतिपाद्यते यजुषा आध्वर्यवम् साम्ना औद्गात्रम् इति वेदत्रयस्य प्रतिनियतप्रयोगप्रतिपादन-

---

(१) विधीयते।

परत्वात् (१)अवशिष्टब्रह्मकर्तव्यताप्रतिपादकश्चतुर्थो वेदो व्याख्येयः। तदभावे यज्ञशरीरस्य अनिष्पत्तेरिति ॥ मैवम्। उक्तैरेव त्रिभिर्वेदैः कृत्स्नपेक्षितस्य ब्रह्मकर्तव्यस्यापि सिद्धेः। तथा च ऐतरेयब्राह्मणे। "यद् ऋचैव "हौत्रं (२)क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति अथ केन "ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्" इति [ऐ० ब्रा० ५।३३]। स्मर्यते च। "ऋग्वेदेन होता करोति सामवेदेनोद्गाता यजुर्वेदेनाध्वर्युः सर्वैर्ब्रह्मा" इति। अतश्चतुर्णां हौत्रादीनाम् ऋत्विजाम् अपेक्षितस्य क्रियाकलापस्य त्रय्यैव (३)सिद्धत्वात् न चतुर्थस्य वेदस्याकाङ्क्षास्ति कुतस्तस्य व्याख्यानचिन्तेति ॥ अत्रोच्यते। हौत्रम् आध्वर्यवम् औद्गात्रमिति समाख्यया (४) त्रयाणामपि वेदानां प्रतिनियतहोत्रादिकर्तव्यप्रतिपादनपरत्वावगमात् न ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादने तात्पर्यं संभवति। यथा अन्यपरस्य यजुर्वेदस्य होतृकर्तव्यतायाम् यथा वा तथाविधस्य ऋग्वेदस्य अग्निहोत्रे। एवं त्रय्यां तत्रतत्र प्रतिपादितं यद् ब्रह्मत्वम् तद् अथर्ववेदसिद्धमेव लेशोनोक्तम् इति अतात्पर्यविषयत्वात् अकृत्स्नत्वाच्च नादरणीयम्। अकृत्स्नत्वमेव अभिप्रेत्य शाखान्तरोक्तं हौत्रं नानुष्ठेयम् इति आश्वलायनेनोक्तम्। "तद्ये केचन छान्दोग्ये वाध्वर्यवे वा हौत्रामर्शाः समाम्नाताः न तान् कुर्याद् अकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्य" इति [आश्व० ८।१३]॥ अतएव वाङ्मनसनिर्वर्त्यस्य यज्ञशरीरस्य अर्धमेव त्रिभिर्वेदैर्निष्पाद्यते अर्धान्तरं तु अथर्ववेदेनैवेति श्रूयते। "प्रजापतिर्यज्ञम् अतनुत। स ऋचैव हौत्रम् (५)अकरोद् यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्" इति प्रक्रम्य "स वा एष "त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते। मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं "संस्करोति" इति [गो० ब्रा० ३।२]। ऐतरेयब्राह्मणेपि त्रयीनिष्पाद्य एकः पक्षः मनोनिष्पाद्यः परः परः पक्ष इति श्रुतम्। "अयं वै यज्ञो योयं पवते। तस्य "वाक् च मनश्च वर्तन्यौ। वाचा च हि मनसा च यज्ञोवर्तत। इयं वै वाग्। "अदो मनः। तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति। मनसैव ब्रह्मा संस्क "रोति" इति [ऐ० ब्रा० ५।३३]॥ एतदेवाभिप्रेत्य गोपथब्राह्मणे पूर्वभागे प्रश्नपूर्वकम् अथर्वविद एव ब्रह्मत्वम् आम्नातम्। 'अथ[ह] प्रजापतिः सोमेन "यक्ष्यमाणो वेदान् उवाच। कं वो होतारं वृणीयाम्। कम् अध्वर्युम्। कम् 'उद्गातारम्। कं ब्रह्माणम् इति। न ऊचुः। ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व। य "जुर्विदम् अध्वर्युम्। समविदम्। उद्गातारम्। अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्। "तथा हास्य यज्ञः चतुष्पात् प्रतितिष्ठति" इति [गो० ब्रा० २।२४। तत्रैव विपक्षबाधश्च श्रुतः। "अथ चेद् नैवंविदं ब्रह्माणं वृणुते दक्षिणत एवैषां यज्ञो रिच्यते" इति [गो० ब्रा० २।२४]।

---

(१) अविवशिष्ट For अवशिष्ट। (२) होत्रं For हौत्रं।

(३) त्रय्येव For त्रय्यैव। (४) सामाख्यया।

(५) होत्रम् For हौत्रम्।

"यथैकपात् पुरुषो यन् अनुभयचक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येति एवमेवास्य यज्ञो भ्रेषं न्येति" इति [गो० ब्रा० ३।२] च । "स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" इति स्मृतिस्तु उदाहृतश्रुत्यनुसारेण मुख्यस्य अथर्वविदोऽसम्भवे तत्तच्छाखासु यावदुक्तब्रह्मत्वमात्रेणापिऋतुशारीरनिष्पत्तिर्भवति इत्येवमभिप्राया ।

"त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्" इति [ऐ० ब्रा० ५।३३] श्रुतिरपि (१)प्रकृतव्याहृतित्रयापेक्षत्वाद् अविरुद्धा । "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्वाङ्गिरसः" इति [बृ० आ० ४।४।१०] वाजसनेयकश्रुत्यनुसारेण त्रयाणाम् उत्पत्तिश्रुतिः उपलक्षणतया व्याख्येया ॥

"वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" इति च श्रुतिः "ऋग्भिः पूर्वाह्णे" [तै० ब्रा० ३।१२।९।१] इति प्रकृतकालत्रयाभिप्रायेण । वेदानां चतुष्ट्वस्य सर्वत्र श्रुतत्वात् । तथा चाग्रे तापनीयोपनिषदि आम्नास्यते । "ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः" इति [नृ० पू० ता० १] मुण्डके च । "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः" इति [मु० १।१] ।

"यम् ऋषयस्त्र(२)यिविदा विदुः । ऋच सामानि यजूंषि" इति [तै०ब्रा० १।२।१।२६] त्रैविध्यं तु वेदगतमन्त्राभिप्रायम । तद् उक्तं जैमिनिना । "तच्चोदकेषु(३) मन्त्राख्या" [जै० २।१।३२] । "तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" [जै० २।१।३५] "गीतिषु सामाख्या" [जै० २।१।३६] "शेषे यजुः शब्दः [जै० २।१।३७] इति । तद् अस्मिन्नपि वेदे विद्यत इति न चतुष्ट्वव्याकोपः ॥

उच्चैष्ट्वादिधर्मनियमोपि अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद इत्युपक्रमवाक्यगतवेदत्रयापेक्ष इति न विरोधः ।

ननु अस्मिन् वेदे मन्त्राणाम् ऋगाद्युक्तलक्षणयोगात् तदन्यतमव्यपदेशभाक्त्वं युक्तम् ॥ नैष दोषः । अथर्वाख्येन ब्रह्मणा दृष्टत्वात् तन्नाम्ना अयं वेदो व्यपदिश्यते । तथा हि । पुरा खलु सृष्ट्यर्थं स्वयम्भु ब्रह्म तपस्तेपे । तस्मात् तप्यमानात् सर्वेभ्यो रोमकूपेभ्य स्वेदधारा अजायन्त । तासु स्वेदजातासु अप्सु स्वांच्छायां पश्यतो रेतश्चस्कन्द । तद्रेतः सहिता आपो द्विरूपा अभवन् । तत्रैकतः स्थितं रेतो भृज्ज्यमानं सन् भृगुर्नाम महर्षिरभवत् । स एव भृगुः स्वोत्पादकस्य तिरोहितस्य ब्रह्मणो दर्शनाय "अथार्वाग् एनम् एतस्वेवाप्स्वन्विच्छ" इति [गो० ब्रा० १।४] अशरीरया वाचोक्तत्वात् अथर्वाख्योप्यभवत् । अ(४)वशिष्टरेतोयुक्ताभिरद्भिरावृतस्य वरुणशब्दवाच्यस्य ब्रह्मणस्ततस्य सर्वेभ्योङ्गेभ्यो रसोक्षरत् । सोङ्गरसभूतत्वात् अङ्गिरानाम महर्षिरभवत् । ततस्तत्कारणं ब्रह्म तम् अथर्वाणम् अङ्गिरसं चा(५)भ्यतपत् । ततः एकर्चद्व्यचादिमन्त्रद्रष्टारोविंशतिसंख्याका अथर्वाणोगिरश्चो-

---

(१) प्रकृति For प्रकृति । (२) स्त्रैविदा । (३) तच्चोदकेषु । (४) अविशिष्ट । (५) चाभ्यतत् ।

त्पन्नाः। तेभ्यस्ततेभ्य ऋषिभ्यः सकाशात् स्वयंभु ब्रह्म यान् मन्त्रान् अद्राक्षीत् सोथर्वाङ्गिरः शब्दवाच्यो वेदोऽभवत्। अत एकर्चादीनाम् ऋषीणां विंशतिसंख्या-कत्वाद् वेदोपि विंशतिकाण्डात्मकः सम्पन्नः। अत एव स्वसर्वसारत्वाद् अयं वेदः श्रेष्ठ॥ श्रूयते हि। "श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव" इति [गो० ब्रा० १।६]। तथा "एतद् (१) वै "भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः। येङ्गिरसः स रसः। येथर्वाणस्तद् भेषजम्। यद् "भेषजं तद् अमृतम्। यद् अमृतं तद् ब्रह्म" इति [गो० ब्रा० ३।४]॥ एवं सारभूतब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादनाच्च अयं ब्रह्मवेद इत्यप्याख्यायते॥ तथा च श्रुतिः। "चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः" इति [गो० ब्रा० २।१६]। अत एव सार्वकामिक सिद्धमन्त्रता समाम्नायते।

न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः।
अथर्वमन्त्रसंप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति॥

[प० २५]

इति। तथा स्कान्दे कमलालयखण्डे आथर्वणमन्त्राणां जपमात्रेणाभिमत फलसाधनत्वम्। उक्तम्

यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वितः।
तेषाम् अर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम्। इति॥

अस्य वेदस्य सर्पवेदादयः पञ्चोपवेदा अङ्गत्वेन। समनन्तरं ब्रह्मणा सृष्टाः। तथा च ब्राह्मणम्।, "स दिशोन्वैक्षत प्राचीं दक्षिणां प्रतीचीम् उदीचीं ध्रुवाम् ऊर्ध्वाम्" इति प्रक्रम्य "पञ्चवेदान् निरमिमीत सर्पवेदम् पिशाचवेदम्। असुरवेदम् इतिहासवेदम् पुराणवेदम्" इति [गो० ब्रा० १।१०]॥ तदेवम् आमुष्मिकफलेषु दर्शपूर्णमासादिषु अयनान्तेषु त्रयीविहितकर्मसु अपेक्षितं ब्रह्मत्वम् अनन्यलभ्य-त्वाद् अथर्ववेदैक समधिगम्यम् इति स्थितम्। तद्वदेव ऐहिकफलानि शान्तिकपौ-ष्टिकानि कर्माणि राजकर्म्माणि अपरिमितफलानि तुलापुरुषादिमहादानानि च अथर्ववेद एव प्रति पादितानि पौरोहित्यं च अथर्वविदैव कार्यम्। तत्कर्तृकाणां कर्मणां राजाभिषेकादीनां तत्रैव विस्तरेण प्रतिपादितत्वात्। तथा च विष्णुपुराणे "पौरोहित्यं शान्तिकपौष्टिकानि राज्ञाम् अथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च" इति भट्टाचार्यैरप्युक्तम्-शान्तिपुष्ट्यभिचारार्था एकब्रह्मर्त्विगाश्रया। क्रियन्तेथर्ववेदेन त्रय्येवात्मीयगोचराः। इति नीतिशास्त्रेपि-त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात् पुरोहितः। अथर्वविहितं कर्म कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम्। इति मत्स्य पुराणे-पुरोहितं तथाथर्वमन्त्रब्राह्मणपारगम्। इति मार्कण्डेयपुराणे—अभिषिक्तो-थर्वमन्त्रैर्महीं भुङ्क्ते ससागराम्। इति अथर्वपरिशिष्टे।

---

१ एतद्वपि For एतद वै०

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम् ॥
तस्मात् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम् ।
दानसंमानसत्कारैर्नित्य समभिपूजयेत् ॥
[प० ४।६] इति (स्मा० आ० अ० सं० कां० १ उ० घा०)

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥
(म० स्मृ० ७।७८) ।

पुरोहितमिति । पुरोहितं चाप्याथर्वणविधिना कुर्वीत । ऋत्विजश्च कर्माणि कर्तुं वृणुयात् ते चास्य राज्ञो गृह्योक्तानि त्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः ॥ ७८ ॥
(कु० भ०) ।

२५६ संसार चक्र ।

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ २ ॥
(ऋ, स० अष्ट० १ अ० ३ वर्ग० ६) ॥ य० सं० ३३ । ४३ ॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम ॥ १२२ ॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ॥
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत ॥ १२४ ॥
(म० स्मृ० १२।१२२-१२४)

एष आत्मा सर्वप्राणिनः पञ्चभिः पृथिव्यादिभिर्महाभूतैः शरीरारम्भकैः परिगृह्य पूर्वजन्मार्जितकर्मापेक्षयोत्पत्तिस्थितिविनाशै रथादिचक्रवदसकृदुपावर्तमानेश मोक्षात्संसारिणः करोति ॥ १२४ ॥

(कु० भ०)

सर्वाजीवे सर्वसस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो चक्र भ्राम्मते ब्रह्म चक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्ते नामृतत्वमेति ॥ ६ ॥
(कृ० य० श्वे० उ० अ० १ । ६) ।

आकृष्णेन इमंदेवा अग्निमूर्धा दिवः ककुन् ।
उद्बुध्यस्वेति च ऋचो यथा सख्य प्रकीर्तिताः ॥ ३०० ॥
बृहस्पते अतियदर्यस्तथैवान्नात्परिश्रुतः ।
शन्नोदेवीस्तथा काडात्केतु कृण्वन्निमांस्तथा ॥ ३०१ ॥
(या० स्मृ० आ० अ० ग्र० शां० पू० १२)

आकृष्णेन रजसा वर्तमान इत्यादयो नव मन्त्राः यथाक्रममादित्यादीना वेदि-तव्याः ॥ ३०० ॥ ३०१ ॥ (भा० का०)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्टति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
(भ० गी० अ० १८ । ६१)।

अथपर्येतिभुवनान्येत्यर्धंविवृणोति—

रथे विश्वमयेचक्रं कृत्वासंवत्सरात्मकम् ।
छन्दांस्यश्वाः सप्तयुक्ताः पर्यटत्येपसर्वदा १ ॥ १६ ॥
(सू० सि० अ० १२।१६)।

त्रिलोक्यात्मकेरथेसंवत्सरात्मकं द्वादशमासात्मकं वपंचकंनियोज्यसप्तच्छन्दांसिगायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगत्योऽश्वाःयुक्ताः संयोजिताः कृत्वा । छन्दांस्यश्वास्तत्रयुक्तेति पाठसप्ताश्वान्रथेनियोज्येत्यर्थः सर्वदानित्यमेपोऽनिरुद्धनामापर्यटति भ्रमति ॥ १६ ॥

स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी दशशतकरधारी ज्योतिषांमध्यचारी ।
विधुरपि विधि योगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ॥ २१ ॥ (हि० उ० मि० ला०)

आयंगौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् ।असदत् । मातरम् । पुरः । पितरंम । च । प्रऽयन् । स्वर्१रिति स्वः ॥ १ ॥

(ऋ० सं० अ० ८ । ८ । ४७ । य० सं० ३ । ६)।

गौर्गमनशीलः पृश्निः प्राप्तवर्णः प्राप्ततेजाः अय सूर्यः आक्रमीत् आक्रांतवान् उदयाचलं प्राप्तवानित्यर्थ । आक्रम्य च पुरः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि मातरं सर्वस्य भूतजातस्य निमात्रीं पृथिवीमसदत् आसीदति प्राप्नोति सदेश्छान्दसोलुङ् लृदित्वाच्च्लेरङादेशः ततः पितरं पालकं द्युलोक च शब्दादन्तरिक्ष प्रयन् प्रकर्षेण शीघ्रं गच्छन् स्वः सुअरण. शोभमानो भवति यद्वा पितरं स्वर्गलोकं प्रयन्: वर्तते ॥ १ ॥ (सा० आ० भा०)

धन्याद्विजमयीनौकाविपरीताभवार्णवे ॥
तरंत्यधोगताः सर्वे उपरिस्थाः पतंत्यधः ॥ १३ ॥
(चा० नी० द० अ० १५ । १३)।

---

१ पर्येत्येप वशीसदा इति पाठान्तरम् ।

भा० टी०—यह ब्राह्मणरूप नाव धन्य है, संसाररूप समुद्र में इसकी उल्टी रीति है उसके नीचे रहने वाले सब तरते हैं और ऊपर रहने वाले नीचे गिरते हैं अर्थात ब्राह्मण से जो नम्र रहता है वह तर जाता है और जो नम्र नहीं रहता है वह नरक में गिरता है ॥ १२ ॥

सतः संज्ञिनः सद्भावात्तदाश्रये संज्ञिने वृद्धयादिष्वितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः। का इतरेतराश्रयता। सतामादैचां संज्ञया भवितव्यम्। संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते। तदेतदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद्यथा। नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति। ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते। तद्यथा। नौः शकटं वहति शकटं च नावं वहति। अन्यदपि तत्र किंचिद्भवति जलं स्थलं वा। स्थले शकटं नावं वहति जले नौः शकटं वहति। यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकम्भवति। तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति। इदं पुनरितरेतराश्रयमेव। सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात् ॥ (म० भा० १। १। ३)। पृ० ८६-६०)।

२६० उपमा।

"यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥

(ऋ० सं० ८, ५, १०, १)" इति।

आथर्वणो भिषक्, तेनेयमोषधिस्तुवते दृष्टा। अनुष्टुप्। घृतेन पुनरपनप्तो दीक्षित एकविंशतिभिर्दर्भपिञ्जूलीमिश्राभिरद्भिरभिषिच्यते। उपतापशान्त्यर्थमनेनैव सूक्तेनाग्निचयनार्थं क्षेत्रं ग्राम्यारण्याभिरोषधिभिर्व्युप्यते। 'यत्' यदा 'अहम्' 'इमाः' 'ओषधीः' 'हस्ते' 'आदधे' आधाय च सन्निकर्षेऽपि तिष्ठामि रोगिणः एताः ओषधीः 'वाजयन्' पूजयन् स्तुवन्नित्यर्थः अथ तदैव तदनन्तरमेव 'पुरा' एव तासामोषधीनां प्रयोगात् अस्मात् तुनीनम् ओषधिवीर्यम्, अग्रलं मन्वानः "आत्मा" "यक्ष्मस्य" यक्ष्मणः "नश्यति" रोगस्यापुनरागमनाय ॥ कथं पुनर्नश्यति? "जीवगृभः यथा" यथा जीवग्राहस्य, पूर्वं हननात्, अहतस्यैव जीवो नश्येन त्रिपटो द्वैवात्, एवमात्मा रोगस्यापि पुरैवौषधिप्रयोगात् नश्यतीत्यभिप्रायः ॥

निगमप्रसक्तमुच्यते–"आत्मा अततेर्वा" सर्वमेव हि तेनाततं भवति सर्वगतत्वात् ॥ "आप्तेर्वा" सर्वमेव हि तेन व्याप्तं भवति सर्वगतत्वादेव ॥ "अपि वाप्त इव" सह्यते ह्यसौ कार्यकारणस्थः "यावद् व्याप्तिभूत इति" अपि चैवमन्यथा "स्यात्" आप्तो व्याप्त इव ह्यसौ कार्यकरणसंघातेन स्यात्। किंच, सर्वगतत्वेऽपि सति यावन्मात्रमेव तस्य कार्यकरणसङ्घातेन व्याप्यते, तावन्मात्रभूत एवासौ लक्ष्यते, तावन्मात्रे हि प्रदेशे तस्य चैतन्यशक्तिरभिव्यज्यते, तप्तायति दर्भमुष्टिप्रक्षेपात् अग्न्यभिव्यक्तिवदिति। सूक्ष्मेण हि स्थूलं व्याप्यते न स्थूलेन सूक्ष्मम्, स्थूलं च कार्यकरणम्, सूक्ष्म आत्मा, तस्मादेवमाह ॥ ३। १५। २ ॥ (नि० नै० का० अ० ३, खं० १६)।

२६१ क्षेत्रज्ञभूतात्मनोः परिचय।

कोऽसौ सिद्धिमाप्नोतीत्याह—

योऽस्यात्मनः कारयिता त क्षेत्रज्ञ प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥ १२॥

य इति॥ अस्य लोकसिद्धस्यात्मोपकारकत्वादात्मनः शरीराख्यस्य यः कर्मसु प्रवर्तयिता तं क्षेत्रज्ञं पण्डिता वादन्ति। यः पुनरेव व्यापारान्करोति शरीराख्यः स पृथिव्यादिभूतारब्धत्वात् भूतात्मैवेति पण्डितैरुच्यते॥ १२॥ (कु० भ०)

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥ १३॥
तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं त व्याप्य तिष्ठतः॥ १४॥

२६२ परमात्मनः शरीरात् असंख्या जीवा भवन्ति।

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥ १५॥
(म० स्मृ० १२।१२-१५)

असंख्या इति॥ अस्य परमात्मनः शरीरादसंख्यमूर्तयो जीवाः क्षेत्रज्ञ शब्देनानन्तरमुक्ता लिङ्गशरीरावच्छिन्ना वेदान्त उक्तप्रकारेणाग्नेरिव स्फुलिङ्गा निःसरन्ति। या मूर्तय उत्कृष्टापकृष्ट-भूताग्निदेवरूपतया परिणतानि सर्वदा कर्मसु प्रेरयन्ति॥ १५॥ (कु० भ०)

२६३ जीवपरमात्मनोरभेदनिरूपणम्।

निः सरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तात्स्फुलिङ्गकाः।
सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि॥ ६७॥
(या० स्मृ० प्रा० अ० य० ध० प्र० ४)।

२६४ क्षेत्रक्षेत्रज्ञवि भागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय॥१३॥

१–१८ ज्ञानसहित क्षेत्रक्षेत्रज्ञका विषय।

श्री भगवानुवाच।

इदं शरीरं कौन्तेय! क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद् यो वेत्ति त प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥ क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥ तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्। स च यो यत् प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु॥ ३॥ ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभि-र्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥ महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥ इच्छा द्वेषः सुख दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः। एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥ ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥ सर्वतः पाणिपादन्तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥ बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥ अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥ ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥ इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः। मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥ (भ० गी० अ० १३।१-१८)

२६५ द्वात्रिंशत्पदेषु ८ क्षेत्रस्य पतिः। दै० का०

क्षेत्रस्य पतिः ॥ ८ ॥

क्षेत्रस्य पति। क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणस्तस्य पाता वा पालयिता वा।१।१४

"क्षेत्रस्य पतिः" कस्मात्? "क्षेत्रम्" तावत "क्षियते" निवासकर्मणः" तदाश्रयेणहि ग्रामे क्षियन्ति निवसन्ति कुटुम्बिनः। "तस्य पाता वा पालयिता वा" मध्यमः तत्कर्मोपपत्तौ हि क्षेत्रस्य क्षेत्रत्वसाफल्यम्, यदा मध्यमेन वृष्टं भवति, अथ क्षेत्रं सफलं भवति। विगृहीतमेव समाम्नातम्, निगमे तथा दृष्टत्वात् ॥ १०।१४।१॥

तस्यैषा भवति।

"तस्य एषा भवति"

"क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥"

क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेनेव जयामो गामश्वं पुष्टं पोषयितृ चाहरेति। 'स नो मृळतीदृशे'। बलेन वा धनेन वा। मृळतिर्दानकर्मा पूजाकर्मा वा ॥ १ ॥ ॥ १५ ॥

"क्षेत्रस्य पतिना वयं० (ऋ० सं ३,८, ६, १)" इति। वामदेवस्यार्षम्। क्षेत्रस्य पतये चरोः पुरोऽनुवाक्या। "क्षेत्रस्य पतिना" सुष्ठु "हितेन" केनचिदाप्तेन मित्रेण इव संयुक्ताः सन्तः "वयम्" "जयामः" गवाश्वादीनि धनानि पुष्टानि बलवन्ति

पोषयितॄणि पोषणाय समर्थानि उपपन्नामितद्द्रव्याणां चास्माकं क्षेत्रस्य पतिना त्वत्प्रसादादेव तानि भोक्तुं शक्तिरस्तु। कथम्? इति। 'आ'—इत्यस्यैव सर्गस्य सम्बन्धि क्रियापदमध्याजहार भाष्यकारः। "आहार"—इति। कोऽर्थ? उपजातशक्तयो वयमेवमाज्ञापयन्तः परिचारकानिदमाहरतेति सर्वद्रव्याणि यथादनुवीमहि, तथा क्षेत्रस्य पतिरस्मान् मृडयतु। "मृलनि दानकर्मा" "ईदृशे" धनलाभाय भोगाय चास्मान् ददातु, धारयतु, नित्यं स्थिरान् करोतु-इत्येतदाशास्महे ॥ १०।१५।१ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति।

"तस्य एषा अपरा भवति"—'सा पुनः (१)किमर्थम्? यस्य चरोः पुरा पुरोऽनुवाक्या, तत्र ब्राह्मणं भवति,—"इयं वै क्षेत्रं पृथिव्यस्यामदीनायां प्रतितिष्ठति"—इति, यतः परया वर्णलिङ्गयोपपादयति मध्यस्थानः क्षेत्रस्य पतिरिति, भक्तिमात्रं ब्राह्मणमिति]

"क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृलयन्तु ॥"

[नि० अ० १० ख० १४।१६]।

२६६ प्रकृतिः।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ ६१ ॥

सत्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिक गुणाः। संयोगविभागवत्त्वात्। लघुत्वच लघुगुरुत्वादिधर्मकत्वाच्च। तेष्वत्र शास्त्रे श्रुत्यादौ च गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात्। पुरुषपशुबन्धकत्रिगुणात्मकमहदादिरज्जुनिर्मातृत्वच्च प्रयुज्यते। तेषां सत्वादिद्रव्याणां या साम्यावस्थाऽन्यूनानतिरिक्तावस्था न्यूनाधिकभावेनासंहतावस्थेति यावत्। अकार्यावस्थेति निष्कर्षः। अकार्याऽवस्थोपलक्षितं गुणसामान्य प्रकृतिरित्यर्थः। यथा श्रुते वैषम्यावस्थायां प्रकृतिनाशप्रसङ्गात् ॥ सत्त्वं रजस्तम इति एषैव प्रकृतिः सदा। .. ॥ (सा० द० अ० १ सू० ६१ वि० भि० भा० स०)।

"शब्दरूपं पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रकृतिर्गुणः।
सर्वमेतदनेकार्थं दशानवगमे गुणाः ॥"—इति—

कतमे पुनस्ते? इति-पदजात[1]्यभिधेय[2]स्वर[3]संस्कार[4] गुण[5]विभाग[6]क्रम[7]विक्षेप[8]अध्याहार[9]स्यत्वप्रधान[10]ानि। तेषु चाभिधेयमपेक्ष्य निर्वचनं कर्तव्यम् उक्तं हि—

"धातूपसर्गावयवगुणसन्त्वं हि धातुजम्।
बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम् ॥
धातुजं धातुजाज्जातं समर्थार्थजमेव च।
वाक्यजं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्य पञ्चधा पदम् ॥" इति।

---

(१) "कस्मात्"

(१) पदजात्यनवगतम्,—"स्त्र" इति यथा, नाम, निपातो वा ?

(२) अभिधेयानवगतम्,—"शिताम" इति यथा।

(३) स्वरानवगतम्—"वन्ने न वायो" इति यथा।

(४) संस्कारानवगतम्,—"ईर्मान्तासः" इति यथा।

(५) गुणानवगनम्,— "कुरुत्तती" इति यथा।

(६) विभागानवगनम्,— "मेहना" इति यथा।

(७) क्रमानवगतम्,—"उपरमध्वं मे वचसे" इति यथा।

(८) विक्षेपानवगतम्,—"द्यावा नः पृथिवी" इति यथा।

(९) अध्याहारानवगतम्,— "दानमनसो नो मनुष्यान्" इति यथा।

(१०) व्यवधानानवगतम्,—"वायुश्च नियुत्त्वान्" इति यथा।

एकमपि पदं पदद्वितयं क्रियते—"पुरुपादः, पुरुपानदनाय" इति यथा।

पदद्वितयमपि चैकं पदं क्रियते,—"गर्भनिधार्नी सनितुः" इति यथा।

आख्यातमपि च नाम क्रियते,—"सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभज्यमाणाः इति यथा॥

एवमेषु निगमेषु शब्दार्थसंकरोऽनेकप्रकार उपेक्ष्यः, दृष्टानुविधानात् छन्दसि यथासम्भवमनुविधेयः॥ ४।३।२॥ (नि० नै० कां० अ० ४ खं ३)।

२६७ मेहना॥ ४॥ (खं० ४)

२६८ वर्णव्यवस्था।

समाननामरूपत्वाच्च वृत्तावप्यविरोधोदर्शनात्स्मृतेश्च॥ (वे० द० १।३।३०)।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥ तेषां ये यानि कर्म्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः। हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मौ ऋतानृते। तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते। ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः। यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नाना रूपाणि पर्य्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावायुगादिषु। यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। देवादेवैरतीतैर्हि रूपैः नामभिरेव च। (स्वा० शं० आ० भा०)।

समाननामरूपत्वात् (१) चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च॥ ३०॥

भा० कथं समाननामरूपत्वात् कल्पान्तरातीतैरिन्द्रादिभिः कल्पादौ सृज्यमानानां नामवाचकः शब्दो रूपमाकृतिः। कथं तुल्यनामरूपत्वं गम्यते दर्शनात्

स्मृतेश्च । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्य इति श्रुतेः ।

तथा सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । यथापूर्वस्मिन् कल्पे धाता प्रजापतिः सृष्टवांस्तथास्मिन्नपि कल्पे सूर्याचन्द्रमसावकरोदित्यर्थः । तथा यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं चर्छति गर्त्तं वा प्रपद्यत इत्युपक्रम्य तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यादिति । छान्दोग्यश्रुतिः । शौनकादिभिश्च मधुच्छन्दप्रभृतयोऽग्निमील इत्यादीनामृषयः स्मर्यन्ते । स्मृतिरपि । ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः । शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ यथाभिमानिनोऽतीताः तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह । देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥ इति

(भा० ब्र० सू० अ० १ प० ३ सू० ३०) ।

२६९ ## कामादि सृष्टिः ।

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

२७० ## धर्माधर्मविवेचनम् ।

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत ।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

२७१ ## स्थूलसूक्ष्माद्युत्पत्त्युक्तिः ।

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

२७२ ## प्राणिनां कर्मसापेक्षा सृष्टिः ।

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः । स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥ हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते । यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥ यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये । स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

(म० स्मृ० १।२५।३०) ।

२७३ ## आधानमन्त्रः ।

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ ५ ॥

(य० सं० ३।५) ।

उ०—भूर्भुवः स्वः। महाव्याहृतयः। प्रजापतेरार्षम्। गार्हपत्याहवनीययोराधानमन्त्राः। पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोका अभिप्रेयाः, ब्रह्मक्षत्रविशो वा वर्णाः, अन्नप्रजापशवो वा। श्रुतितो व्याख्यातमेतत्। इध्मपूर्वार्धं गृहीत्वा यजमानो जपति। द्यौरिव भूम्ना। उपरिष्टादारस्यैतद्यजुर्व्याख्येयं। तथाहि सुबोधं भवति। तस्याः ते तव हे पृथिवि देवयजनि देवा यस्यामिज्यन्ते इति देवयजनी तस्याः संबोधनं क्रियते हे देवयजनि, ते पृष्ठे उपरि। अग्निमन्नादम् अन्नस्यात्तारम्। अन्नाद्याय अन्नादनाय अन्नभक्षणाय। आदधे स्थापयामि। तस्याः पृथिव्याः पृष्ठेऽग्निमाधाय। द्यौरिव भूम्ना। यथा द्यौर्भूम्ना नक्षत्रबहुत्वेन वह्वी एवं पुत्रादिभिर्बहुभिर्भूयासम्। पृथिवीव वरिम्णा। यथा पृथिवी वरिम्णा उरुत्वेन सता सर्वप्राणिनामाश्रयभूता एवमहं महत्त्वेन सता सर्वप्राणिनामाश्रयभूतो भूयासम्। अथवा यथाक्रममेव व्याख्यायते। द्यौरिव भूम्ना भूयासम् पृथिवीव वरिम्णा भूयासम्। हे अग्ने, त्वत्प्रसादात् पृथिव्युच्यते। तस्याः ते तव पृथिवि देवयजनि, पृष्ठे उपरि अग्निमन्नादमन्नभक्षणाय आदधे। यस्यास्तव मन्वादयोऽपि अन्नाद्याय संवृताः संजाताः ॥ ५ ॥

म०—'दारुभिर्ज्वलन्तमादधाति भूर्भुव इति संभारेषु।' (का० ४।८।१) इति। 'भूर्भुवः स्वरिति पूर्ववदिति च' (४।८।१६) अस्यार्थः आपो हिरण्यमूषाखूत्करः शर्करेति, पञ्च संभारान्संपाद्य स्फ्येनोल्लिखितायां शुद्धायां भूमौ तान्संभारानवस्थाप्य तेषु शुष्ककाष्ठैर्ज्वलन्तमग्निं भूर्भुवः स्वरिति पञ्चाक्षराण्युच्चारयन्नादध्यात्। इदमाहवनीयाधानम्। एवमक्षरत्रयादग्नेर्गायत्र्यं श्रुत्योक्तम्। गायत्रीसहितस्याग्नेः प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वात्। अथ मन्त्रार्थः। एतेष्वाधानमन्त्रेषु भूरिति प्रथमा व्याहृतिः। भुव इति द्वितीया। स्वः इति तृतीया। एतास्तिस्रो व्याहृतयः पृथिव्यादिलोकत्रयनामानि। एतदुच्चारणपूर्वकं प्रजापतिना लोकत्रयस्य सृष्टत्वात्। अत एवाभिः स्थापयन् लोकत्रयमनेन स्मरेत्। एतासां व्याहृतीनां महिमा भूयादिति। भूर्भुवः स्वः शब्देन ब्रह्मक्षत्रविशो वा आत्मप्रजापशवो वा। सर्वे महद्यशा भूयासुरिति प्रार्थयन्नग्नीनादध्यादित्यर्थः। 'इध्मपूर्वार्धं गृहीत्वा द्यौरिव भूम्नेत्याहेति' (का० ४।८।१७) देवा इज्यन्ते यस्यां पृथिव्यां सा देवयजनी तथाविधे हे पृथिवि, तस्यास्ते तव पृष्ठे देवयजनयोग्यायास्तवोपरि। अन्नादमन्नस्य हुतस्यात्तारमग्निं गार्हपत्यादिरूपमादधे स्थापयामि। किमर्थम्। अन्नाद्याय। अन्नं च तदाद्यं च तस्मै आद्यस्यान्नस्यात्तुं योग्यस्यान्नस्य सिद्ध्यर्थम्। आहिताग्न्यादित्वात्परनिपातः (पा० २।२।३७) यद्वान्नस्याद्याय भक्षणाय। यस्याः पृष्ठेऽग्निमाधाय भूम्ना द्यौरिव भूयासमिति शेषः। बहोर्भावो भूमा तेन। यथा द्यौर्नक्षत्रबहुत्वेन बह्वी एवं पुत्रपश्वादिभिर्बहुर्भूयासम्। वरिम्णा पृथिवीव भूयासम्। उरोर्भावो वरिमा तेन। यथा पृथिवी उरुत्वेन सर्वप्राणिनामाश्रयभूता एवमहं महत्वेन सर्वप्राणीनामाश्रयभूतो भूयासम्। यद्वा पूर्वार्धस्यायमर्थः। किंभूतमग्निम्। भूम्ना द्यौरिव वर्तमानम्। यथा द्यौर्नक्षत्रादिबहुत्वेन युक्ता तथा

ज्वालाबहुत्वेन युक्तम्। किंच वरिम्णा पृथिवीव स्थितम्। यथा पृथिवी सर्वप्राण्याश्रयत्वरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेता तथा सर्ववस्तुशोधकत्वरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेतम्। अत एव क्वचिद्विधिवाक्ये अग्नये पावकायेत्याम्नातम्॥ ५॥

२७४ सामवेद की अशुचि ध्वनि।

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः।

सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥१२४॥ (म० स्मृ० ४।१२४)

ऋग्वेद इति ॥ सामगानश्रुतौ ऋग्यजुषोरनध्याय उक्तस्तस्यामनुवादः ऋग्वेदो देव एव देवतास्येति देवदैवत्यः। यजुर्वेदो मानुषो मानुषदेवताकत्वात्। प्रायेण मानुषकर्मोपदेशाद्वा मानुषः। सामवेदः पितृदेवताकत्वात्पित्र्यः। पितृकर्म कृत्वा जलोपस्पर्शनं स्मरन्ति तस्मात्तस्याशुचिरेव ध्वनिः न त्वशुचिरेव। अतस्तस्मिञ्छ्रूयमाणे ऋग्यजुषी नाधीयीत ॥ १२४॥

२७५ विष्णु के दो नाम

शिपिविष्टः ॥ ३७ ॥ विष्णुः ॥ ३८ ॥

शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः ॥

"शिपिविष्टः (३७)", विष्णु (३८)" "इति" एते "विष्णोः" एव "द्वे नामनी भवतः"। अत्र शिपिविष्ट-इत्येतद्गुणपदमनवगतम्, पक्षेण चानेकार्थम्. शिपिविष्टः शेप इव निर्वेष्टित इत्यर्थप्रतीतिः। अस्य सम्बन्धादत्र विष्णु-शब्दः समाम्नातः। यथा "अन्धाः" इत्यस्य सम्बन्धात् सोम-शब्दः "सोमो अन्धा"-इति। न त्वत्र प्राधान्येन विष्णु-शब्द समाम्नातः (१)देवतापरत्वात्। अनयोर्द्वयोरपि नाम्नोः यत् "पूर्वं" तत "कुत्सितार्थीयं भवति"-"इति" "औपमन्यवः" आचार्यो मन्यते। यथा च कुत्सितार्थीयं तथोदाहरणार्थमेव निब्रुवन् दर्शयिष्यति ॥ (नि० अ० ५ खं० ७ पृ० ३८०)।

"किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।

मा वर्पो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ॥"

२७६ वेद

विद्यते लभ्यते एव इति वेदः। (नि० अ० २ खं० ९ पृ० १९७)।

२७७ वेदादीनामनादित्वनिरुपणम्।

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा।

श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्च किंचन वाङ्मयम् ॥ १८९॥

यतो द्विविधादपि मुनि समूहाच्चत्वारो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदश्च नित्यभूता एवाऽऽनुपूर्व्या परम्परायाताः प्रवृत्तास्तथा श्लोका इतिहासात्मकाः। सूत्राणि च शब्दानुशासनमीमांसागोचराणि

(१) 'पदत्वा' ॥

भाष्याणि च सूत्रव्याख्यारूपाणि यदन्यदायुर्वेदादिकं वाङ्मयं तदपि यत्प्रकाशनप्रवृत्तं तथा विधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तकाः। एवंसति वेदस्यापि नानित्यतादोषप्रसंगः ॥ १८९ ॥

ततः किमिति आह—

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ १९० ॥

(या० स्मृ० प्रा० अ० य० ध० प्र० ४)।

वेदस्य नित्यत्वे सति तत्प्रामाण्यबलाद्वेदानुवचनादयः सत्वशुद्ध्यापादनद्वारेणात्मज्ञानस्य हेतव इत्युपपन्नं भवति ॥ १९० ॥

कपिल उवाच।

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः। द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत्। शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १ ॥ शरीरमेतत् कुरुते यद्वेदे कुरुते तनुम्। कृतशुद्धशरीरे हि पात्रं भवति ब्राह्मण ॥ २ ॥ आनन्त्यमत्र बुध्येदं कर्मणान्तदब्रवीमिते। निरागममनैतिह्य प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम् ॥ ३ ॥ धर्म्म इत्येव ये यज्ञान् वितन्वति निराशिष। उत्पन्नत्यागिनो लुब्धाः कृपासूयाविवर्जिताः। धनानामेष वै पन्थास्तीर्थेषु प्रतिपादनम् ॥ ४ ॥ एवं बहुविधा विप्रा पुराणा यज्ञवाहनाः। त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विन. ॥ १४ ॥ यजन्तोऽहरहर्यज्ञैर्निराशीर्बन्धना बुधाः। तेषां यज्ञाश्च वेदाश्च कर्माणि च यथागमम् ॥१५॥

(म० भा० शां० प० अ० २६९)।

२७८ अथ ऋग्विधानम्।

श्री वेदपुरुषायनमः॥ ॐ स्वयंभुवेब्रह्मणेविश्वगोप्त्रेनमस्कृत्वामंत्रदृग्भ्यस्तथैव। विवक्षुरस्म्यृग्विधानंपुराणं पुरादृष्टमृषिभिर्मन्त्रदृग्भिः ॥१॥ मंत्रेभ्योमंत्रदृग्भ्यश्चसमाम्नायानुपूर्वशः ॥ कर्मणामृषिदृष्टानांविधिंप्रोवाचशौनकः ॥ २ ॥ ऋषिभिर्विविधामंत्रादृष्टादृष्टप्रयोजनाः। प्रयोजनायचोद्दिष्टास्तस्मिंस्तस्मिन्प्रदर्शिताः ॥ ३ ॥ नानार्थानिचकर्माणिशांतिपुष्ट्यभ्युदयाणिच। सिद्ध्यश्चतपोमूलाः श्रद्दधानस्यकुर्वतः ॥ ४ ॥ स्तुत्यादयोयेविकाराः प्रदिष्टास्तथार्थंचादात्मृचुसूक्तेषुचैव ॥ यैर्यैः कामैर्ऋषिभिर्देवताश्च तुष्टूयंतेतान्छृणुष्वोच्यमानान् ॥ ५ ॥ आयुः स्वर्गो द्रविणंसूनवश्च चतुर्विधंमोक्षमाशास्यमग्रे। अन्येकामाः शतशः संप्रदिष्टाः संस्तुवद्भिर्ऋषिभिर्देवताश्च ॥६॥ सिद्धामन्त्राविविधा ब्राह्मणस्य फलंयच्छंति विधिवत्प्रयुक्ताः। सत्यंतेषां साधनसंयमश्च शमस्तितिक्षानसूयादमश्च ॥७॥ तस्माद्द्विजः प्रशांतात्माजपहोमपरायणः। तपस्यध्ययने युक्तोभवेद्भूतानुकंपकः ॥ ८ ॥ क्षत्रियोबाहुवीर्येणतरेदापदमात्मनः। धनेनवैश्यः शूद्रस्तुजपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ९ ॥ तपसास्वर्गमाप्नोतितपसाविंदते महत्। तपोयुक्तस्यसिध्यंति कर्माणिनियतात्मनः ॥ १० ॥ विद्वेषणंसंवननं विषघ्नंरागनाशनं। येनयेनार्थमृषिणायदर्थंदेवताः स्तुताः ॥ ११ ॥ स स कामः समृद्धश्चतेषांतथातथा। तानिकर्माणिवक्ष्यामि विविधानिचकर्मणाम् ॥ १२ ॥

(ऋ० सं० प० नि०)।

२७९ त्रयीविद्या

यद्दचैवहौत्रंक्रियतेयजुषाध्वर्यवंसाम्नोद्गीथंव्यारब्धात्रयीविद्याभवत्यथके-
नब्रह्मत्वंक्रियतइतित्रय्याविद्ययेतिब्रूयाद्यथैवयज्ञोयोयंपवतेतस्यवाक्चमनश्चवर्त-
न्यौवाचाचहिमनसाचयज्ञोवर्ततइयंवैवागदोमनस्तद्वाचात्रय्याविद्ययैकंपक्षंसंस्कु-
र्वंतिमनसैवब्रह्मासंस्करोतितेहैकेब्रह्माणउपाकृतेमातरनुवाकेस्तोमभागान्जपि-
त्वाभापमाणाउपासतेतद्धैतदुवाचब्राह्मणउपाकृतेप्रातरनुवाकेब्रह्माणंभाषमाणं-
दृष्ट्वाधर्मस्ययज्ञस्यांतरगुरितितद्यथैकपात्पुरुषोयन्नेकतश्चक्रोवारथोवर्तमानोभ्रेष-
न्येत्येवमेवसयज्ञोभ्रेषन्येतियज्ञस्यभ्रेषमनुयजमानोभ्रेषन्येतितस्माद्ब्रह्मोपा-
कृतेप्रातरनुवाकेवाचंयमस्यादोपांश्वंतर्यामयोर्होमादुपाकृतेपुपवमानेष्वोदृचोऽथ-
यानिस्तोत्राणिसशस्त्राण्यातेपांवषट्काराद्वाचंयमएवस्यात्तद्यथोभयतः पात्पु-
रुपोयन्नुभययश्चक्रोवारथोवर्तमानोनरिष्यत्येवमेवसयज्ञोनरिष्यतियज्ञस्यारिष्टि-
मनुयजमानोनरिष्यति ॥ ३३ ॥ (ऐ० ब्रा० प० पं० अ० ५ । ३३)।

त्रयो विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाँसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्नि-धनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोक्तम् ॥ १ ॥ स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वं ह भवति ॥ २ ॥ (छा० उ० अ० २ प्र० ख० २१)।

२८० वेदप्रशंसा ।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

चातुर्वर्ण्यमिति ॥ 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादिवेदादेव चातुर्वर्ण्यं प्रसिध्यति । ब्राह्मणीभूतमातापितृजनितत्वमिति तदुपजीवितया स्वार्गादिलोकोऽपि वेदादेव प्रसिद्धः । एवं ब्रह्मचर्याद्याश्रमा अपि चत्वारो वेदमूलकत्वाद्वेदादेव प्रसिध्यन्ति । किं बहुना । यत्किंचिदतीतं वर्तमानं भविष्यं च तत्सर्वम् 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग्' इत्यादिन्यायेन वेदादेव प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

शब्द इति ॥ य इह लोके परलोके च शब्दादयो विषयाः प्रसूयन्ते प्रयुज्यन्ते एतेऽपि प्रसूतयः प्रसूतयश्च गुणाश्चेति सत्वरजस्तमोरूपाः तन्निबन्धनवैदिककर्महेतुत्वाद्वेदादेव प्रसि-ध्यन्ति ॥ ९८ ॥

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥

बिभर्तीति ॥ वेदशास्त्रं नित्यं सर्वभूतानि धारयति । तथा च 'हविरग्नौ हूयते सोऽग्निरादित्यमुपसर्पति तत्सूर्यो रश्मिभिर्वर्षति तेनान्नं भवति अथेह भूतानामुत्पत्तिः स्थितिश्चेति हविर्जायते' इति ब्राह्मणम् । तस्माद्वेदशास्त्रगम्य जन्तोर्वैदिककर्माधिकारि पुरुषस्य प्रकृष्टं पुरुषार्थसाधनं जानन्ति ॥ ९९ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्य च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥ (म० स्मृ० १२।९७-१००) ।

सेनापत्यमिति ॥ सेनापत्यं, राज्यं दण्डप्रणेतृत्वं, सर्वभूम्याधिपत्यादीन्येतत्सर्वमुक्तप्रयोजनं वेदात्मकशास्त्रज्ञ एवार्हति ॥ १०० ॥ (कु० भ०)

२८१ वेदादेव ब्रह्मपरिज्ञानम् ।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९७ ॥
(म० स्मृ० १२ । ९४) ।

पितृदेवेति ॥ पितृदेवमनुष्याणां हव्यकव्यान्नदानेषु वेद एव चक्षुरिव चक्षुरनश्वरं तन्मूमाणत्वादसन्निकृष्टफलकव्यदानादौ प्रमाणान्तरानवकाशात् । अशक्यं च वेदशास्त्रं कर्तुम् । अनेना पौरुषेयतोक्ता । अप्रमेयं च मीमांसादिन्यायनिरपेक्षतयानवगम्यमानप्रमेयमेवं व्यवस्था । तनश्च मीमांसया व्याकरणाद्यैश्च सर्वब्रह्मात्मकं वेदार्थं जानीयादिति व्यवस्थितम् ॥९४॥ (कु० भ०)

२८२ वेदादि की उत्पत्ति ।

शौनक उवाच ।
पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः ।
वेदाश्च कतिधा व्यस्ता एतत्सौम्याभिधेहि नः ॥
सूत उवाच ॥

समाहितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥ ३७ ॥ यदुपासनया ब्रह्मन्योगिनो मलमात्मनः ॥ द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥३८॥ ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारोऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मन ॥ ३९ ॥ शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक् ॥ येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥ ४० ॥ स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परममात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥ ४१ ॥ तस्य ह्यसंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह । धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥ ४२ ॥ ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः । अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम् ॥ ४३ ॥ तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः ॥ सव्याहृतिकान्सोङ्कारांश्चातुर्होत्रविवक्षया ॥ ४४ ॥ पुत्रानाध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन्ब्रह्मकोविदान् । ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन् ॥ ४५ ॥ ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः । चतुर्युगेष्वथ व्यस्ताद्वापरादौ महर्षिभिः ॥ ४६ ॥ क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान्दुर्मेधान्वीक्ष्य कालतः । वेदान्ब्रह्मर्षयो व्यस्यन्हृदिस्थाच्युतनोदिताः ॥ ४७ ॥ अस्मिन्नप्यन्तरे

ब्रह्मन् ब्रह्मन्भगवाँल्लोकमायनः ॥ ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये ॥ ४८ ॥ पराशरात्सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः। अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥ ४६ ॥ ऋगथर्वयजुः साम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः। चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव ॥ ५० ॥ (श्री म० भा० स्कं० १२ अ० ६ पृ० १०४३)

२८३ चार वर्णों की उत्पत्ति।

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह। यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः ॥ ३० ॥ बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः। यो जातस्त्रायते वर्णान्पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥ ३१ ॥ विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः। वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां य समवर्तयत् ॥ ३२ ॥ पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषाधर्मसिद्धये। तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥३३॥ एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्। श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्धयर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ॥ ३४ ॥

(श्री० म० भा० स्कं ३ अ० ६)।

२८४ एक।

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाᳪ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

(बृ० उ० अ० २ ब्रा० ५।१५)।

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्। तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥ १४४ ॥ ब्रह्मखानिलतेजांसि जलं भूश्चेति धातवः। इमे लोका एव चात्मा तस्माच्च सचराचरम् ॥१४५॥ मृद्दण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो यथा घटम्। करोति तृणमृत्काष्ठैर्गृहं वा गृहकारकः ॥ १४६ ॥ हेममात्रमुपादाय रूपं वा हेमकारकः। निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारकः ॥ १४७ ॥ कारणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिषु। सृजत्यात्मानमात्मा च सम्भूय कारणानि च ॥ १४८ ॥

(या० स्मृ० प्रा० अ० य० ध० प्र० ४)

यश्चैषोऽग्नौ यश्चायं हृदये यश्चासा आदित्ये सएष। एकाइत्येकस्य हैकत्वमेति य एवं वेद ॥ १७ ॥ (मै० उ० अ० ६)।

य एको जालवानीशत ईशानीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥ (श्वे० उ० अ० ३।१)

तथा चोक्तं भागवते—

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च। पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः। इति नानाप्रसङ्ख्यानं तत्त्वानाम् ऋषिभिः कृतम्। सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम्, इति। (सां० द० अ० १ पृ० ४४)

यन्निष्ठानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मक. ।
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया ॥४॥ (श्री० म० भा० स्कं०२ अ०५)

२८५ एक ही जगत् ।

"अभी ३ दमेकम् (ऋ० सं० ८, १, ६, २) ।

अध्यात्मिको मन्त्रः । "इदं" तावद् जगत् 'एकः' एव अहम् "अभि अस्मि" अभिभवामि" अभिभूय च भवामि वर्ते । अस्य सर्वस्याहमेकोऽधिपतिरित्यभिप्रायः ॥
(नि० अ० ३ ख० १०)

२८६ गेहे कः ३।१।१४४

गेहे कर्तरि ग्रहे कः स्यात् । गृह्णति धान्यादिकमिति गृहम् । तात्स्थ्याद् गृहा दाराः ॥
(सि कौ० कृ० पू० पृ० ४२६)

२८७ कः ॥ १४ ॥

कः कमनो वा, क्रमणो वा, सुखो वा ॥ २ ॥ २२ ॥ "कः (१४)"—इति वक्तव्यम् । स पुनरेप महानात्मा सर्वात्मा पूर्णबुद्धिसतत्वः उदाहरिष्यति च "अथैनं महान्तमात्मानम्"—इत्यधिकृत्य—"क ईंपते तुज्यत (ऋ० सं० १, ६, ८, २)"—इति । स कथं मध्यमो भवति ? भवति हि तस्मिन् सूक्ते "आपो ह यद् बृहती-र्विश्वमायन् गर्भं दधाना: (ऋ० सं०८, ७, ४, २)"—इति। विज्ञायते च "प्रजापतिर्वै कः"—इति प्रजापतिश्च मध्यमः । तथा च मन्त्रवर्णो भवति राज्ञोऽभिषेकमधिकृत्याश्वमेधे- "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः"—इति सप्तानां प्रथमा, तयोपविष्टादभिषेकस्य जुहुयादिति । तस्माद् भवति मध्यमः ॥ स कस्मात् "कः" ? "कमनः वा" कामिनां काम्येष्वर्थेपु साधनम् । "क्रमणो वा" क्रमणसाधनम्, स्वयमेव वा क्रामति । "सुखः वा" काममेव वा, कः सुख इत्यर्थः ॥ १०।२२।२ ॥

तस्यैषा भवति—
"तस्य एषा भवति"—*

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥"

हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा ॥ गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा ॥ यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति, समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव स धारयति पृथिवीं च दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातम् । विधतिदानकर्मा ॥ १ ॥

"हिरण्यगर्भः (ऋ० सं० ८, ७, ३, व० १।१०, १०, ९ सू० १)"

इति । हिरण्यगर्भस्यैवार्षम् । सर्वात्मकत्वात्तदार्षत्वेऽपि मन्त्रस्य प्रथमपुरुषप्रयोगः अनिरुक्तिनिरुक्तः, अथवा —परस्य ब्रह्मणो या हिरण्यगर्भावस्था प्रतिकल्पमाविर्भावतिरोभावधर्मिणी बुद्धिपर्याय नित्या, तस्यां च नित्यो मन्त्रो विवक्षिताभिधानाभिधातृक आश्रयमात्रेणाभिधानारमुपादाय प्रवर्तमानोऽनुवक्तीत्यविवक्षितः पुरुषप्रयोगः, कृतकत्वे हि नियमत एवोत्तमपुरुषप्रयोगो मन्त्रस्याभविष्यत् । "भूतस्य" अस्य उत्पन्नस्य स्थावरजङ्गमस्य जगतः "हिरण्यगर्भः" एव "अग्रे" "समवर्त्तत" समभवत् उदपद्यत । तमुत्पन्नमन्विदं सर्वमुत्पेदे । स च पुनरग्रे जातः सन् तस्य पश्चाद्भूतस्य "एकः" असपत्नः अद्वितीयः "पतिः" पाता रक्षिता ईश्वरः स्वतन्त्रः "आसीत्"। कथम् ? इति, "स दाधार" यतः पतिः, अतः स एव दाधार, स एव धारयति, अद्यत्वेऽपि । किम् ? इति । "पृथिवीम् उत द्याम्" । पृथिवीम् अन्तरिक्षम् अपि च द्यां द्युलोकम् । अपि च 'इमां" भूमिम्, अन्तरमनुप्रविष्टो बहिश्च वर्षाद्युपकारेण। योऽयमेवं भवति अतिमहानुभावः कः, तस्मात् अस्मै 'कस्मै" काय "देवाय" "हविषा विधेम" हविर्दद्मः । अथवा—अनेन चरुलक्षणेनेन आज्य लक्षणेन वा "हविषा" तं वयं परिचरेम ॥ (१) "विध तदानकर्मा"— इति । तस्माद्धविःशब्दनतिरेव ज्यायसी । शतकृष्णलस्य पुरोऽनुवाक्या । आघारश्च प्रजापत्ये पशावनेन मन्त्रेण ॥ अथ "हिरण्यगर्भः" कस्मात् ? स हि "हिरण्यमयः" विज्ञानमयः । "गर्भः" सर्वभूतानां तत्कृतत्वादन्तःप्रकाशस्य । हिरण्यमयश्चासौ गर्भश्चेति समानाधिकरणः । "हिरण्यमयः गर्भः अस्य इति वा" शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिभावेनैतमपेक्ष्य परमात्मानं च विज्ञानप्रकाशमात्रसतत्त्वं सर्वविशेषहारित्वाद्धिरण्यगर्भमपेक्ष्य तत्प्रकृतित्वं च क्षेत्रज्ञस्यापेक्ष्य सोऽस्य हिरण्यमयो हिरण्यप्रकृतिगर्भ इति हिरण्य गर्भः ॥

अथ "गर्भ" कस्मात् ? 'गृभेः" धातोः गृणात्यर्थे वर्त्तमानस्य, सर्वस्य स्तुत्यो हि गर्भः ॥ "गिरत्यनर्थान् इति वा" सर्वाननर्थानसौ गिरति नाशयति ॥ अथ पुनरयं स्त्रीगर्भः कस्मात् ? इत्यत आह—"यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति, गुणाश्चास्या गृह्यन्ते, अथ गर्भो भवति' स्यवयवः स्त्री—रक्तम्, तत् यदा असौ पुरुषात् शुक्रावस्थान् गुणान् गृह्णाति आत्मानं सम्पृणक्ति अस्थिस्नायुमज्जानः गुणाश्चास्याः रक्तावस्थाः त्वङ्मांसशोणितानि पौरुषेण शुक्रेण गृह्यन्ते । तथैवमितरेतरकोशग्रहणव्यतिषङ्गे रक्तशुक्रयोः स्त्रीगर्भो भवति । अथवा-यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति पुरुषस्य प्रेम्णा, गुणाश्चास्याः प्रेम्णा पुरुषेण गृह्यन्ते, तदितरेतरानुरागात् प्रमोदः । प्रमुदितयोः सम्पर्कात् गर्भग्रहणं च । तदेवं गर्भग्रहणहेतुरसोऽयमिति प्रहेर्गर्भः ॥

१०।२३।१॥ (नि० अ० १० खं० २२-२३)।

अथास्याभिधान्तराणिलोकसुज्ञानार्थमाह—

हिरण्यगर्भोभगवानेपच्छन्दसिपठ्यते ।
आदित्योह्यादिभूतत्वात्प्रसूत्यासूर्यउच्यते ॥ १५ ॥

(सू० सि० स० १२।१५)।

---

(१) 'विधतिदी' ॥

एषसङ्कर्षणांऽशोऽनिरुद्धभगवान्षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नश्छन्दसिवेदेहिरण्यगर्भः सुवर्णाण्डमध्यरूपगर्भेस्थितत्वात्पठ्यतेनिरूप्यते। वेदेऽस्यहिरण्यगर्भइति प्रसिद्धमभिधानमित्यर्थः। हिर्निश्चयेनादित्यः। प्रथममभिव्यक्तत्वादुच्यते। प्रसूत्या॥ अस्माज्जगतोऽभिव्यक्ततयायमनिरुद्धःसूर्यउच्यते॥ "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रेभूतस्यजातः पतिरेकासीत्॥" इति श्रुतिः॥ १५॥

२८८ यजुर्वेदसृष्टिः।

एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत्सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत॥२८

म०—'रेतःसिग्वेलायां च सप्तदश सर्वतो नव दक्षिणेनानूकं सृष्टीरेकयास्तुवतेति प्रतिमन्त्रम्' (का० १७।१०।१८)। सर्वासु दिक्षु रेतःसिग्वेलायां सृष्टिसंज्ञाः सप्तदशेष्टका उपदधाति तन्मध्ये प्रागनूकं दक्षिणेन नव अर्थादष्टावुत्तरेणेति सूत्रार्थः। सप्तदश यजूंषि सृष्टीष्टकादेवत्यानि। अत्र निदानम् प्रजापतिर्भूतानि मृत्योरेव मुक्त्वा प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति विचिन्त्य प्राणाधिष्ठातृदेवान् दिगादीनूचे युष्माभिः सह परमात्मानं स्तुत्वेमाः प्रजा जनयामीति। देवा ऊचुः केन स्तोष्यामः। स ऊचे मया युष्माभिश्चेति। तथेत्युक्त्वा प्राणैः प्रजापतिना चास्तुवतेति। तथाच श्रुतिः तद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति॥ १॥ स प्राणानब्रवीद्युष्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानीति ते वै केन स्तोष्यामह इति मया चैव युष्माभिश्चेति तथेति ते प्राणैश्चैव प्रजापतिना चास्तुवत' (८।४।३।१२) इति। प्रजापतिरेकया वाचा सहात्मानमस्तुवत स्तुतवान्। वचनव्यत्ययः। 'वाग्वा एका वाचैव तदस्तुवत' (८।४।३।३) इति श्रुतेः। प्रजा अधीयन्त उदपाद्यन्त, प्रजापत्यर्थमस्थाप्यन्तेति वा। सृष्टानां प्रजानां प्रजापतिरेवाधिपतिरासीत्स्वाम्यभूत। एवं षोडश मन्त्रा व्याख्येयाः। 'तिसृभिः प्राणोदानव्यानैरस्तौत् ब्रह्म ब्राह्मणजातिः स्रष्टा ब्रह्मणस्पतिब्राह्मणजाते. स्वाम्यभूत्। 'त्रयो वै प्राणा प्राणोदानव्यानास्तैः, (८।४।३।४) इति श्रुते पञ्चभिः प्राणैरस्तुवत पञ्च भूतानि सृष्टानि भूतानां पतिर्देवस्तेषां स्वाम्यभूत्। य एवेमे मन. पञ्चमा प्राणास्तैरेव तदस्तुवत' (८।४।३।५) इति श्रुतेः। सप्तभि. श्रोत्रचक्षुर्नासावाग्रूपै सप्तशीर्षण्य प्राणैरस्तुवत। ततः सप्त ऋषय. सृष्टा धाता जगत्स्रष्टा यो देव स्वाम्यभूत्। 'य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तैरेव' (८।४।३।६)। इति श्रुतेः॥ २८॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसंस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त

संवत्सरोऽधिपतिरासीत्पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्स-
प्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥२६॥

भ० नवभिः सप्त शिरः प्राणा द्वावध इति नवप्राणैः प्रजापतिरस्तौत्। तत. पितरः अग्निष्वात्तादयः सृष्टाः। अदितिः अखण्डिता प्रजापतिशक्तिः सृष्टानां पितृणामधिपत्नी स्वामित्वेनाधिकं पालयित्र्यासीत्। 'नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चो द्वौ तैः' (८।४।३।७) इति श्रुतेः। एकादशभि. दश प्राणा आत्मैकादशस्तैरस्तुवत। ऋतवः वसन्ताद्याः सृष्टाः आर्तवाः ऋतुपालका देवविशेषा. स्वामिनोऽभूवन्। 'दश प्राणा आत्मैकादश.' (८।४।३।८) इति श्रुतेः। त्रयोदशभिः दश प्राणाः द्वौ पादौ एक आत्मेति तैरस्तौत्। ततो मासाः चैत्रादयः सृष्टाः। मासाभिमान्ययनद्वयात्मकः संवत्सरः तेषामधिपतिरासीत्। 'दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोदशः' (८।४।३।६) इति श्रुतेः। पञ्चदशभिः दश हस्ताङ्गुलयः करौ बाहू नाभेरूर्ध्वभागश्च तैरस्तुवत। ततः क्षत्रं क्षत्रियजातिः सृष्टा। इन्द्रः ऐश्वर्यशाली तदभिमानी देवः स्वाम्यभूत्। 'दश हस्त्या अङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशम्' (८।४।३।१०) इति श्रुतेः। सप्तदशभिः दश पादाङ्गुलयः ऊरू जानुनी पादौ नाभेरधोभागश्चेति तैरस्तौत् तदा ग्राम्याः पशवः गवादयः सृष्टाः बृहस्पतिस्तेषां स्वाम्यभूत्। दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तत्सप्तदशम् (८।६।३।११) इति श्रुतेः ॥ २६ ॥

नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्तामेकविंश-
त्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत्त्रयोविंशत्यास्तुवत
क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत्पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पशवो-
ऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत्सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा
आदित्या अनुव्यायस्त एवाधिपतय आसन् ॥ ३० ॥ (य०सं० १४।२८-३०)।

भ० नवदशभि दश हस्ताङ्गुलयः ऊर्ध्वाधःस्थच्छिद्ररूपा नव प्राणास्तैरस्तौत्। ततः शूद्रार्यौ शूद्रवैश्यावसृज्येतां सृष्टौ। अर्यः स्वामिवैश्ययो.। अहोरात्रे तयोः स्वामित्वेनास्ताम्। 'दश हस्त्या अङ्गुलयो नव प्राणाः' (८। ४।३।१२) इति श्रुतेः। एकविंशत्या विंशतिः करपादाङ्गुलयः आत्मा चेति एकविंशत्यास्तौत्। ततः एकशफाः पशवोऽश्वादयः सृष्टाः। एकं शफं खुरः प्रतिपादं येषां ते एकशफाः। शफं क्लीबे खुर. पुमान् इत्यमरः। वरुणस्तेषामधिपति रासीत्। 'दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविंश' (८।४।३।१३) इति श्रुतेः। त्रयोविंशत्या विंशतिः करपादाङ्गुलयः पादावात्मा चेति तैस्तु ते क्षुद्राः पशवो-

ऽजादयः सृष्टाः तेषां पूषा स्वाम्यभूत्। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविंशः' (८।५।३।१४) इति श्रुतेः। पञ्चविंशत्या त्रिंशतिः कर-पादाङ्गुलयः करौ पादावात्मेति तैरस्तुवत तदारण्या वनस्थाः पशवः कृष्णमृ-गादयः सृष्टास्तेषां वायु. स्वाम्यभूत। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वा-र्यङ्गान्यात्मा पञ्चविंशः' (८।४।३। १५) इति श्रुतेः। सप्तविंशत्या करपादाङ्गुलयः द्वौ भुजावूरू चात्मेति तैरस्तुवत ततो द्यावापृथिवी व्यभूत कौ व्यैतां विशेषेणागच्छतामित्यर्थः। विपूर्वादिण् गताविति धातोर्लङि प्रथमाद्वि-वचनम्। वसवोऽष्टौ रुद्रा एकादश आदित्या द्वादशानुव्यायन् अन्वगच्छन् अनुगता.। त एव स्वामिनोऽभूवन्। 'दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वा-र्यङ्गानि द्वे प्रतिष्ठे आत्मा सप्तविंशः' (८।४।३।१६) इति श्रुते. ॥३०॥

२८६ युधिष्ठिरनारदसम्वादसदाचारनिर्णय ॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मन.।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदा युतः प्रपच्छ भूयस्तनयं स्वयंभुवः ॥१॥

॥ युधिष्ठिर उवाच ॥

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्। वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान् विन्दते परम् ॥ २ ॥ भवान् प्रजापते. साक्षादात्मज, परमेष्ठिनः। सुतानां संमतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभि. ॥ ३ ॥ नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदु.। करुणा. साधव. शान्तास्त्वद्विधा न तथाऽपरे ॥ ४ ॥

॥ नारद उवाच ॥

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे। वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखा-च्छ्रुतम् ॥५॥ योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मत.। लोकानां स्वस्तयेऽध्या-स्ते तपोबदरिकाश्रमे ॥६॥ धर्ममूलं हि भगवान्सर्ववेदमयो हरिः। स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ॥ ७ ॥ सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अ-हिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥८॥ संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनेनात्मविमर्शनम् ॥९॥ अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥ १० ॥ श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥११॥ नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥१२॥ संस्कारा यत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्। इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्। जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥ १३ ॥ विप्रस्याध्यय-नादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः ॥ राज्ञो वृत्तिः प्रजा गोप्तुरविप्राद्वा करादिभिः ॥ १४ ॥ वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः ॥ शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो

भवेत् ॥ १५ ॥ वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम् ॥ विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसो चोत्तरोत्तरा ॥ १६ ॥ जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः । ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥ १७ ॥ ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्त्या कथंचन ॥ १८ ॥ ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् मृतं तु नित्ययाञ्चास्यात्प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ १९ ॥ सत्यानृतं तु वाणिज्य श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् वर्जयेत्तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सितनाम् । सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ॥ २० ॥ शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिराजवम् । ज्ञानं दयाऽच्युतात्मत्वं सत्यं ब्रह्मलक्षणम् ॥ २१ ॥ शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा । ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ॥ २२ ॥ देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् । आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम् ॥ २३ ॥ शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया । अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेय सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥ २४ ॥ स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषाऽनुकूलता । तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥ २५ ॥ संमार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः । स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥ २६ ॥ कामैरुच्चावचैः सध्वी प्रश्रयेण दमेन च । वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम् ॥ २७ ॥ संतुष्टाऽलोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् । अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥ २८ ॥ या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा । हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते । २९ । वृत्तिः संकरजातीनां तत्तत्कुलकृताभवेत् । अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेऽवसायिनाम् ॥ ३० ॥ प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगेयुगे । वेददृग्भिस्मृतो राजन्प्रेत्य चेह च शर्मकृत् ॥ ३१ ॥ वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत । हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ॥ ३२ ॥ उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात् । न कल्पते पुन सूत्या उप्तं बीजं च नश्यति ॥३३॥ एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया ॥ विरज्येत यथा राजन्नाग्निवत्कामबिन्दुभि ॥ ३४ ॥ यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् । यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

इति श्री मद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नामैकादशोऽध्याय ॥ ११ ॥

२६० भक्तिहीनानां का निष्ठा । इत्यादि ।

राजोवाच ।

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमा ॥
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाऽविजितात्मनाम् ॥ १ ॥

चमस उवाच ॥

मुखबाहूरुपादेभ्य पुरुषस्याश्रमैः सह ॥ चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादय. पृथक् ॥ २ ॥ य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ॥ न भजन्त्यवजानन्ति

स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ ३ ॥ दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः । स्त्रियः
शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥ ४ ॥ विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः
पदान्तिकम् । श्रौतेन जन्मनाऽथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥ ५ ॥ कर्मण्यकोविदाः
स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः । वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरो-
त्सुकाः ॥ ६ ॥ रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः । दाम्भिका मानिनः पापा
विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥ ७ ॥

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो गृहेषु मैथुन्यसुखेषु चाशिषः
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥ ८ ॥
श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान्खलाः ॥ ९ ॥
सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥ १० ॥
लोके व्यवायाऽमिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ ११ ॥
धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥ १२ ॥
यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥ १३ ॥

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः । पशून्द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः
प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥ १४ ॥ द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन्बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥ १५ ॥ ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चाती-
ताश्च मूढताम् । त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥ १६ ॥ एत आत्म-
हनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः । सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः
॥ १७ ॥ हित्वाऽत्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः । तमो विशन्त्यनिच्छन्तो
वासुदेवपराङ्मुखाः ॥ १८ ॥

राजोवाच ।

कस्मिन्काले स भगवान्किंवर्णः कीदृशो नृभिः ।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥ १९ ॥

करभाजन उवाच ।

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः । नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधि-
नेज्यते ॥ २० ॥ कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः । कृष्णाजिनोपवीताक्षा-
न्बिभ्रद्दण्डकमण्डलू ॥ २१ ॥ मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः ।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥ २२ ॥ हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगे-
श्वरो मनुः । ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥ २३ ॥ त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ

चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः। हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥ २४ ॥ तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम्। यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥ विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः। वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥२६॥ द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः ॥ श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥ २७ ॥ तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम्। यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृपः ॥ २८ ॥ नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च। प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ २९ ॥ नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने। विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ३० ॥ इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम्। नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ॥ ३१ ॥ कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्। यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥ ३२ ॥

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३३ ॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३४॥

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान्युगवर्तिभिः। मनुजैरिज्यते राजञ्छ्रेयसामीश्वरो हरिः ॥ ३५ ॥ कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः। यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥ ३६ ॥ न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह। यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥ ३७ ॥ कृतादिषु प्रजा राजन्कलाविच्छन्ति संभवम्। कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥ ३८ ॥

(श्री म० भा० स्क० ११ अ० ५)।

२६१ भूगोल

ननुसर्वत्राकाशस्यसत्वाद्ब्रह्माण्डमध्यस्थेनब्रह्मणाग्रहनक्षत्राणांभूमेश्चावस्थानंब्रह्माण्डबहिराकाशेकृतमथवा ब्रह्माण्डान्तराकाशेकृतामित्यतआह—

ब्रह्माण्डमेतत्सुषिरंतत्रेदंभूर्भुवादिकम्।
कटाहद्वितयस्यैवसम्पुटं गोलकाकृति ॥ २६ ॥ (सू० सि० अ० १२।२६)।

एतत्प्रागुक्तं ब्रह्मणाधिष्ठितं सुवर्णाण्डं सुषिरमवकाशात्मकं तत्रावकाशेइदं जगत् भूर्भुवः स्वर्गात्मकमवस्थितं न बहिः। नन्वण्डस्यगोलाकारत्वेनान्तरावकाशात्मकत्वमसम्भवतीत्यत आह कटाहद्वितयस्येति। कटाहोऽर्धगोलाकारं सावकाशं पात्रं तस्यद्वितयं द्वयं समतस्य। एवकारो न्यूनाधिकव्यवच्छेदनकार्थः। सम्पुटमाभिमुख्येनमिलितं गोलकाकृतिर्गोलाकारः स्यात्। तथा च नक्षतिः ॥ २६ ॥

२९२ ❀ आर्यावर्त्त देशादि ❀

बृहदारण्यकोपनिषत् ।

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः स प्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः स प्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥ (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ६ । १९) ।

(क) महाभारत

यो मर्त्यं प्रतिपद्येत आयुर्जीवितमात्मनः । यज्ञमेकान्ततः कृत्वा तत्संन्यस्य तपश्चरेत ॥ १० ॥ पुण्यमाहु कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात्सरस्वतीम् । सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ ११ ॥ यत्रावगाह्य पीत्वा च नैनं श्वोमरणं तपेत् । महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे ॥ १२ ॥ कालोदकं च गन्ताऽसि लब्धायुर्जीविते पुनः । सरस्वतीदृषद्वत्यो संगमो मानस. सर. ॥ १३ ॥ स्वाध्यायशील. स्थानेषु सर्वेष्वेवमुपस्पृशेत् त्यागधर्मः पवित्राणां सन्यासं मनुरब्रवीत् ॥ १४ ॥
(म० भा० शां० पं० आ० ध० अ० १५२) ।

(ख) वशिष्ठस्मृति

दक्षिणेन हिमवत उत्तरेण विंध्यस्य ये धर्मा ये चाचारास्ते सर्वे प्रत्येतव्याः न ह्यन्ये प्रतिलोमकल्पधर्मा । एतदार्यावर्तमित्याचक्षते । गंगायमुनयोरंतराप्येके । यावद्वा कृष्णमृगो विचरति तावद्ब्रह्मवर्चसमिति । (व० स्मृ० अ० १) ।

(ग) सूर्यसिद्धान्त ।

अथासांनामानि द्वीपोस्थितस्यजम्बूद्वीपादिभागस्थितवर्षाख्यपारिभाषिकविभागेष्वित्यर्थंच श्लोकत्रयेणविशदयति ।

भूवृत्तपादेपूर्वस्यां यमकोटीतिविश्रुता । भद्राश्ववर्षे नगरीस्वर्णप्रकारतोरणा ॥ ३८ ॥ याम्यायां भारतेवर्षेलङ्कातद्वन्महापुरी । पश्चिमेकेतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्तिता ॥ ३९ ॥ उदक्सिद्धपुरीनाम कुरुवर्षेप्रकीर्तिता । तस्यां सिद्धामहात्मानोनिवसन्तिगतव्यथाः ॥ ४० ॥

(सू० सि० अ० १२।३८—४०) ।

भा०—भूगोलउभयत्रदण्डाकारोमेरुर्यत्रनिर्गतस्तत्स्थानाभ्यां । वृत्ताकारसूत्रेणोर्ध्वाधरेणभूगोलस्यखण्डद्वयंपूर्वापरतिर्यग्वृत्ताकारंसूत्रेणोर्ध्वाधोभूमेः खण्डद्वयं तेन भूगोलेवप्राकाराश्चत्वारोभूम्यंशास्तत्रोर्ध्वस्थपूर्वंवप्रेभूम्यां यः समुद्रपरिधिस्तस्यचतुर्थांशे भद्राश्वसंज्ञकवर्षेपूर्वस्मिन् नूर्ध्वाधः शकलसन्धौसुवर्णघटिताः प्रासादास्तोरणानिचयस्यामेतादृशीपुरीयमकोटीतिसंज्ञया विश्रुताविख्याता याम्यायाभूर्ध्वशकलद्वयसंधौमेरुस्तस्यदक्षिणत्वाद्भारतसञ्ज्ञवर्षे लङ्कासञ्ज्ञामहानगरीतद्वत्स्वर्णप्राकारतोरणाविश्रुतेत्यर्थः । पश्चिमेपश्चिमशकलाधःस्थशकलसन्धौकेतुमालसंज्ञे-

वर्षरोमकसञ्ज्ञनगराउक्ता । उद्क् । अथः शकत्रद्वयसन्धोकुरुसञ्ज्ञकवर्षेसिद्धपुरी-नामनगरीप्रोक्ता । अस्याः पुर्याः सिद्धपुरीत्वमन्वर्थमित्याह । तस्यामिति । सिद्ध-पुर्यां सिद्धायोगाभ्यासका अस्मदादिभ्यो महानुत्कृष्टआत्मायेषां ते गतव्यथा दुःख-रहितानिरन्तरावसन्ति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

(घ) सिद्धान्तकौमुदी

त्र्येण्या (५) च शलल्येति गृह्यसूत्रम् । त्रीण्येतानि यस्या इति बहुव्रीहिः ॥

(ङ) मनुस्मृति ।

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

सरस्वतीति ॥ सरस्वतीदृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः । देवनदीदेवनिर्मित-शब्दौ नदीदेशप्राशस्त्यार्थं ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

तस्मिन्देश इति । तस्मिन्देशे प्रायेण शिष्टानां संभवात्तेषां ब्राह्मणादिवर्णानां संकीर्णजाति-पर्यन्तानां य आचारः पारंपर्यक्रमागतो न रिचदानीतनः स सदाचारोऽभिधीयते ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्रमिति । मत्स्यादिशब्दा बहुवचनान्ता एव देशविशेषवाचकाः । पञ्चालाः कान्य-कुब्जदेशाः । सूरसेनका मथुरादेशाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो ब्रह्मावर्तात्किंचिदूनः ॥ १९ ॥

---

(५) यद्यपि अनुपसर्जनाधिकारेण स्वस्य गृह्यमाणविशेषणत्वमेवेत्यपि ज्ञापितम् तथापि न केवलमष्टाध्याय्या यथाश्रुतार्थेन साधुत्वनिर्णयः किंतु -'एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणा किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद्वि-द्यायाः पारं गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्' इति पृषोदरादिसूत्र-भाष्य-'तात्पर्यदर्शकस्य आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् । अतीतानागतज्ञानं प्रत्य-क्षान्न विशिष्यते । अतीन्द्रियानसंवेद्यान्पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा । ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते । इति 'हरिवाक्यस्यावलोकनेन तादृशामृषीणां वचनेषु यथाऽसा-धुत्वं न भवेत् तथा पाणिनीयाष्टाध्यायीसूत्रादीनामर्थः करणीयः' इति सिद्धान्तानुसारेण 'त्र्येण्या' इति गृह्यसूत्रप्रयोगेऽसाधुत्वभ्रमवारणाय 'तत्प्रमाणेनात्राधिकृतस्य अनुपसर्जनपदस्य न गृह्यमाण-विशेषणत्वम् । अपि तु तदन्तविशेषणत्वमेवेति दर्शयंस्तदेव गृह्यसूत्रं प्रमाणभूतं दर्शयति त्र्येण्या चेति ॥ यदि तु 'त्रिषु स्थानेष्वेनी' इति 'सुप्सुपा' इति समासाङ्गीकारे न गृह्यसूत्रप्रयोगासाधु-त्वम् नापि गृह्यमाणविशेषणत्वसिद्धान्तबाध इति । विभाव्यते तदास्तु 'अनुपसर्जनात् वर्णादनु-दात्तोपधात्तदनुदात्तान्तात् ङीप्' इत्येवार्थः इति ध्येयम् ।

(सि० कौ० खो० प्र० प्र०) पृ० ८१ ।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

एतद्देश इति । कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्य ब्राह्मणस्य सकाशात्सर्वमनुष्या आत्मीयमात्मीयमाचारं शिक्षेरन् ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

हिमवदिति ॥ उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ तयोर्यन्मध्यं विनशनात्सरस्वत्यन्तर्धानदेशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच्च यत्पश्चिमं स मध्यदेशनामा देशः कथितः ॥ २१ ॥

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादा समुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥ (म० अ० २।१७-२१) ।

आ समुद्रात्त्विति आ पूर्वसमुद्रात् आ पश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ । तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता । आर्या अत्रावर्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः ॥ २२ ॥ (कु० भ०)

(च) बृहदारण्यकोपनित् । समुद्र ।

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वाजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः । हयोभूत्वा देवानवहद् वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धु. समुद्रो योनिः ॥ २ ॥ (बृ० उ० १।१।२) ।

(छ) निरुक्त । पर्वत ।

पर्वतशब्द (१) पर्यायानुप्रसक्तं निराह,—"पर्ववान् पर्वतः" शिलाशिखरसन्धिभिरसौ तद्वान् हि भवति । पर्वशब्दं विग्रहप्रसक्तं निराह,— "पर्व पुनः पृणातेः" पूरणार्थस्य । पूरयन्ति हि ते शिलाशिखरसन्धयोऽखिलं पर्वतम् । "प्रीणातेर्वा" तर्पणार्थस्य । तत् पुनरेतत् "अर्द्धमासपर्व"। किं कारणम् ? "देवान् अस्मिन्" हविर्भिः "प्रीणन्तीति" । "तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्" कालसन्धिश्च शिलासन्धिश्च समानं सन्धित्वमिति ॥ देवताभिधानपक्षे 'मेघस्थायी" गिरिष्ठाः 'मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव" असावपि समुद्गीर्णो भवति अन्तरिक्षलोके । १।२०।५। (नि० अ० १ खं० २० पृ० ९४) ।

(ज) मनुस्मृति ।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

कृष्णसारास्त्विति ॥ कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावतो वसति न तु बलादानीतः स यज्ञार्हो देशो ज्ञातव्यः । अन्यो म्लेच्छदेशो न यज्ञार्ह इत्यर्थः ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।

---

(१) 'पर्वतशब्दपर्यायानप्रसक्तं निराह—(२) 'सन्धि [मात्र] सामान्यात ।

शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

(म० स्मृ० अ० २।२३।२४) ।

एतानिति ॥ अन्य शोद्भवा अपि द्विजातयो यज्ञार्थत्वात्प्रयत्नतः एतानेव देशान्प्रयत्नादाश्रये-
रन् । शूद्रस्तु वृत्तिपीडितो वृत्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत् ॥ २४ ॥ (कु० भ०)

(भ) यजुर्वेद ।

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुग्
ग्रैष्मीत्रिष्टुभः स्वारꣳस्वारादन्तर्यामोन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद्बृ-
हद्भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५५॥

(य० सं० १३ ५५) ।

उ०—अथ दक्षिणतः । अयं दक्षिणा विश्वकर्मा । अयं वै वायुर्विश्वकर्मा
योयं वते । एष हीदं सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव
भूयिष्ठं वात्यार्यावर्तात् । तस्य मनो वैश्वकर्मण इत्यादि तुल्यव्याख्यानं चतसृष्वपि
कण्डिकासु ॥ ५५ ॥

म०—एभिर्मन्त्रैस्तृतीयं दशकं दक्षिणश्रोणेरारभ्योपधेयम् । विश्वं करोति सर्वं सृजतीति
विश्वकर्मा वायुरयं दक्षिणा दक्षिणस्यां दिशि आर्यावर्ताद्भूयो वाति तद्रूपां त्वा सा०.........

२६३ पुरुषजगत्

ज्ञानमात्रं परब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् । दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते
॥ २६ ॥ एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः । युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु
कृत्स्नशः ॥ २७ ॥ ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् । अवभात्यर्थरूपेण
भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥ २८ ॥ यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पंचविध. स्वराट् । एका-
दशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥ २६ ॥

(श्री म० भा० स्कं० ३ अ० ३३ पृ० २२३) ।

२६४ पुरुषशरीर ।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥

(अ० सं० १०।८।४३)

पुण्डरीकम् । नवऽद्वारम् । त्रिऽभिः । गुणेभिः । आऽवृतम् । तस्मिन् ।
यत् । यक्षम् । आत्मन्ऽवत् । तत । वै ब्रह्मऽविदः विदुः ॥ ४३ ॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षु-
र्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिश. श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि

भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन् मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥ (ऋ० वे० ए० उ० अ० १)।

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसा सप्त धातवः ॥ हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च ॥ १ ॥ सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने ॥ अश्विनारौषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः ॥ २ ॥ रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी । कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः ॥ ३ ॥ तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम् । त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि ॥ ४ ॥ रोमाण्युद्भिज्जातीनां यैर्वा यज्ञस्तु संभृतः । केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम् ॥ ५ ॥ बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम् । विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ॥ ६ ॥ सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् । अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ॥ ७ ॥ पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः । पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ॥ ८ ॥ (श्री० म० भा० स्क० २ अ० ६)।

२६५ अन्नमययज्ञ ।

यथान्नमयो यज्ञ इति ॥ १३ ॥ (भा० व्र० सू० अ० १ पा० १ सू० १३ के भाष्य मे)।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥ (छां० उ० अ० ३ प्र० ३ ख० १६)।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः तस्य भूरिति शिरः एकँ शिर एकमेतदक्षरम् भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे । तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ३ ॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः तस्य भूरिति शिरः एकँ शिर एकमेतदक्षरम् भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे । तस्योपनिषदहमिति, हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४ ॥ (बृ० उ० अ० ५ ब्रा० ६ । ३— ४)।

२६६ मनुष्याः ।

मनुष्याः कस्मान्मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति मनस्यमानेन सृष्टाः । मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे ॥ मनोरपत्यम् । मनुषो वा ॥ २७ ॥

आह,—"मनुष्याः कस्मात्"? उच्यते—"मत्वा" ज्ञात्वा तत एते "कर्माणि" "सीव्यन्ति" संतन्वन्तीत्यर्थः ॥ अथवा "मनस्यमानेन" प्रजापतिना "सृष्टाः"। "मनस्यति. पुनः" अयं धातु "मनस्वीभावे" मनस्वीभावो नाम प्रहृष्टता ॥ प्रहृष्यता प्रजापतिनैते सृष्टाः ॥ अथवा "मनोरपत्यं" मनुष्याः "मनुषो वा" अपत्यं मनुष्याः ॥३।७।२॥

(नि० अ० ३ ख० ८ पृ० १८८)।

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च । ४ । १ । १६१)।

समुदायार्थो जातिः । मानुषः । मनुष्यः ॥ (सि० कौ० त० अ० प्र० पृ० १८१)।

मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्राथितोऽभवत ।
ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः ॥ १५ ॥
म० भा० आ० प० ७५ ॥ (वे० त० प्र० जा० नि० पृ० २५०) ।

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । (य० स० १९।९) ।

त्वं मन्युर्मानसं प्रज्वलनं कोपोऽसि मयि मन्युं धेहि । (म० भा०) ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥
(य० स० ३४ २) ।

२९७ मनुष्य के लिये उपाय ।

अत्रोपायं प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचक्षुषा । तद्विज्ञानाच्चरन्राजन्प्राप्नुयात्परमां गतिम् ॥ १ ॥ सर्वेषामेव भूतानां पुरुषश्रेष्ठ उच्यते । पुरुषेभ्यो द्विजानाहुर्द्विजेभ्यो मन्त्रदर्शिनः ॥ २ ॥ सर्वभूतात्मभूतास्ते सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः । ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञास्तत्त्वार्थगतनिश्चयः ॥ ३ ॥ नेत्रहीनो यथा ह्येकः कृच्छ्राणि लभतेऽध्वनि । ज्ञानहीनस्तथा लोके तस्माज्ज्ञानविदोऽधिकः ॥ ४ ॥
(म० भ० शां० प० मो० ध० अ० २१४) ।

२९८ मनुष्य शरीर बार २ नहीं मिलता ।

पुनर्वित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही ।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः ॥ ३ ॥
(चा० नी० द० अ० १४ । ३) ।

२९९ चित्तशुद्धये उपायाः ।

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोग ॥ १ ॥ (यो० द० पा० २)

नातपस्विनो योगः सिध्यति । अनादिकर्मक्लेशवासना * विषयप्रत्युपस्थित विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते इति तपस उपादानम् । तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं, तत्फल संन्यासो वा ॥ १ ॥

३०० प्रार्थना

आयुर्यज्ञेन कल्पताᳪं स्वाहा प्राणो यज्ञेन कल्पताᳪं स्वाहापानो यज्ञेन कल्पताᳪं स्वाहा व्यानो यज्ञेन कल्पताᳪं स्वाहोदानो यज्ञेन कल्पताᳪं स्वाहा समानो यज्ञेन कल्पताᳪं स्वाहा चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳪं स्वाहा श्रोत्रं

---

* चित्रान्युपस्थित० ।

यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहा वाग्यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहा मनो यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहात्मा यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहा ब्रह्मा यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहा ज्योतिर्यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहा स्वर्यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहा पृष्ठं यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहा यज्ञो यज्ञेनं कल्पता॑ᳪ स्वाहा ॥ ३३ ॥　　(य० सं० २२।३३)।

उ० आयुः। यज्ञेनाश्वमेधेनायुः कल्पताम्। एवमग्रेऽपि प्रार्थनामन्त्राः ॥३३॥

म० आयुः। यज्ञेनाश्वमेधेनायुः कल्पताम्। एवमग्रेऽपि प्रार्थनामन्त्राः ॥ ३३ ॥

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्या॑ᳪ स्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा ॥ ३४ ॥　　(य० सं० २२।३४)।

उ० व्युष्ट्या इति व्युष्टयम् स्वर्गायेत्युदिति। प्राणायस्वाहेत्यारभ्य द्वादशभिः कण्डिकासमितैरनुवाकैर्देवता उक्ताः आज्यादिहविर्भिः। एते सर्वे एव यागा महतो यज्ञस्य लोककालाग्न्यादिवपुषोऽवयविनोऽवयवभूताः। यथा देवदत्तस्यावयविनोऽवयवभूताः शिरः पाण्यादयः एवं सोऽयमश्वमेधः प्रजापतेरवयविनोऽवयवभूतः। प्रजापतेश्चात्मन. सोऽयमात्मा। शाखाप्रशाखागत. स्तूयते हूयते च ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिभिर्यजमानैः। एकस्मै स्वाहा द्वाभ्या॑ᳪस्वाहेति प्रकारदर्शनम्। त्रिभ्य. स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहेति एकशतात् ॥ ३४ ॥

म० एकस्मै। संख्याधीशा। व्युष्टी रात्रिः स्वर्गो दिनम्। 'रात्रिर्वै व्युष्टिरहः स्वर्गोऽहोरात्रे एव तत् प्रीणाति' (१३।२।१।६) इति श्रुतेः। प्राणादयोऽश्वमेधस्यावयविनोऽवयवा. स च प्रजापतेरवयवः स आत्मन इत्यात्मैव स्तूयते इज्यते इतिभावः। 'सर्वमिदं यदयमात्मा' इति श्रुतेः ॥ ३४ ॥

यज्ञा यज्ञा। (य० सं० २७।४२)। उ० यज्ञायज्ञस्य साम्नो योनिः।

म० यज्ञायज्ञियस्य साम्नो योनि·।

कृष्णाजिनं तु यो दद्यात्। अ० स्मृ० ३३२। कृष्णाजिनादिकश्चात्र विशेषः सूत्रचोदितः ॥ १ ॥ (का० स्मृ० खं० २३।१। कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावेन प्रवर्त्तते। तस्मिन्देशे वसेद्धर्मा सिद्ध्यति द्विजसत्तमाः ॥१६॥ (हा०स्मृ०अ०१।१६)। यत्र यत्र स्वभावेन कृष्णसारो मृगः सदा। चरते तत्र वेदोक्तो धर्मो भवितुमर्हति ॥ ३ ॥ (व्या० स्मृ० १।३)। मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाब्रवीन्मुनीन् ॥ यस्मिन्देशे मृग कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥२॥ (या० स्मृ० आ० अ० उ० प्रा० प्र० १)।

मिथिलानाम नगरी तत्रावस्थितः स याज्ञवल्क्यो योगीश्वरः क्षणं ध्यात्वा कैंचित्कालं मनः समाधाय एते श्रवणाधिकारिणो विनयेन पृच्छन्तीति युक्तमेतेभ्यो वक्तुमित्युक्तवान्मुनीन्। किम्। यस्मिन्देशे मृगः कृष्णास्तस्मिन्धर्मान्निबोधतेति। कृष्णसारोमृगो यस्मिन्देशे स्वच्छन्दं विहरति तस्मिन्देशे वक्ष्यमाणलक्षणा धर्मा अनुष्ठेया नान्यत्रेत्यभिप्रायः ॥२॥

देशे ॥६॥ प्र १)। देशो 'यस्मिन्देशे मृग. कृष्ण' इत्युक्तलक्षण ॥ ६ ॥

२०२ यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश ॥ ५ ॥

यज्ञेष्वेव हि अतिशयेन देवतानां स्तुतय. प्रयुज्यन्त इति स्तोतृनामभ्यः "उत्तराणि" "यज्ञनामानि" ॥ कियन्ति पुनस्तानि ? "पञ्चदश" १५ ॥ कतमानि पुनस्तानि ? 'यज्ञः, वेनः, अध्वरः, मेधः"—इत्येवमादीनि ॥ ३ । १९ । ५ ॥

यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ता ॥ याच्ञ्यो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा ॥ ६ ॥

आह—"यज्ञः कस्मात्" ? उच्यते—यदेतत् "प्रख्यातं यजतिकर्म" लोकवेदयोः। एतदेव भावसाधनेन शब्देनोच्यते यजनं यज्ञ इति ।

अथ "वा" "याच्ञ्यो भवतीति" यज्ञ, याच्यते यत्र । "यज्ञो वै देवानामन्नं समभूत तं भृत्याः समभाभयन्निति ह विज्ञायते" [इति ब्राह्मणे] तस्मात् याचनात् यज्ञः ॥ अथ "वा" "यजुर्भिः" अयम् "उन्न." इव संक्लिन्न इव "भवति" बहुत्वादत्र यजुषाम् । अथवा "बहु कृष्णाजिन इत्यौपमन्यव." यद्यदत्र दृश्यते प्रतिविशिष्टं साधनं किञ्चित्, तत्तत् कृष्णाजिनमिति यज्ञः । सोमे तावदजिनद्वयम्, यजमानेऽप्यजिनद्वयम् । अवहन्यमानेषु हि हविःषु अजिनं धर्मपात्रेष्वप्यजिनम्, एवं बहुकृष्णाजिनः । अथ "वा" "यजूंष्येनम्" उपक्रमादारभ्यान्तं "नयन्तीति" यज्ञ । [● वेनति. कान्त्यर्थः काम्यन्ते हि यज्ञात् ग्रामपशुस्वर्गादयः तस्मात् स वेनः यज्ञ इत्युच्यते । ममेदं दास्यतीति एवं यज्वभिः (१) तस्मात् फलं प्रार्थ्यत इति मेधः [इत्येवमादि] ॥ ३ । १६ । ६ ॥ (नि० अ० ३ खं० १६)

कृष्णाजिनमवभृथमभ्यवैनितस्मान्मुक्तागर्भाजरायोर्जायंते सहैववाससाभ्यवैनितसमात्सहैवोल्वेनकुमारोजायते ॥ ३ ॥ (ऐ० ब्रा०प्र० प०अ० १ खं० ३) पृ० १)

भाष्य—यदेतत् कृष्णाजिन वेष्टनं विहितम्. तस्यावभृथगमनात् प्रागेवोन्मोचनं विधत्ते—"उन्मुच्य कृष्णाजिनमवभृथ मभ्यवैति तस्मान् मुक्ता गर्भा जरायो जायन्ते"—इति । योनिस्थानीयाद्देवयजनदेशान्निर्गत्यावभृथममनं गर्भरूपस्य-दीक्षितस्य जन्मस्थानीयम् । जन्म च लोके जरायुरूपवेष्टने छिन्ने सति पश्चात्सम्पद्यते, तस्मादत्रापि जरायुस्थानीय कृष्णाजिन मुन्मुच्य जन्मस्थानीय मवभृथदेशगमनं कुर्यात् ॥ कृष्णाजिनवद्वाससोऽपि प्रसक्त मुन्मोचनं वारयति—"सहैव वाससाभ्यवैति तस्मात् सहैवोल्वेन कुमारो जायते"— इति उल्वाख्यस्याभ्यन्तरवेष्टनस्य जन्मकालेऽप्यनिवृत्तिदर्शनात् उल्वस्थानीयवस्त्रस्यावभृथगमनकाले ऽप्यनिवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥ (सा० आ० भा०)।

अथ कृष्णाजिनमादत्ते । (श० प० ब्रा० १ । १ । ३ । ४)।

शर्मास्यवधूत७ रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु।
अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥
(य० स० १ । १४)।

---

(१) 'अस्मा' ॥

उ० कृष्णाजिनमादत्ते। शर्मासि। चर्मासीति प्राप्ते चकारस्य शकारः। 'शर्मदेवता' इति श्रुतिः। अवधुनोति। अवधूतं रक्षः। धूञ् कम्पने' अवकम्पितं रक्षः। अवकम्पिताश्च अरातयः अदानशीलाः पुरुषाः। नत्वेतद्यज्ञसाधनमित्यपहनवः। कृष्णाजिनमास्तृणाति अदित्यास्त्वगसि अदित्याः पृथिव्यास्त्वं त्वगसि अतः प्रतिवेत्तु। विदज्ञाने' प्रतिजानातु त्वां। अदितिः पृथिवी। 'प्रति हि स्वः संजानीते' इति श्रुतिः। तस्मिन्निदधात्युलूखलम् अद्रिरसि। आदृणाति विदारयति आदृणात्यनेन वा व्रीह्यादिकमित्यद्रिः। त्वं भवसि। वानस्पत्यश्च। वानस्पतेर्विकारो वानस्पत्यः। अनेन वा निदधाति। ग्रावासि। हन्ति व्रीह्यादिकमनेनेति ग्रावा त्वमसि। पृथुबुध्न बृहन्मूलः। अतः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु प्रतिवेत्तु त्वामुलूखल अदित्यास्त्वक् कृष्णाजिनम्। कथम्। अहं पृथिव्यास्त्वक् अयं चोलूखल. पृथिव्यास्त्वगिति। त्वगेवात्मनं हिनस्ति॥ १४॥

म० - 'शर्मासीति कृष्णाजिनादानम्' (का० २।४।१)। इति। हे कृष्णाजिन, त्वमुलूखलस्य धारणार्थं शर्म सुखहेतुरसि। अजिनस्य चर्मेति मानुषं नाम शर्मेति दैवं नाम। 'अपेत्य पात्रेभ्योऽवधूनोत्यवधूतमिति' (का० २।४।२) इति। रक्षः कृष्णाजिने गूढम् अवधूतम्। कृष्णाजिनकम्पनेन भूमौ पातितम् एवमरातयोऽपि पातिताः। 'प्रत्यग्ग्रीवमास्तृणात्यदित्यास्त्वगिति' (का० २।४।३) इति। हे कृष्णाजिन, त्वम् आदित्याः भूमिदेवतायास्त्वग्रूपम् असि। ततोऽदितिर्भूमिस्त्वा त्वां प्रतिवेत्तु प्रतिगृह्य मदीयेयं त्वगिति वेत्तु जानातु। पुरा यज्ञो देवेषु रुष्टः कृष्णमृगो भूत्वागमत्तदा देवा ज्ञात्वा तदीयां त्वचमुत्क्षिप्य जगृहुस्तस्माच्चर्मास्तरणमित्यभिप्रायः श्रुतावाम्नातः (१ १.४।१) 'सव्याशन्ये निदधात्युलूखलमद्रिरसि ग्रावासीति वा प्रति त्वेत्युभयोः' (का० २।४।४.५) इति। विकल्पितयोर्मन्त्रयोः प्रति त्वेति शेषो योजनीय। हे उरूखल, त्वं यद्यपि वानस्पत्य. दारुमयस्तथापि दृढत्वान् अद्रिरसि पाषाणोऽसि। किंभूत। पृथुबुध्न स्थूलमूलः। मुसलघातोपद्रवेण चाञ्चल्यराहित्याय मूलस्थूलत्वम्। हे उलूखल, तथाविधस्त्वं ग्रावासि। दार्ढ्येन पाषाणसदृशोऽसि। अदित्यास्त्वक् अधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपा भूमेर्या त्वगस्ति सा त्वां प्रति वेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु॥ १४॥

३०२ ऋत्विङ्नामानि।

ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ॥ ७॥

यज्ञसम्बन्धेनैव "ऋत्विङ्नामानि उत्तराणि अष्टौ"। ऋत्विजां नामानि ऋत्विङ्नामानि। कियन्ति पुनस्तानि? अष्टौ ८॥ कानि पुनस्तानि? "भारताः, कुरव."—इत्येवमादीनि। भ्रियन्ते दक्षिणाभिस्ते इति भारता.। कुर्वन्ति कर्माणीति कुरवः। इत्येवमादि ३। १९। ७

ऋत्विक् कस्मादीरणः॥ ८॥

आह—"ऋत्विक् कस्मात्"? उच्यते—"ईरणः" ईरयिता हि स स्तुतीनां भव-

तं.ति ऋत्विक् ॥ ३ । १६ । ८ ।

ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः ॥ ६ ॥

"ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः" ऋग्भिरसौ (१) यागकारी भवतीति । ऋत्विक् ॥ ३ । १९ । ९ ।

ऋतुयाजी भवतीति वा ॥ १० ॥

"ऋतुयाजी भवतीति वा" स हि कालेकाले देवतां यजतीति वा । ऋतौ याजयतीति वा, स हि कालेकाले एव याजयते, नाकाले । ३ । १९ । १० ।

(नि० अ० ३ ख० १९ पृ० २४०) ।

३०४ देशादि

कुर्वादिभ्यो ण्यः । ४ । १ । १५१) अपत्ये ।

कौरव्या ब्राह्मणाः वावदूक्याः (सि कौ० त० अ० प्र० पृ० १८०) ।

कुरुयुगन्धराद्वेत्यनेनाकजपि कौरवकोऽदवादिः ।

(ग० र० म० द० त० ग० अ० पृ० १९४ पं० ८)

कुर्वादिभ्य इत्यनेन कुर्वादेः शब्दगणाड्ण्यप्रत्ययो भवति । कुरोर्ब्राह्मणस्यापत्यम् । कौरव्यः । यथा — (ग० र० म० द० त० ग० अ० पृ० १३९ पं० १५) ।

भरतखण्डादौ ॥ (सि० कौ० पृ० ७ पू० भा० पं० १६) ।

'कृष्णस्य सखिरर्जुनः' इति भारतम् ।

(सि० कौ० अ० पु० प्र० पृ० ३६ नोट टिप्पणी में) ।

भरता योद्धारोऽस्य संग्रामस्य भारतः ॥

(सि० कौ० त० र० आ० अ० प्र० पृ० १८७ पं० ११) ।

३०५ भारतवर्ष में ही यज्ञ होते हैं।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः । देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥ (य० सं० ३१ । १५) ।

उ० सप्तास्यासन् । सप्त यस्य आसन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः । देवाः यत् यज्ञम् तन्वानाः अबध्नन् पुरुषम् पशुम् । देवा इन्द्रादयः यथा यज्ञं पुरुषमेधाख्यं विस्तारयन्तः पुरुषं पशुम् अबध्नन् हतवन्तः अस्य पुरुषमेधयज्ञस्य सप्त समुद्राः परिधयः आसन् । भारते हि वर्षे यागाः प्रवर्तन्ते । त्रिःसप्त छन्दांसि गायत्र्यादीनि समिधः कृता आत्मयागे परिधिशब्देन पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं मनोबुद्धिरित्येते परिधयः कल्प्यन्ते । त्रिःसप्त समिधः । पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यादीनि पञ्चतन्मात्राणि रूपादीनि । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पाण्यादीनि मनश्च एताः त्रिः सप्त समिधः कल्पयन्ति । तथा देवा दीप्य-

---

(१) 'यजतीति ऋ' ।

माना ज्ञानेन योगिनः समाध्याख्यं यज्ञं तन्वाना विस्तारयन्तः । पुरुषं ज्ञानं पुरुमेध-पशुरूपेणावस्थितम् अबध्नन् अगृह्णन् ॥ १५ ॥

म०—यत् यदा देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपाः यज्ञं तन्वानाः मानसं यज्ञं कुर्वाणाः पुरुषं पशुमबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वं (१४) पुरुषेण हविषेत्युक्तम् । तदा संकल्पितस्य यज्ञस्य सप्त गायत्र्यादीनि छन्दांसि परिधयः आसन् ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधय औत्तरवेदिका त्रय. आदित्यः सप्तमः परिधिः प्रतिनिधिरूपः तथाच श्रुतिः 'गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत्सूर्यमेव पुरस्ताद्गोप्तारं करोति' इति । तत एते आदित्यसहिता. सप्त परिधयोत्र सप्तच्छन्दोरूपाः । त्रिःसप्त त्रिगुणा. सप्त एकविंशतिसंख्याकाः समिधः कृताः 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्यः' एते एकविंशतिरेक-विंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः । यद्वा सप्त समुद्राः क्षीरोदादयोऽस्य यज्ञस्य परिधयः आसन् । भारतखण्डे यागा भवन्तीति समुद्राणां परिधित्वम् । त्रिः त्रि-गुणा सप्त छन्दोवर्गाः समिधः कृताः गायत्र्यादीनि सप्त अतिजगत्यादीनि सप्त कृत्यादीनि सप्तेति ॥ १५ ॥

३०६ आर्यजाति और उसके साथ सम्बन्ध ।

अर्यः स्वामिवैश्ययोः । ३ । १ । १०३ ॥

भा०—ऋ गतौ अस्माद्यत् । ण्यतोऽपवाद. ॥ अर्यः स्वामी वैश्यो वा । अनयोः किम् ? आर्यो ब्राह्मणः । प्राप्तव्य इत्यर्थ. ॥ (सि० कौ० कृ० कृ० प्र० पृ० ४१९) ।

आर्याय । (ऋ० सं० १, ८, १७, १) ।

'अर्याय" "ईश्वरपुत्राय" ऋज्राश्वाय, स हि युवाभ्यामन्धीभूतः चक्षुष्मान् कृत इत्यभिप्रायः ॥ एवमत्र ज्योतिः समूह उदकसमूहश्च । (नि० अ० ६ खं० २६ पृ० ५१६) ।

एष खल्वार्याणा मादिधर्मग्रन्थः; धर्मग्रन्थानां प्रायः सर्वेषामेवोत्पत्तौ कश्च-नकश्चनालौकिकः प्रवादो विद्यत एव, अस्योत्पत्तिविषयेऽपि तथैवैषः,— न केन-चिदपि पुरुषेण प्रणीतो वेदः' इति । मीमांसकानां कर्मशक्त्यनुगतफललाभादिना-मीश्वरविचारोऽप्यप्रयोजनीयः, परं वेदानां सर्वथानादित्वप्रतिपादने एव महान् यत्नः ।

(नि० आ० पृ० २११)

सत्यमहं गंभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः ।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ॥ ३ ॥

(ऋ० सं० ५ । ११ । ३) ।

सत्यम् । अहम् । गम्भीरः । काव्येन । सत्यम् । जातेन । अस्मि । जातऽवेदाः । न । मे । दासः । न । आर्यः । महिऽत्वा । व्रतम् । मीमाय यत् । अहम् । धरिष्ये ॥ ३ ॥

(सा० भा०) ।

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥ १७ ॥ (य० सं० २०।१७)

उ०—यग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यत् इन्द्रिये इन्द्रियविषये । 'देवविषये' इति श्रुतिः । यत् शूद्रे यत् अर्ये। 'अर्यः स्वामि वैश्ययोः' । यच्च एनद्वय निरिक्तमेनः चकृम वयम् । यच्च एकस्य आवयोः पत्नीयजमानयोः अधिधर्मणि एनः तस्य एनसः अवयजनमसि । अवपूर्वो यजतिर्नाशने वर्तते । नाशनमसि ॥ १७ ॥

म०—लिङ्गोक्तदेवतं यजुः । ग्रामे अरण्ये वने सभायां पक्षपातादि यदेनः इन्द्रिये इन्द्रियविषये परापवादपरनारीदर्शनादि यत् देवविषये वा शूद्रे अर्ये वैश्ये 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः', (पा० ३ । १ । १०३) इति निपातः यत् पापं वयं चकृम । आवयोः पत्नीयजमानयोरेकस्य अधिधर्मणि कर्मणि अधिकर्मविषये यदेनो धर्मलोपलक्षणम् । तस्यैनसः पापस्यावयजनं नाशनं त्वमसि । नाशकोऽसीत्यर्थः कुम्भं प्रति वचनम् । अवपूर्वो याजिर्नाशनार्थः ॥ १७ ॥

ब्रह्मगामश्वं जनयंतऽओषधीर्वनस्पतीन्पृथिवींपर्वतांऽअपः ।
सूर्यंदिविरोहयन्तः सुदानवऽआर्याव्रताविसृजंतोऽअधिक्षमि ॥११॥
(ऋ० सं० ८।२।११।११)।

ब्रह्म गाम । अश्वम् । जनयन्तः ओषधीः । वनस्पतीन् । पृथिवीम् । पर्वतान् । अपः । सूर्यम् । दिवि । रोहयन्तः । सुऽदानवः । आर्या । व्रता । विऽसृजन्तः । अधि । क्षमि ॥ ११ ॥

ब्रह्म वर्धनसाधनमन्नं अन्नेन हि सर्वाः प्रजावर्धन्ते गां अश्वं एतत्प्रभृतीन् पशून् तथा ओषधी वनस्पतींश्च तथा पृथिवीं विस्तीर्णं भूमिं पर्वतान् शिलोच्चयान् वृष्ट्या जगदापूरकान् मेघान् वा अपउदकानि अन्तरिक्षं वा एतान् जनयन्तः उत्पादयन्तः । किंच दिविद्युलोके सूर्यमादित्यं रोहयन्तः सुदानव. शोभनदाना. ते अमी देवा. अधिक्षमि आतइति योगविभागादाकारलोपः क्षमायां पृथिव्यां आर्या श्रेष्ठानि कल्याणानि व्रतानि कर्माणि यागादीनि विसृजन्तः प्रसारयन्तः सर्वत्र वर्तन्ते तान् वयं धनं याचामहे इति शेषः ॥ ११ ॥

ससानात्यॉं उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम् ।
हिरण्ययमुतभोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥ ९ ॥
(अ० सं० २०।११।९)।

ससान । अत्यान् । उत । सूर्यम् । ससान । इन्द्रः ससान । पुरुऽभोजसम् । गाम् ॥ हिरण्ययम् । उत । भोगम् । ससान । हत्वी । दस्यून् । प्र । आर्यम् । वर्णम् । आवत् ॥ ९ ॥

अत्यान् अतनार्हान् अश्वान्। उपलक्षणम् एतम्। तुरगगजोष्ट्रादिकानि वाहनानि प्राणिनां व्यवहाराय इन्द्रो देव. ससान प्रादात्। X षणु दाने। लिटि। रूपम् X। उत अपिच सूर्यम् सर्वस्य प्रकाशकं देवं प्राणिनां व्यवहारार्थं ससान। एवं पुरुभोजसम् पयोदध्यादिलक्षणबहुप्रकारभोगसाधनां बहुविधप्राणिभोगसाधना वा गाम्। X जातावेकवचनम् X। गाः ससान। एतन्महिष्यादेरपि उपलक्षणम्। उत अपि च हिरण्ययम् हिरण्मयं हिरण्यविकारात्मकं भोगम् भोगसाधनं कटकमुकुटादिकं ससान। X हिरण्यशब्दाद् विकारार्थं "मयड्वैतयोः०" इति विहितस्य छन्दसि विषये "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि" इति निपातनाद् मयटो मकारलोपः। प्रत्ययस्वरः X। किंच दस्यून् उपक्षपयितॄन् प्राणिविघातकान् असुरादीन् हत्वी हत्वा। X हन्तेः क्त्वार्थे "स्नात्व्यादयश्च" इति निपातितः X। आर्यम् उत्तमं वर्णं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यात्मकं यजनादिकर्माधिकारवन्तं प्रावत् प्रकर्षेण रक्षितवान्॥ (सा० ऋ० भा०)

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥ ८ ॥
(ऋ० सं० १।४।१०।८।)।

वि। जानीहि। आर्यान्। ये। च। दस्यवः। बर्हिष्मते। रन्धय। शासत्। अव्रतान्। शाकी। भव। यजमानस्य। चोदिता। विश्वा। इत्। ता। ते। सधऽमादेषु। चाकन ॥ ८ ॥

हे इन्द्र त्वमार्यान्विदुषोऽनुष्ठातॄन्वि जानीहि। विशेषेण बुध्यस्व। ये च दस्यवस्तेषामनुष्ठातॄणामुपक्षयितारः शत्रवस्तानपि विजानीहीति शेषः। ज्ञात्वा च बर्हिष्मते बर्हिषा यज्ञेन युक्ताय यजमानायाव्रतान्। व्रतमिति कर्मनाम। कर्मविरोधिनस्तान्दस्यून् रधय। हिंसा प्रापय। यद्वा। यजमानस्य वशं गमय। रध्यतिर्वशगमने। नि० ६,३२,। इति यास्कः। किं कुर्वन्। शासत् दुष्टानामनुशासनं निग्रहं कुर्वन्। अतः शाकीशक्तियुक्तस्त्वं यजमानस्य चोदिता प्रेरको भव। यज्ञविघातकानसुरांस्तिरस्कृत्य यज्ञान्यजमानैः सम्यगनुष्ठापयेति भावः। अहमपि स्तोता ते तव तानि पूर्वोक्तानि कर्माणि विश्वेत् सर्वाण्येव सधमादेषु सहमदनयुक्तेषु यज्ञेषु स्तोतुं चाकन। कामये॥ जानीहि। ज्ञा अवबोधने। क्रियादिकः। ज्ञाजनोर्जेति जादेशः। अत्र प्ली गतौ वृत् धा० ३१, ३२,। इति वृत्करणं ल्वादिपरिसमाप्त्यर्थमेव न प्वादिपरिसमाप्त्यर्थमिति येषां दर्शनं तेषां प्वादीनां ह्रस्व इति ह्रस्वत्वेन भवितव्यं। मैवं ज्ञाजनोर्जेति दीर्घोच्चारणसामर्थ्यात्। जनी प्रादुर्भावे इत्यस्य तु दीर्घोच्चारणमंतरणाप्यतो दीर्घो यञि। पा० ७,३,१०१,। इत्यनेनैव दीर्घः सिध्यति। तस्माद्दीर्घोच्चारणवैयर्थ्यप्रसंगादत्र ह्रस्वो न भवतीति सिद्धं। बर्हिष्मते। तसौ मत्वर्थे इति भत्वात् रुत्वजश्त्व-

यंरभाव । रंधय । रध हिंसासंराद्धयोः । शासत् । शासु अनुशिष्टौ । शनयंदादित्वाच्छपो लुक् । जक्षित्यादय षट् । पा० ६ १, ६, । इत्यभ्यस्तसंज्ञायां नाभ्यस्ताच्छतुरिति नुम्प्रतिषेधः । अभ्यस्तानामादिरित्याद्युदात्तत्वं । शाकी । शक्तृ शकौ । भावे घञ् । ततो मत्वर्थीय इनिः॥ व्यत्ययनेनाद्युदात्तत्वं । यद्वा । वृषादित्वम् । जिश्वा ता । उभयत्र शेश्छंदसीति शेर्लोपः । सधमादेषु । सह माद्यन्त्येष्विति सधमादा यज्ञाः । अधिकरणे घञ्प्रत्ययः ननु मदोऽनुपसर्ग इत्यप्ययेन भवितव्यं । मैवं । व्यधजपोरनुपसर्गे पा० ३, ३, ६१, । इत्यत्रैव मद इति वक्तव्ये यन्मदोऽनुपसर्ग इति पृथगुपादानं तद्घञपि पक्षे यथा स्यादिति न्यासकारेण प्रत्यपादीत्यस्माभिर्धातुवृत्तावुक्तं । सधमादस्थयोश्छंदसीति सहशब्दस्य सधादेशः । चाकन । कन दीप्तिकांतिगतिषु । अत्र कांत्यर्थः । छंदसि लुङ्लङ्लिट इति वर्तमाने लिट् । णलुत्तमो वा । पा० ७, १, ९१, । इति णित्त्वस्य विकल्पनाद्वृद्ध्यभावः । तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घत्वं ॥ (सा० आ० भा०) ।

३०७ चारोवेदोंके प्रथमके चार मन्त्र ।

हरिः ओ३म् ॥ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥

(ऋ० वे० सं० १, अ० १, १, १) ॥

हरिः ओ३म् । इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ १ ॥

(य० वे० सं० अ० १, मं० १,) ॥

१ २ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

(सा० वे० सं० आग्नेयपर्व अ० १ खं० १ मं० १) ॥

ओ३म् ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वोऽअद्य दधातु मे ॥ (अ० वे० सं० का० १ अनु १ सू० मं० १)

३०८ प्रार्थना

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥२२॥

(य० सं० २२ । २२ ।)

३०९ **संहिता ।**

परः संनिकर्षः संहिता । १ । ४ । १०९ ॥
वर्णानामतिशयितः संनिधिः संहितासंज्ञः स्यात् ॥ (सि० कौ० स प्र० । सू० १) ।

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥
(अ० सं० का० १० सू०२ मं०३)

३१० **ऋषीणां मनुं प्रति धर्मप्रश्नः ।**

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥
भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

भगवन्नित्यादि ॥ ऐश्वर्यादियुक्तानां भगशब्दो वाचकः । तदुक्तं विष्णुपुराणे—
'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ॥'

भगवन्नेन संबोधनं भगवन्निति । वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः सर्वे च ते वर्णाश्चेति सर्ववर्णाः तेषामन्तरप्रभवाणां च संकीर्णजातीनां चापि अनुलोमप्रतिलोमजातानां अम्बष्ठक्षतृकर्णप्रभृतीनां तेषां विजातीयमैथुनसंभवत्वेन चातुर्वर्ण्यसंपर्काज्जाताश्चनरवज्जात्यन्तरत्वात्वर्णशब्देनाग्रहणात्पृथक् प्रश्नः । एतेनास्य शास्त्रस्य सर्वोपकारकत्वं दर्शितम् । यथावत् यो धर्मो यस्य वर्णस्य येन प्रकारेणार्हतीत्यनेनाश्रमधर्मादीनामपि प्रश्नः । अनुपूर्वशः क्रमेण जातकर्म, तदनु नामधेयमित्यादिना । धर्मान्नोऽस्मभ्यं वक्तुमर्हसि सर्वधर्माभिधाने योग्यो भवसि तस्माद् गृहीत्यध्येषणमध्याहार्यम् । यत्तु ब्रह्महत्यादिरूपाधर्मकीर्तनमप्यत्र तत्प्रायश्चित्तविधिरूपधर्मविषयत्वेन न स्वतन्त्रतया ॥ २ ॥ (कु० भ०) ।

सकलधर्माभिधानयोग्यत्वे हेतुमाह—
त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥

मनोरुत्तरम् ।
स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥
(म० स्मृ० अ० १ । १-४)

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥ (पा० अ० अ० ५ पा० १ सू० १२४) ।
ब्राह्मणादिषु चातुर्वर्ण्यादीनामुपसंख्यानम् ॥ ब्राह्मणादिषु चातुर्वर्ण्यादीनामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम् ॥ चातुर्वर्ण्यम् । चातुर्वैद्यम् । चातुराश्रम्यम् (म० भा० ५।१।२) ।

चाद्भावे ॥ जडस्य कर्म भावो वा जाड्यम् । मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम् ॥ ब्राह्मण्यम् । अर्हतो नुम च ❀ अर्हतो भावः कर्म वा आर्हन्त्यम् । आर्हन्ती ब्राह्मणादिराकृतिगणः ॥

(सि० कौ० त० भा० क० अ० प्र०) ।

गुणमुक्तवन्तो गुणवचनाः । गुणवचनेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तस्येति षष्ठीसमर्थेभ्यः कर्मण्यभिधेये ष्यञ् प्रत्ययो भवति । चकाराद् भावे च । कर्म शब्दः क्रियावचनः । जडस्य भावः कर्म वा, जाड्यम् । ब्राह्मणादिभ्यः खल्वपि । ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । आ पादपरिसमाप्तेर्भावकर्माधिकारः । ब्राह्मणादिराकृतिगणः । आदिशब्दः प्रकारवचनः ॥ चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् ❀॥ चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम् । चातुराश्रम्यम् । त्रैलोक्यम् । त्रैस्वर्यम् । षाड्गुण्यम् ·· चातुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च । चातुर्वैद्यम् ॥ (काशिका० अ० ५ पा० १।१२४) ।

चतुरः । ग० र० म० द० त० ग० अ० ।

भाष्य—चत्वारएव वर्णाः चातुर्वर्ण्यम् । विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः चातुर्युग्यम्...आकृतिगणश्चायम् तेनान्येऽपि वेदितव्याः ॥ १८० ॥

वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः। ब्राह्मणादयो वर्णाः स्युः एकम् । विप्रक्षत्रियविट्शूद्राश्चातुर्वर्ण्यमिति स्मृतम् । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा वर्णाश्चातुर्वर्ण्यमित्येकम् (अ० को० का० २ प्र० वग ८) ।

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ॥ ११५ ॥

इदमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् । यत्तत्तृतीयासमर्थं क्रिया चेत्सा भवतीत्युच्यते । कथं च तृतीयासमर्थं नाम क्रिया स्यात् । नैतदयुक्तम् । सर्वएते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्तन्ते । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति । आतश्च गुणसमुदाये । एवं ह्याह ।

तपः श्रुतं च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव सः ॥ १ ॥

यथा गौरः शुच्याचारः पिङ्गलः कपिलकेश इति । एतानभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्तीति । समुदायेषु च शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि प्रवर्तन्ते । तद्यथा । पूर्वे पञ्चालाः उत्तरे पञ्चालाः । तैलं भुक्तम् । घृतं भुक्तम् । शुक्लो नील. कृष्ण इति । एवमयं ब्राह्मणशब्दः समुदाये प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते यद्धि तर्हि तृतीया समर्थं विशेष्यते । (म० भा० ५ । १ । २ पृ० ३६-३७) ।

३११ वर्णों में व्यतिक्रम नहीं ।

कपिल उवाच ।

सर्ववर्णेषु जातेषु नासीत् कश्चिद्व्यतिक्रमः । व्यस्तमेकञ्चतुर्द्धाहि ब्राह्मणा आश्रमं विदुः ॥ २१ ॥ तं सन्तो विधिवत् प्राप्य गच्छन्ति परमां गतिम् । गृहेभ्य एव निष्क्रम्य वनमन्ये समाश्रिताः ॥ गृहमेवाभिसंश्रित्य ततोऽन्ये ब्रह्मचारिण. ॥२२॥

(म० भा० शां० प० अ० २६६) ।

ब्राह्मणस्तु समुत्पन्नाः सर्वे ते किं नु ब्राह्मणः । न वर्णतो न जनकाद्ब्रह्म

तेज प्रपद्यते ॥ ३९ ॥ ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधनेरतः । शांतोदांतोदयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः ॥ ४० ॥ लोकसंरक्षणे दक्षःशूरोदांतः पराक्रमी । दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ४१ ॥ क्रयविक्रयकुशला ये नित्यं पण्यजीविनः । पशुरक्षाकृषिकरास्ते वैश्याः कीर्तिता भुवि ॥ ४२ ॥ द्विजसेवार्चनरताः शूराः शान्ताजितेंद्रियः ' सीरकाष्ठतृणवहस्तेनिचाः शूद्रसंज्ञका ॥ ४३ ॥

(शुक्रनीति अ० १ । ३९-४३) ।

३१२ चारोंवर्णों में बल ।

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यंक्षत्रियाणां तुवीर्यतः । वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥ (म० अ० २ । १५५) । बलं विद्या च विप्राणां राज्ञ सैन्यं बलं तथा । बल वित्तं च वैश्यानां शूद्राणां च कनिष्ठिका ॥ १६ ॥ (चा० नी० द० अ० २ । १६) ज्ञानवृद्धोद्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥१७॥ वैश्यानां धान्यधनवाञ्शूद्राणामेव जन्मतः । (म० भा० स० प० अ० ३८ । १७) ।

३१३ उत्पत्ति ।

ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर । ब्राह्मणां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत्प्रभुः ॥ ३१ ॥ बाहुभ्यांक्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम् । पद्भ्यां शूद्रशतञ्चैव केशवो भरतर्षभ ॥ ३२ ॥ स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपा । अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम् ॥ ३३ ॥

(म० भा० शां० प० मो० ध० अ० २०७)

ब्रह्मणा निर्मिता वर्णा मुख बाहूरु पादतः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव यथा क्रमम् ॥

(व० वि० चं० श्लो० १६)

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवत. पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥ ३७ ॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥ ३८ ॥

(श्री म० भा० स्कं० २ अ० ५ पृ० १० १०६) ।

३१४ पदचतुष्टय ।

चतुष्कपर्दा । (ऋ० सं० ४।६।१६)

भा० नामाख्यातोपसर्गनिपातश्चत्वारः । (सा० आ० भा०)

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति ॥ ८ ॥ ' तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति" । (नि० उ० अ० १ खं० १ पृ० ८)

अथ पदार्थः । तत्र 'चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाता' इति नैरुक्ता

पठन्तिः... । उक्तं च—

'क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् ।
सत्वाभिधायकं नाम निपाताः (१) पादपूरणाः ॥' इति
(य० सं० उवट व्याख्या में पृ० २)

चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । (म० भा० १ । १ । १ । पृ० १४ ।

३१५ स्तुति चार प्रकार की ।

सा पुनरियं स्तुतिः चतुर्विधा,—नाम्ना, बन्धुभिः, कर्मणा, रूपेणेति, "स्तुतिनामरूपकर्मबन्धुभिः"—इत्युक्तम् ॥ ७ । १ । ४ ॥ (नि० अ० ७ खं० २ पृ० ५३८) ।

३१६ वागतिस्तुति ।

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनो गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते । गुहा गूहतेः । तुरीयं त्वरतेः । कतमानि तानि चत्वारि पदानि ? । ॐ कारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः । मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः । ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः । सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके । पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः ॥ अथापि ब्राह्मणं भवति सा वै वाक् सृष्टा चतुर्द्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम् । या पृथिव्यां साग्नौ, सा रथन्तरे । यान्तरिक्षे सा वायौ, सा वामदेव्ये । या दिवि सादित्ये, सा बृहति, सा स्तनयित्नौ ॥ अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुस्तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणामिति ॥ १ ॥ ६ ॥

"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि० (ऋ० सं० २, ३, २२, ५ । अथ० सं० ९, २५, २७, २९, १)"—इति । दीर्घतमस आर्षम् । वाग्देवते पशौ विनियोगः । प्रवल्हितेत्यनभिव्यक्तिविशिष्टो वाक्यार्थः । "चत्वारि" "वाक्परिमिता" "वाचः परिमितानि" "पदानि" न पञ्चमं पदमस्ति । "तानि" पुनः 'ब्राह्मणा विदु" । किं सर्वे ? न,— "ये मनीषिणः" 'मेधाविनः" । तेषां च पुनः पदानां "गुहा" "गुहायां" "त्रीणि" "निहिता" "निहितानि" "नेङ्गयन्ति" "नार्थं वेदयन्ते" न प्रख्यापयन्ति "तुरीयं" चतुर्थं भागम्, एकपदं "मनुष्याः" परिज्ञानार्थं "वदन्ति" ॥ "तुरीयं त्वरतेः" तद्धि त्वरितमिव निर्गतं भवति त्रिभ्यः ॥ "कतमानि तानि चत्वारि पदानि ?"—इति विचार्य.

---

(१) निपातः पादपूरणः ।

प्रश्नः ॥ तत्र तावत्, "नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः" मन्यन्ते । तत्रा-ऽप्रसिद्धार्थत्वादाख्यातोपसर्गनिपातपदानि अर्थं न वेदयन्ते, नामानि तु प्रसिद्धतरार्थत्वाद् गवाश्वा-दीन् वेदयन्त्यर्थान्-॥ एवं "मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः" अत्रापि व्यावहारिक्येव तु वेदयत्यर्थम् । "ऋचो यजूंषि सामानि, चतुर्थी व्यावहारि-कीति नैरुक्ताः" अत्रापि व्यावहारिक्येव वेदयते ॥ "सर्पाणां वाक्, वयसाम्, क्षुद्रस्य सरीसृपस्य, चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके" सर्पादीनामित्यधिभूतविदः । अत्रापि व्यावहारि-क्येव वेदयते, नेतराः । "पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः" । आत्मानं ये प्रवदन्ति आचार्यास्ते आत्मप्रवादाः ॥ "ब्राह्मणमपि च भवति" एतस्मिन्नर्थे,- सा वै वाक् सृष्टा चतुर्द्धा व्यभवत्"—इत्येवमादि । तदेतदभिव्यक्तार्थमेव । 'ततो या वाग-त्यरिच्यत, तां ब्राह्मणे न्यदधुः" निहितवन्तः, "तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वद-न्ति, या च देवानां, या च मनुष्याणाम्" लौकिकी वैदिकी चेत्यर्थः ॥ १३।९।१ ॥

(नि० अ० १३ ख० ९)

अथ हविष्कृतमुद्वादयति । हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति वाग्वै हविष्कृद्वा-चमेवैतद्विसृजते वाग् वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतत्पुनरुपह्वयते ॥ ११ ॥ तानि वाऽ-एतानि । चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्य-बन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य तदाहैतद्धि यज्ञियतममेतदु ह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात् ॥ १२ ॥

(श० प० प्रा० १ । १ । ४ । १२)

३१७ अर्थान्तरादीनांलक्षणानि ।

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बधार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुत. साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयान्नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतु. । हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि प्रत्यये कृदन्तपदं पदं च नामाख्यातोपसर्गनिपाताः अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम क्रियाकारकसमुदायः कारकः सङ्ख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधाय्याख्यातं धात्वर्थमात्रं च कालाभिधानविशिष्ट प्रयोगेष्वर्थादभिद्यमानरूपा निपाता उपसृज्य-मानाः क्रियावद्योतका उपसर्गा इत्येवमादि तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति ।

(न्या० द० अ० ५ आ० २ सू० ७)

३१८ वर्णविभाग समान प्रार्थना ।

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
१ तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ (अथ० का० ४ । २० । ४)

ताम् । मे । सहस्रऽअक्षः । देवः । दक्षिणे । हस्ते । आ । दधत् । तया २ । अहम् । सर्वम् । पश्यामि । यः । च । शूद्रः । उत । आर्यः ॥४॥

ताम् उक्तप्रभावां सदयुण्णाख्याम् ओषधिं देव दानादिगुणयुक्तः सहस्राक्ष. इन्द्रो मे मम दक्षिणे हस्ते आ दधत् अधारयत्। हे तादृशी ओषधे त्वया दक्षिण-हस्ते मणिरूपेण धृतया अहं सर्वम् द्रष्टव्यं विषयं पश्यामि साक्षात्करोमि। द्रष्टव्यं विषयं निर्दिशति यश्चेति। शूद्रोपलक्षितो यस्त्रैवर्णिकव्यतिरिक्तो जनः। आर्यो विद्वान् ब्राह्मणः। त्रैवर्णिकोपलक्षणम् एतत्। ये च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या ये च तद्-व्यतिरिक्ताः शूद्रादय तान् सर्वान् वशीकृत्य तत्कृतं रक्षः पिशाचादिकं निरसितुं पश्यामीत्यर्थः। (सा० आ० भा०)।

१ प्रियं मा दर्भ कृणु २ ब्रह्मराजन्याऽभ्यां ३ शूद्राय चार्याय च।
४ यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च ५ विपश्यते ॥ ८ ॥

(अ० सं० १६। ३२। ८)।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

(अ० सं० १६। ६२। १। पृ० ५४०)।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचᳪं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ ४८ ॥

(य० सं० १८। ४८)।

उ० रुचं नः अ॰ुष्टुबाग्नेयी। रुचं दीप्तिम् नः अस्माकं ये ब्राह्मणाः तेषु धेहि। रुच च राजसु नः संबन्धिषु कृधि कुरु। रुचं विश्येषु शूद्रेषु च नः संबन्धिषु कृधि कुरु। मयि च धेहि रुचा दीप्त्या सह रुचं दीप्तिम्। अनुत्सन्नधर्माणो यथा वयं दीप्त्या भवेम तथा कुर्वित्याशयः। यद्वा ब्रह्म प्रभृतिषु या रुक् तामस्माकं धेहि सर्वथा। किं बहुनोक्तेन मय्येव धेहि रुचा सङ्गता रुचम् ॥४८॥

म०अग्निदेवत्यानुष्टुप् प्रथमो नवकः। हे अग्ने, नोऽस्माकं ब्राह्मणेषु अस्मत्संबन्धिषु विप्रेषु रुचं दीप्तिं धेहि आरोपय। नोऽस्माकं राजसु क्षत्रियेषु रुचं कृधि कुरु 'श्रुशृणु-' (पा०६।४।१०२) इत्यादिना हेर्धित्वम् शपो लुक्। विश्येषु वैश्येषु शूद्रेषु चास्मदीयेषु रुच कुरु। किंच मयि विषये रुचा सह रुचं धेहि। अविच्छिन्नां रुचं धेहीत्यर्थः। यद्वा ब्राह्मणगतादि शूद्रेषु या रुक् तां नोऽस्माकं धेहि देहि शिष्टं पूर्ववत् ॥४८॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृत
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ॥

यह यजुर्वेद के ३१ अध्याय का ११ वां मन्त्र है, इसका यह। अर्थ है कि ब्राह्मण

ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरु और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिये जैसे अनेक उपाय करने पर मुख न बाहू आदि न मुख। हो सकता है इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रियादि और क्षत्रियादि ब्राह्मण नहीं हो सकते हैं।

शास्त्रों में तो मुख हाथ पैर वाला ईश्वर वर्णन नहीं करा है।

(मेरठ में सन् १६६६ फरवरी स्वा प्रे०)

प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ इति । निगमो भवति ।

गायत्र्या छंदसा ब्राह्मणमसृजत् त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छंदसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते ॥ त्रिष्वेव निवासः स्यात्सर्वेषां सत्यमक्रोधो दानमहिंसा प्रजनन च। (व० स्मृ० अ० ४)।

वेदे चराचरोत्पत्तौ मनुष्याणां चत्वारो वर्णाःश्रूयन्ते तद्यथा यजुर्वेदे—

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।

ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳪं शूद्रो अजायत ॥

अर्थ—अस्य विराजो मुखस्थानीयो ब्राह्मणः। बाहू राजन्यः। ऊरुर्वैश्यः। पद्भ्यां शूद्रः इति। अत्र चतुर्ष्वेव वर्णेषु मनुष्योत्पत्तिदर्शनान्मनुष्यजातौ पञ्चमवर्णाभावाद् धर्मरहिता अपि जनाश्चतुर्वर्णे सांकर्यादितेष्वेव वर्णेष्वन्तभूता न तेभ्य प्रथक् सन्तीति ॥ (प्रायश्चित्तादर्श)।

(श्री पं० ज्वा० द० शा० वि० भ्रा० मि० य० मुरादाबाद सं० १६५७ वि०)।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

(भ० गी० अ० ४ श्लो० १३)।

मानुष एव लोके वर्णाश्रमाधिकारो नान्येषु लोकेष्विति नियम. किं निमित्त इति अथवा वर्णाश्रमादि प्रविभागोपेताः मनुष्या मम वर्त्मानुवर्तन्ते सर्वश. इत्युक्तं कस्मात् पुनः कारणात् नियमेन तवैव वर्त्मानुवर्तन्ते नान्यस्येत्युच्यते चातुर्वर्ण्यमिति। चातुर्वर्ण्यं चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यं मया ईश्वरेण सृष्टम् उत्पादितं 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि श्रुतेः गुणकर्मविभागशः कर्मविभागश्च गुणाः सत्वरजस्तमांसि तत्र सात्त्विकस्य सत्व प्रधानस्य ब्राह्मणस्य शमो दमस्तप इत्यादीनि कर्म्माणि, सत्वोपसर्जनरजः प्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्य्यतेज. प्रभृतीनि कर्म्माणि तम उपसर्जन रजः प्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्म्माणि रजः उपसर्जन तमः प्रधानस्य शूद्रस्य शुश्रूषैव कर्मेत्येवं गुणकर्म विभागशः चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टमित्यर्थं तच्चेदं चातुर्वर्ण्यं नान्येषु लोकेषु अतो मानुषे लोके इति विशेषणं हन्त तर्हि चातुर्वर्ण्यस्य सर्गादेः कर्मण कर्त्तत्वात्तत् फलेषु युज्यसे अतो न त्वं नित्यमुक्तो नित्येश्वर इत्युच्यते यद्यपि मया संव्यवहारेण तस्य कर्मणा कर्तारमपि

सन्तं तथापि मां परमार्थतो विद्धि अकर्तारमत एव अव्ययम् असंसारिणञ्च मां विद्धि ॥ १३ ॥ (स्वा० शं० भा०)।

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत ॥ ३१ ॥

(म० स्मृ० १ । ३०)।

लोकानां त्विति ॥ भूरादीनां बाहुल्यार्थं मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्यथाक्रमं निर्मितवान्। ब्राह्मणादिभिः सायंप्रातरग्नावाहुतिः प्रक्षिप्ता सूर्यमुपतिष्ठते सूर्याद्वृष्टिर्वृष्टेरन्नमन्नात्प्रजाबाहुल्यम्। वक्ष्यति च अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यम्' - इत्यादि। दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणम्। ब्राह्मणो न विशङ्कनीयः श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रुतिः 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि ॥ ३१ ॥ (कु० भ०)।

३२० भारत

तस्मा॑ऽअ॒ग्निर्भार॑तः॒ शर्म॑ यंस॒ज्ज्योक्प॑श्या॒त्सूर्य॑मु॒च्चर॑न्तं।
य ऽइन्द्रा॑य सु॒नवा॒मेत्याह॒ नरे॒ नर्या॑य॒ नृत॑माय नृ॒णां ॥

(ऋ० सं० ३ । ६ । १३४)।

तस्मै॑ । अ॒ग्निः । भार॑तः । शर्म॑ । यं॒स॒त् । ज्योक् । प॒श्या॒त् । सूर्य॑म् । उ॒त्ऽ चर॑न्तम् । यः । इन्द्रा॑य । सु॒नवा॑म । इति॑ । आह॑ । नरे॑ । नर्या॑य । नृऽत॑माय । नृ॒णाम् ॥ ४ ॥

भारतः हविषोभर्ताग्निः प्राणोभूत्वा प्रजा अधारयत् तस्माद्भारत इति वाजसनेयक—तस्मैयजमानायशर्मसुखंयंसद्यच्छेत् किञ्चायमग्निः ज्योक् चिरकाल उच्चरतं उद्यन्तं सूर्यं पश्यात् पश्येत् यो यजमानः इन्द्रायसुनवामेत्याह इन्द्रार्थं सोमाभिषवं कुर्यामितिब्रवीति कीदृशायेन्द्राय नरेनेत्रे नर्याय नरहिताय नृणां नराणांनेतॄणांमध्ये नृतमाय नेतृतमाय ॥ ४ ॥ (सा० भा० भा०)।

३२१ अथाकारचिन्तनं देवतानाम् ॥ १ ॥

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्"। आह माहाभाग्याद् देवताया विकरणधर्मित्वादनियम आकारे, अथ नियमः? नन्वैश्वर्यव्याघातान्माहाभाग्याद्देवताया इत्येतद्व्याहन्यते, तस्मादथाकारचिन्तनं देवतानामित्येतदनारभ्यम्? उच्यते-आरभ्यमेव। प्रकृतिसत्तामनपेक्ष्य विकरणं नाम देवताधर्मो नास्ति। तस्मात् प्रकृतिश्चिन्त्यते देवतायाः। अपि च यत एवेश्वरा देवास्तत(१)एवोभयभावित्वात् 'कि-

---

१ 'भागित्वात्' ॥

कारवत्त्वं स्वभावो देवतायाः, अथवा निराकारवत्त्वम्?' इति सतत्त्वपरिज्ञानाय चिन्त्यते ॥

अस्तु तावदियं चिन्ता, किमिदमविशेषेण पक्षत्रयमस्याश्चिन्ताया विषयः, उत वा कस्मिंश्चिदेवैकस्मिन् पक्षे द्वयोर्वैतच्चिन्त्यते? इति ॥

(नि० दै० उ० अ० ७ ख० ६)

इह तावदात्मविदामेक आत्मा स प्रागविकारावस्थः सन्मात्र उदस्तसर्वाकृतिः, सर्गस्थित्योरुपात्तसर्वाकृतिः, तदेवमसावनाकृतिः, सर्वाकृतिर्वा? इत्यनास्वद्भूतोऽस्याश्चिन्ताया आत्मवित्पक्षः। अथ पुनर्यदासावुपात्तत्रिस्थानावस्थां नैरुक्तपक्षाभिमतमग्निवायुसूर्यभावं बिभर्ति, तदापि प्रत्यक्षत्वादविषयत्वमस्याश्चिन्तायाः। प्रत्यक्षत्वात्तेषामपौरुषविध्यस्य तत्पक्षोऽप्याकारचिन्ताविषयाभावादुदस्यत एव ॥

अथ पुनर्याज्ञिकानां यावदभिधानं देवतापक्षवादिनाम् अग्निवायुसूर्याभिधानानि प्रत्यक्षार्थाभि [धान] सम्बन्धीनि, जातवेदोरुद्रेन्द्रपर्जन्याश्विप्रभृतीन्यप्रत्यक्षार्थाभिसम्बन्धीनि। शब्दमात्रं प्रत्यक्षम्। अभिधानानां च लोके दृष्टमाकृतिपदार्थवत्त्वम् अनाकारार्थवत्त्वं च. रुद्रेन्द्रादीनां शब्दानां मन्त्रगतानां लौकिकैर्म(१)नुष्यादिशब्दैर्वाय्वात्माकाशादिभिर्वाभिधानत्वं तुल्यम्? तत्रैतद् भवति, अप्रत्यक्षत्वाद्रुद्राद्यभिधानानामर्थस्य,-किन्नु खल्वमी रुद्रादिशब्दाः मनुष्यादिशब्दवदाकारवदर्थेनार्थवन्तः, उत वाय्वात्माकाशादिशब्दवदनाकारेण? इति ॥

एवमयमस्याश्चिन्ताया याज्ञिकपक्षो विषयः "अपि वा पृथगेव स्युः" (७। ५। ५) इति। अत एव याज्ञिकपक्षादनन्तरमिदमारब्धम्—"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्"—इति ॥ (७। ६। १) ॥

३२२ देवता

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑दि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ २० ॥ (य० सं० १४। २०)।

तथा च श्रुति 'ओषधयो वै देवानां पत्न्यः' (६। ५। ४। ४) इति। (म० ध० भा० य० सं० ११। ६१) ॥

३२३ ओषधियों की स्तुति।

सु॒मि॒त्रि॒या न॒ आप॒ ओष॑धयः सन्तु दु॒र्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥ (य० सं० ३६। २३)।

---

१ 'मनुवाय्वाकाशादिभिर्वा, ॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे ।
सनेयमश्वं गां वासं आत्मानं तव पूरुष ॥ ७८ ॥ (य० सं० १२।७८) ।

३२४ व्यञ्जनस्तुति ।

व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति । यथा-ब्राह्मणायबुभुक्षितायौदनं देहि, स्नाताथानुलेपन, पिपासते पानीयमिति ॥ १४ ॥ १३ ॥ व्यञ्जनमात्रं तु तत् तस्याभिधानस्य भवति" । वृत्रहा पुरन्दर इति यदेवमादि गुणपदम्, तत् तस्येन्द्रादेः (१)संविज्ञानपदस्य व्यञ्जनमात्रं विशेषणमात्रं भवति, न पृथक् प्रधानम्, केवलस्य सम्बन्धात् स्तुत्या । "यथा" लोके—"ब्राह्मणाय बुभुक्षिताय ओदनं देहि, स्नाताय अनुलेपनम्, पिपासते पानीयम्-इति" । यो बुभुक्षितः, तस्मै इति । यथा तु बुभुक्षितशब्दो विशेषणम्, केवलस्य बुभुक्षितशब्दस्य विशेषतः क्वचिदनवस्थानात् । एवं वृत्रहा पुरन्दर इत्येवमादीनां विशेष्यमप्राप्यानवस्थानाद् व्यञ्जनमात्रता, न स्वप्रधानता । तस्मादेतान्यहं समामने-इति ॥ ७ । १३ । १४ ॥ (नि० अ० ७ ख० १३ पृ० ५८९) ।

३२५ अग्नि आदि देवताओं का अनुक्रम ।

अथातोऽनुक्रमिष्यामः ॥ १ ॥

"अथातोऽनुक्रमिष्यामः" । सामान्यतः (२)परिभाषितोऽग्न्यादिर्देवपत्न्यन्तो देवतापदसमाम्नायः, विशेषत इदानीं प्रतिपदमनु व्याख्यास्यते, (३)तदर्थमधिकारवचनम् अथेति अतः-इति आनन्तर्ये । सामान्यात् पारिभाषिकाद् व्याख्यानादनन्तरात् अनु आनुपूर्व्येण यथासमाम्नातं क्रमिष्यामः कथयिष्यामो वर्णयिष्यामो व्याख्यायेति वाक्यशेषः ॥ सा च पुनर्व्याख्या १ अभिधाना—२ ऽभिधेया—३ ऽभिधानव्युत्पत्ति—४ प्राधान्यस्तुत्युदाहरण-५ तन्निर्वचन--६ विचारो ७ पपत्त्य--८ वधारणक्रमलक्षणा । तद्यथा,—१ "अग्निः"-इत्यभिधानम् । २ "अयं पार्थिवः" इत्यभि(४)धेयम् । ३ "अग्रणीर्भवति" इत्यभिधानव्युत्पत्तिः । ४ "अग्निमीळे" इति प्राधान्यस्तुत्युदाहरणम् । ५ अग्निमीळे-"अग्निं याचामि" इति तन्निर्वचनम् । ६ "स न मन्येतायमेव अग्निः"—इति च विचारः । ७ "यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते"—इत्यु-(५)पपत्तिः । ८ "अयमेव सोऽग्निः"—इत्यवधारणम् । एवम्प्रकारया व्याख्यया प्रतिपदमनुक्रमिष्यामः ॥ तत्रैतद् भवति कोऽयमग्निः ? इति । 'आत्मा – इत्यात्मविदः "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (ऋ० सं० २, ३, २२,)"—

---

(१) 'संविज्ञान पदस्य' ॥ (२) 'परिख्यातो' ॥ (३) 'मधिकारार्थश्च' ॥
(४) 'भिधेयः' ॥ (५) 'इत्युपप' ॥

इति मन्त्रदर्शनात् । अविवक्षितस्थानविशेषो निर्ज्ञाततदभिधानो देवताविशेषो लोकेऽप्रसिद्धः कर्माङ्गमिति याज्ञिकाः । विवक्षितविशिष्टस्थानकर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवोऽयमग्निरिति नैरुक्तसमयः । तिस्राभ्युपगमात्स्थस्त्रिपादविपर्ययेदमारभ्यते ॥ ७ । १४ । १ ॥

३२६ १ त्रिपदेषु १ अग्निः ।

(अथ त्रीणि पदानि)

हरिः ॐ ॥ अग्निः ॥१॥ अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥२॥ "अग्निः पृथिवीस्थानः तं प्रथमं व्याख्यास्यामः"—इति । पृथिव्येवास्य विशेषत. स्थानम् न अन्तरिक्षम् न द्यौः इति पृथिवीस्थानः, तत्र कर्माधिकारात् तस्य । तिष्ठत्यस्मिन् इति स्थानम् । यस्मात् पृथिवी अस्य स्थानम्, तस्मात् सन्निकर्षाल्लोकानुक्रमाच्च न (१)असति कारणे प्रथमातिक्रमो न्याय्य इति तमेव प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥ ७ । १४ । २ ॥

अग्निः कस्मात् ॥३॥ "अग्निः कस्मात्" । देवताभिधाने देवनाम्, आत्मनः परोक्षीकृत्य परोक्षीकृतं तत्त्वसमर्पितम्. परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विष इति हि विज्ञायते । तन्निर्वचनाद्वागमप्रामाणिकं देवताताद्रूप्यमनुभवतीति अवेत्य तन्निर्विवक्षया "अग्निः कस्मात्" ? इत्युपोद्धत्य "अग्रणीः भवति"—इत्येवमादिना अग्निशब्दं निराह । सर्वत्रैवं देवतापदं उपोद्घातोपन्यासं द्रष्टव्यौ ॥ आत्मविद्पक्षे तु सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति सर्वावस्थमात्मानं सर्वाभिधानव्युत्पत्तितो निरुच्य (१)याथार्थ्यतः परिज्ञाय सर्वात्मन आत्मनः सर्वावस्थं विभूतिताद्रूप्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनम् । स्मर्यते हि,—"शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति"—इति ॥७।१४ ३॥

अग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति सन्नममानः ॥ ४ ॥

"अग्रणीःभवति"—इति । अग्निशब्दं विगृह्य वाक्यीकृत्य कृतवाक्यपदवर्णनिष्कर्षणसमुदायोपजनितस्य अग्निशब्दस्य अग्रशब्दात् गकारमुपलभ्य अग्रशब्दं कर्माभिधायिनं पूर्वपदत्वेन व्यवस्थाप्य नयतिं च परमुत्तरपदस्थं कर्त्तव्यार्थात्मने व्यवस्थाप्य अग्निशब्दं निराह ॥ अथ कोऽर्थः ? इति । सर्वेष्वर्थेष्वसावात्मानमग्रं नयति, सर्वत्र तथोपकरोति यथा अग्रं सम्पद्यत इत्यर्थः । अग्रशब्दः प्रधानवाची, स एव(२) वा अग्रं नयति । सेनां वा अग्रं नयति सैनापत्येऽवस्थित इत्येके, विज्ञायते हि,—"अग्निर्वै देवानां सेनानीः" इति ॥

अथवा "अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते" प्रथमं यज्ञेषु प्रणीयते, न तावत् किञ्चिदप्यन्यत् क्रियते यावदयं न प्रणीयत इति, ततोऽस्मिन् व्रतमुपेत्यान्यानि कर्माणि क्रियन्त इति ॥

अथवा—"अङ्गं नयति सन्नममानः" यत्राय सन्नमयति साधनत्वेन वैदिके वा लौकिके वार्थे, तत्र सन्नममान एवात्मानं प्रधानीकृत्य सर्वमन्यदात्मनोऽङ्गतां नयति गुणीकरोतीत्यर्थः ॥ अथवा—"अङ्गं नयति सन्नममानः" तृणे वा काष्ठे वा यत्र सन्नमति आश्रयति, तत् आत्मनोऽङ्गतां नयति, आत्मसात् करोतीत्यर्थः ॥७।१४।४॥ (नी० अ० ७ खं० १४)

---

(१) 'घास' ॥ (२) 'याथात्म्यतः' । (३) 'एव चाग्रं' ।

अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति ॥५॥

"अक्नोपनो भवति इति स्थौलाष्ठीविः"। स्थूलाष्ठीवनः पुत्रः स्थौलाष्ठीविः आचार्यः स एवं मन्यते–अयमक्नोपनो यस्माद् भवतीति तस्मादग्निरिति। किमिदमक्नोपन इति? (१)अत आह–"नक्नोपयति"। एवमपि न गृह्यते क्नोपयतेरप्रसिद्धार्थत्वात्। अतः पुनरप्रसिद्धेनार्थेन–"न स्नेहयतीति" ॥ विरूक्षीकरोतीत्यर्थः। स हि तस्य स्वभावः॥ ७।१४।५

त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः॥ ६ ॥ १४ ॥

"त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः" त्रयाणामाख्यातानामभिधेयाः क्रिया अत्र लक्ष्यन्ते, ता उपादाय हेतुत्वेनाग्निशब्द आत्मानं लभते। तद्यथा,–"इतात्" इण गतौ (अदा० प०)'–इत्यस्मादित्यर्थः "अक्तात्, दग्धाद् वा" अनक्तेर्वा दहतेर्वा विस्तृतयोः। ततः "नीतात्" इति, 'णीञ् प्रापणे (भ्वा० प०)'–इत्येतस्मात्। धातवः केवल निर्दिष्टाः॥ किं कुत आदत्ते? इत्यत आह,–"स खलु" शाकपूणिः "एतेः" धातोः "अकारम् आदत्ते"॥ नन्वेतेर्धातोरकार एव नास्ति, अत. किमादत्ते? सत्यम्–नास्ति, वर्णसामान्येन तद्विकारमादाय इणोऽर्थदर्शनात् अग्नौ, शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वात्, अर्थे च गुणभूतत्वाच्छब्दस्य, ततः तं व्यापादयत्यकारत्वेन॥ अथवा–रूपानेकत्वादिणो यथावस्थितस्याकारो भवति, तथा रूपमवस्थाप्य ततोऽकारमादत्ते। दर्शितं चैतत्–"एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम्"–इत्यत्र, भवति चास्य ण्यन्ते रूपम् 'आययति'–इति, अत्र अकारः, ततः आदत्ते॥ "गकारम्, अनक्तेः वा दहतेः वा" कृतमुत्व–[जरत्व–कुत्वघत्व] जरत्वयोर्विकल्पेन॥ "नीः परः" एष ह्रस्वः। एति च व्यनक्ति च रूपाणि, अथवा-एति च दहति च, नयति च हवींषि देवेभ्यः इति अग्निः साधीयस्तरः। एता एतद्धातुवाच्याः क्रियाः एष करोति एति "अग्निः" ॥७।१४।६॥

तस्यैषा भवती– ॥

तस्यैतल्लक्षितलक्षप्रधानस्तुतिसम्बन्धमभिधानमुपलक्ष्य देवतापदसमाम्नाये समाम्नातमग्निरिति, तस्य "अग्निमीळे"–इत्येतत्प्रमुखा अग्निकर्मलिङ्गलिङ्गताः सर्वा आग्नेय्य ऋच उदाहरणम्। न पुनरसति कारणे मुख्यातिक्रमो न्याय्य इति ऋग्वेदप्रथमामिमामृचमुदाजहार "तस्य एषा भवति"–इति,–*

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्न धातमम्।" ..... ॥ नि० अ० ७ खं० १४,१५ दै० का०)।

३२७ ॥ वर्णानां निर्णयः ॥

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयोद्विजाः। निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रिया ॥ १० ॥ (या० स्मृ० आ० अ० ब्र० प्र० २)। माह-

(१) 'यत आ' ॥

णक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो वर्णा वक्ष्यमाणलक्षणास्तेषामाद्यास्त्रयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या द्विजाः द्वि- र्जायन्त इति द्विजाः तेषां द्विजानां वै एव न (१)शूद्रस्य । निषेकाद्याः निषेको गर्भाधा- नमाद्यो यासां तास्तथोक्ता. । श्मशानं पितृवन तत्संबन्धि कर्म (२)अन्ते यासां ताः क्रिया मन्त्रैर्भवन्ति ॥१०॥

३२८ ॥ द्विजाति ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥५॥ (व्या०स्मृ० अ०१) । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥६॥ (शं० स्मृ० अ० १) । त्रयो वर्णा द्विजा- तयो ब्रह्माणक्षत्रियवैश्याः । (व० स्मृ० अ२) ।

३२९ ॥ द्विजत्व हेतुकथनम् ॥

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् । ब्राह्मणक्षत्रियविशास्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः ॥३९॥ (या० स्मृ० आ० अ० ब्र० प्र०२) मातुः सकाशात्प्रथमं जाय- न्ते, मौञ्जिबन्धनाच्च द्वितीयं जन्म यस्मात्तस्मादेते ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या द्विजा उच्यन्ते ॥३९॥

३३० ॥ द्विजातीनामिज्यादिकर्माणि ॥

इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च । प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥ ११८ ॥ (या० स्मृ० आ० गृ० ध० प्र० ५) । वैश्यस्य क्षत्रियस्य च चकाराद्ब्राह्मणस्य द्विजानुलोमानां च यागाध्ययनदानानि साधारणानि कर्मा- णि । ब्राह्मणस्याधिकानि प्रतिग्रहयाजनाध्यापनानि । तथेति स्मृत्यन्तरोक्तवृत्त्युपसंग्रहः य- थाह गौतमः ।—'कृषिवाणिज्ये वा स्वयं कृते कुसीदं च' इति । अध्यापनं तु क्षत्रिय- वैश्ययोर्ब्राह्मणप्रेरितयोर्भवति न स्वेच्छया ।—'आपत्काले ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगोऽनुग- मनं शुश्रूषा, समाप्ते ब्राह्मणो गुरुः' इति गौतमस्मरणात् । एतान्यनापदि ब्राह्मणस्य षट् कर्माणि । तत्र त्रीणीज्यादीनि धर्मार्थानि । त्रीणि प्रतिग्रहादीनि वृत्त्यर्थानि ।—'षण्णां तु कर्मणा- मस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥' इति (१०।७६) मनुस्मरणात् । अत इज्यादीन्यवश्यं कर्तव्यानि न प्रतिग्रहादीनि । द्विजातीनामध्ययनमिज्या दान च ब्राह्मणस्याधिकाः, प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः पूर्वेषु नियमः' इति गौतमस्मरणात् ॥११८॥

३३१ ॥ क्षत्रियवैश्यपतित ॥

प्रतिग्रहोऽध्यापनं च तथाऽविक्रेय विक्रियः । याज्यं चतुर्भिरप्येतैः क्षत्र विट् पतनं स्मृतम् ॥२०॥ (अ० स्मृ०) दान लेना, पढ़ाना, वैसे ही निसिद्ध वस्तुओं का लेना, वेचना और यज्ञ कराना इन चार कर्मों के करनेसे क्षत्रिय और वैश्य पतित होते हैं ॥ २० ॥

३३२ क्षत्रियवैश्ययोर्जीविका ।

शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु दानम-

---

(१) न शूद्राणां क (२) अन्तो यासां क ।

ध्ययनं यजिः ॥ ७६ ॥ (म० स्मृ० १० । ७६) । अस्त्राणांनि ॥ शस्त्रं खड्गादि, अस्त्रं बाणादि एतद्धारणं प्रजारक्षणाय क्षत्रियस्य च वृत्त्यर्थम् । वाणिज्यपशुरक्षणकृषिकर्माणि वैश्यस्य जीवनार्थानि । धर्मार्थाः पुनरनयोर्दानाध्ययनयागा भवन्ति ॥ ७९ ॥ (कु० भ०)

३३३ क्षत्रियवैश्यकर्माणि ।

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् । कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ॥ ११९ ॥ (या०स्मृ०आ०गृ०ध०प्र०५) क्षत्रियस्य प्रजापालनं प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । वैश्यस्य कुसीदकृषिवाणिज्यपशुपालनानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि । कुसीदं वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः । लाभार्थं क्रयविक्रयौ वाणिज्यम् । शेषं प्रसिद्धम् । 'शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषी विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजि ॥' इति (१०।७९) मनुस्मरणात् ॥११९॥

३३४ वैश्यशूद्रकर्म ।

वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात्कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ॥ १८ ॥ (पा० स्मृ० अ०२) । वैश्य तथा शूद्र खेती वाणिज्य और शिल्प कर्म को करें ॥ १८ ॥

३३५ क्षत्रिय वैश्ययोरेकान्नभोजन निषेधः ।

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः । राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्मविधीयते ॥ (म० स्मृ० २ । १९०) । ब्राह्मणस्यैवेति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणामेव ब्रह्मचारिणां भैक्षाचरणविधानात् 'व्रतवत्' इत्यनेन तदपवादरूपमेकान्नभोजनमुपदिष्टं क्षत्रियवैश्ययोरपि पुनरुक्तेन पर्युदस्यते । एतदेकान्नभोजनरूपं कर्म तद्ब्राह्मणस्यैव वेदार्थविद्भिर्विहितं क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्न चैतत्कर्मेति मते ॥ १९० ॥

३३६ राज्ञा वैश्यशूद्रौस्वस्वकर्मणि नियोज्यौ ।

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् । तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् । (म० स्मृ०८।४१८) वैश्येति ॥ वैश्यं कृष्यादीनि शूद्रं च द्विजातिशुश्रूषादीनि कर्माणि यत्नतो राजा कारयेत् यस्मात्तौ स्वकर्मभ्यश्च्युतावशास्त्रीयोपार्जितधनप्राणमदादिना जगदाकुलीकुर्याताम् ॥ ४१८ ॥

३३७ अनाथ ब्राह्मण और द्विजाति ।

अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहंति द्विजातयः । पदे पदे यज्ञफलमानुपूर्व्याल्लभंति ते ॥ ४१ ॥ (पा० स्मृ० अ० ३।४१) । जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अनाथ ब्राह्मण के मरने पर अपने कंधों पर ले जाते हैं, उनको एक एक पद पर वे यज्ञ फल को पाते हैं ॥ ४१ ॥

३३८ ब्राह्मण के चार आश्रम ।

भीष्म उवाच—युधिष्ठिर के प्रति ।

ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिता प्रभो । वर्णास्तान्नानुवर्तन्ते त्रयो भरतसत्तम ॥ २ ॥ उक्तानि कर्माणि बहूनि राजन—स्वर्ग्याणि राजन्यपरायणानि ।

नेमानि दृष्टान्तविधौ स्मृतानि-चात्रेहि सर्वं विहितं यथावत् ॥ ३ ॥ क्षत्राणि वैश्यानि च सेवमानः-शौद्राणि कर्माणि च ब्राह्मणः सन्। अस्मिल्लोके निन्दितो मन्दचेताः परे च लोके निरयं पयाति ॥४॥ (म० भा० शा० प० अ० ६२)।

३३९ ब्राह्मणशब्द और व्याकरण।

जात्यन्ताच्छ बन्धुनि। ५।४।६॥ ब्राह्मणजातीयः॥ बन्धुनि किम्? ब्राह्मणजातिः शोभना। जातेर्व्यञ्जकं द्रव्य बन्धु॥ (सि० कौ० त० स्वा० प्र० पृ० २४३)। ब्राह्मोऽजातौ ६।४।१७१। योगविभागोऽत्र कर्तव्यः 'ब्रह्म' इति निपात्यते अनपत्येऽणि॥ ब्राह्मं हविः। ततः—'अजातौ'। अपत्ये जातावणि ब्रह्मणष्टिलोपो न स्यात्॥ ब्राह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः॥अपत्ये किम्? ब्राह्मी औषधिः (सि० कौ० त० अ० प्र० पृ० १७९)। ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम्। ५।४।१०४। ब्रह्मान्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात्समासेन (१) जानपदत्वमाख्यायते चेत्॥ सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः॥ (सि० कौ० त० पु० प्र० पृ० १२४)। द्वितीया ब्राह्मणे। २।३।६०। ब्राह्मणविषये प्रयोगे दिवस्तदर्थस्य कर्मणि द्वितीया स्यात्। (सि० कौ० वै० प्र० अ० २ पृ० ४९७)। गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। ५।१।१२४)। चाद्भावे॥ जडस्य कर्म भावो वा जाड्यम्। मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम्। ब्राह्मण्यम्॥ अर्हतो नुम च *। अर्हतो भावः कर्म वा आर्हन्त्यम्। आर्हन्ती। ब्राह्मणादिराकृतिगणः॥ (सि० कौ० त० भा० क० अ० प्र० पृ० २२२)। द्रव्यं च भव्ये। ५।३।१०४। द्रव्यमयं ब्राह्मणः। (सि० कौ० त० स्वा० प० पृ० २४१) ब्रह्मणो विप्रस्य प्रजापतेर्वा अपत्यम्। ब्रह्मवेदस्तदधीते वा सः। ब्राह्मणः प प्रत्ययेन पदं सिद्धम्। इति भारतः ब्रह्मा प्रजापति के अपत्य संतान होने से अथवा ब्रह्म (वेद) के पढ़ने से ब्राह्मण पद सिद्ध होता है वा ब्रह्म के आगे पण्प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। (श्री पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र मुरादाबाद)।

ब्राह्मणमाणववाडवाद्यत्। ४।२।४२। ब्राह्मण्यम्। माणव्यम्। वाडव्यम्। (सि० कौ० त० र० प्र०)। ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्। ५।२।७१। आयुधजीविनो ब्राह्मणा यस्मिन्देशे स ब्राह्मणकः अल्पमन्नं यस्यां सा उष्णिका यवागूः। अन्नशब्दस्य उष्णादेशो निपात्यते। (सि० कौ० त० म० प्र०)।

२४० ब्राह्मणी में ब्राह्मण से ब्राह्मण होता है।

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव ब्राह्मणः स्मृतः। (हा० स्मृ० अ० १।१५)

३४१ ब्राह्मण की प्रथम उत्पत्ति।

त्रयो लोकास्त्रयो वेदा आश्रमाश्च त्रयोऽग्नयः। एतेषां रक्षणार्थाय संसृष्टा ब्राह्मणाः पुरा॥ २५॥ (अ० स्मृ०) स्वर्ग, पृथिवी और पाताल यह तीनों लोक, ऋक्, यजु, साम यह तीनों वेद, ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास यह चारों आश्रम,

(१) जनपदो देश इति देशसंबन्धित्वम् आख्यायते चेत् इत्यनेन तस्मिन् सुराष्ट्रदेश-स्थयितृत्वमिव प्रतीयते॥

दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय यह तीनो अग्नि इन सब की रक्षा के निमित्त विधाता ने ब्राह्मणों की सृष्टि की है ॥ २५ ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥६॥
(सा० सं० ऐं० प० अ० ३ ख० ६ पृ० १६७) ।

अथ नवमी । बृहस्पतिर्नकुलो वा ऋषिः । वेनो नाम कश्चित् कमनीयो गन्धर्वः तथा च शाखान्तरे-वेनस्तत्पश्यन्नित्यारभ्य गन्धर्वो नाम इत्याम्नातम् । स च वेनः पुरस्तात् पूर्वस्मिन् काले जज्ञानम् उत्पन्नम् अभिज्ञं वा ब्रह्म ब्राह्मण-जातिरूपं प्रथमम् आद्यशरीरम् । अतोऽस्याः सर्वैर्दृश्यमानायाः सुरुचः शोभनायाः कान्तेः आव रक्षितवान् वसुमेत्यनुग्रहसूचकः कश्चिदनुकरणशब्दः, तथाविधं शब्दं मुखेनाभिव्यञ्जयन् । ब्राह्मणशरीरं महत्या कान्त्या योजितवानित्यर्थः । स वेनः बुध्न्याः मूलं अन्तरिक्षं वा बुध्नः तत्र भवा. अस्योपमाः एतदीयशरीरकान्तिसदृशाः आदित्यप्रकाशादिरूपाः कान्तीः विष्ठाः विशेषेण स्थापितवान् । तथा सतश्च इदानीं विद्यमानस्य च असतश्च भविष्यद्रूपत्वेदानीमविद्यमानस्य च योनिम् उत्पत्तिकारणं निवासस्थानं वा विवः विवृतवान् निष्पादितवानित्यर्थः ॥९॥ (सा० आ० भा०) ।

३४२ ब्राह्मण के छः नाम ।

द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मणोऽसौ षट्कर्मा यागादिभिर्वृतः (अ० को० कां० २ ब्र० व० ८) । द्विजातिः, अग्रजन्मा, भूदेव. वाडवः, विप्रः, ब्राह्मणः, इति ६ ब्राह्मणस्य । असौ ब्राह्मणः यागादिभिर्वृतः षट्कर्मा स्यात् ।

३४३ ब्राह्मण के छः कर्म ।

षट्कर्माणि निजान्याहुर्ब्राह्मणस्य महात्मनः । तैरेव सततं यस्तु वर्तयेत्सुखमेधते ॥१७॥ अध्यापनं चाध्ययनं याजनं यजनं तथा ॥ दानं प्रतिग्रहश्चेति षट् कर्माणीति प्रोच्यते ॥१८॥ अध्यापनं च त्रिविधं धर्मार्थमृक्थकारणात् । शुश्रूषाकरणं चेति त्रिविधं परिकीर्तितम् ॥ १९ ॥ (हा० स्मृ० अ० १०। १७,-१९) । संध्या स्नानं जपो होमो देवतानां च पूजनम् । आतिथ्य वैश्वदेवं च षट् कर्माणि दिने दिने ॥ ३९ ॥ (शं० स्मृ० अ० १) षट्कर्माभिरतो नित्यं देवतातिथि पूजक । हुतशेषं तु भुंजानो ब्राह्मणो नावसीदति ॥ ३८ ॥ (पा० स्मृ० अ० १) षट्कर्माणि ब्राह्मणस्य अध्ययनमध्यापनं ॥ यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति । (व०स्मृ०अ०२) । इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥ (या० ध० स्मृ० आ० अ० ग्र० प्र० २) । इज्यादीनां कर्मणामयमेव परमो धर्म यद्योगेन बाह्यचित्तवृत्तिनिरोधेनात्मनो दर्शनं याथातथ्यज्ञानम् । योगेनात्मज्ञाने देशादिनियमो नास्तीत्यर्थः । तदुक्तं 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' इति पातञ्जले ॥ ८ ॥ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥ (म० स्मृ० अ०१।८८) अध्यापनमिति ॥ अध्यापनादीनामिह सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविशेषतयाभिधानं त्रिधिस्तेषामुत्तरत्र भ-

विष्यति । अध्यापनादीनि षट् कर्माणि ब्राह्मणानां कल्पितवान् ॥ ८८ ॥ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥ अध्यापनमिति ॥ अध्यापनाध्ययनं सांगस्य वेदस्य, तथा यजनयाजनं, दानप्रतिग्रहौ चेत्येतानि षट् कर्माणि ब्राह्मणस्य वेदितव्यानि ॥७५॥ षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥ (म० स्मृ० अ० १० । ७५ । ७६) । षण्णामिति ॥ अस्य ब्राह्मणस्यैषामध्यापनादीनां षण्णां कर्मणां मध्यायाजनमध्यापनं विशुद्धप्रतिग्रहः 'द्विजातिभ्यो धनं लिप्सेत्प्रशस्तेभ्यो द्विजः, इति वचन निर्देशाद्द्विजातेः प्रतिग्रह इत्येतानि त्रीणि कर्माणि जीवनार्थानि ज्ञेयानि ॥ ७६ ॥ (कु० भ०) ।

३४४ शिरकी प्रधानता

श्रुति-वेदे श्रवसि कर्णे च श्रुतिः । (अ० को० का० ३ वर्ग) अग्निरापश्च वेदाश्च सोमसूर्यानिलास्तथा । एते सर्वेऽपि विप्राणां श्रोत्रेतिष्ठंति दक्षिणे ॥ ३६ ॥ प्रभासादीनि तीर्थानि गंगाद्याः सरितस्तथा । विप्रस्य दक्षिणे कर्णे सन्निध्यं मनुरब्रवीत् ॥ ४० ॥ (पा० स्मृ० अ० ७) । देवतोपदेशादाग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशदिति (ब्र० सू० भाष्ये १ अध्याये ४ पादे) अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो शिश्नं प्राविशत् ॥ ४ ॥ (ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषत् अ० १) 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' [ऐ० आ० २, ४, २] इति श्रुतेः उपलक्षणम् एतत् । एवम् अन्यान्यपि इन्द्रियाणि पुरुषसंबन्धीनि तत्तदधिदेवता विभेजिरे विभज्य स्वीकृतवत्य. (सा० आ० भा० अ० सं० ११ । १० । ३१ के में) । शीर्षश्छन्दसि । ६ । १ । ६० ॥ शिरः शब्दस्य शीर्षन् स्यात् । शीर्ष्णः । शीर्ष्णो जगतः ॥ (सि० कौ० वै० प्र० पृ० ५०५ । सर्वौषधीनाममृताप्रधाना-सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम् । सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं-सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम् ॥ ४ ॥ (चा० नी० द० अ० ६ । ४) । सब औषधियों में गुरुच (गिलोय) प्रधान है, सब सुखों में भोजन श्रेष्ठ है, सब इन्द्रियों में आँख उत्तम है और सब अंगों में शिर श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥ वासुदेव. परमिदं विश्वस्यब्रह्मणो मुखम् । (म० भा० शा० प० मो० ध० अध्या० २१०)

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥ १ ॥

तस्य प्रसिद्धस्य पिण्डात्मना भावनीयस्य ओदनस्य बृहस्पतिर्देवः मूर्धा । तस्यापि कारणभूतं यद् ब्रह्म तत् ओदनस्य मुखम् आस्यम् ।

(अ० सं० ११, ३, १) ।

३४५ **ब्राह्मण की श्रेष्ठता।**

छायां यथेच्छेच्छरदातपार्तः पयः पिपासुः क्षुधितोऽन्नमन्नम्। बालो जनित्रा जननी च बाल योषित्पुमांसं पुरुषश्च योषाम्॥३॥ जिस भांति शरद ऋतु (क्वार कार्तिक) में यह मनुष्य धूप से दुःखित हो छाया की इच्छा करता है उसी भांति तृषा वाला मनुष्य जल की, क्षुधावाला मनुष्य अन्न की, बालक माता की और माता बालक की, स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की इच्छा करते हैं॥३॥ तथा सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च॥ विप्रादुदकमिच्छन्ति सर्वाभ्युदयकृद्धि सः॥४॥ (का० स्मृ० स० १२)। इसी प्रकार स्थावर और जङ्गम यह सम्पूर्ण प्राणी ब्राह्मण से उदक की इच्छा करते हैं॥४॥ ब्रह्मस्वे न रतिं कुर्यात्प्राणैः कण्ठगतैरपि। अनौषधमभैषज्यं विषमेतद्धलाहलम्॥४५॥ चाहे प्राण भी कण्ठ तक आ जायें परन्तु ब्राह्मण के धन की इच्छा कभी न करे अर्थात् उसको लेने की इच्छा न करे ब्राह्मण का धन हलाहल विष के समान है; इसके न चिकित्सा है और न औषधि है॥४५॥ न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते॥ विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रकम्॥४६॥ बुद्धिमानों का कथन है कि विष विष नहीं है, परन्तु ब्राह्मण का धन ही विष है कारण कि विष को खाकर तो एक ही मनुष्य मरता है परन्तु ब्राह्मण के धन को खाकर बेटे पोते तक मृतक हो जाते है॥४६॥ लोहचूर्णाश्मचूर्णं च विषं च जरयेन्नरः॥ ब्रह्मस्वं त्रिषु लोकेषु कः पुमाञ्जरयिष्यति॥४७॥ लोहे का चूर्ण पत्थर का चूर्ण और विष कदाचित् इनको तो मनुष्य एक बार पचा भी सकता है परन्तु त्रिलोकी के बीच में ऐसा कोई पुरुष भी सामर्थ्य वाला नहीं जो कि ब्राह्मण के धन को पचा सके॥४७॥ मन्युप्रहरणा विप्रा राजानः शस्त्रपाणयः॥ शस्त्रमेकाकिनं हंति ब्रह्ममन्युः कुलत्रयम्॥४८॥ ब्राह्मणों का क्रोध अस्त्र है, राजाओं के शस्त्र खड्ग इत्यादि हैं, इन दोनों में खड्ग तो एक ही मनुष्य को मारता है और ब्राह्मण का क्रोध तीनों कुलों को नष्ट कर देता है॥४८॥ मन्युप्रहरणा विप्राश्चक्रप्रहरणो हरिः॥ चक्रात्तीव्रतरो मन्युस्तस्माद्विप्रं न कोपयेत॥४९॥ क्रोध ब्राह्मणों का प्रहरण है, चक्र विष्णु का प्रहरण है, चक्र से क्रोध बड़ा तीक्ष्ण है इस कारण ब्राह्मण को क्रोध न उत्पन्न करावे॥४९॥ अग्निदग्धाः प्ररोहंति सूर्यदग्धास्तथैव च॥ मन्युदग्धस्य विप्राणामंकुरो न प्ररोहति॥५०॥ (वृक्षादि) कदाचित् अग्नि से दग्ध होकर या सूर्य की किरणों से भस्म होकर जम आते हैं, परन्तु ब्राह्मणों के क्रोध से दग्ध हुये (मनुष्यों) का अंकुर तक भी नहीं जमता॥५०॥ तेजसाग्निश्च दहति सूर्यो दहति रश्मिना॥ राजा दहति दंडेन विप्रो दहति मन्युना॥५१॥ अग्नि अपने तेज से दग्ध करते हैं और सूर्य भगवान् अपने किरणों के द्वारा दग्ध करते हैं; राजा दंड से दग्ध करते हैं और ब्राह्मण केवल अपने क्रोध के द्वारा ही दग्ध करते हैं॥५१॥ ब्रह्मस्वेन तु यत्सौख्यं देवस्वेन तु या रतिः॥ तद्धनं कुलनाशाय भवत्यात्मविनाशनम्॥५२॥ ब्राह्मण के धन से जो सुख होता है, और देवता के धन से जो रति होती है वह धन कुल और आत्मा को नष्ट कर देता है॥५२॥ ब्रह्मस्व ब्रह्महत्या च दरिद्रस्य च यद्धनम्॥ गुरुमित्रहिरण्यं च स्वर्गस्थमपि पीडयेत्॥५३॥ ब्राह्मण का धन का हरण करने से ब्रह्महत्या

लगती है; दरिद्र और गुरु का धन हरण करने से, मित्र का धन हरण करने से और सुवर्ण के चुराने से स्वर्गमें वास करने वाला भी दुःख भोगता है ॥ ५३ ॥ ब्रह्मस्वेन तु यच्छिद्रं तच्छिद्रं न प्ररोहति ॥ प्रच्छादयति तच्छिद्रमन्यत्र तु विसर्पति ॥ ५४ ॥ ब्राह्मण के धन का हरण करने में जो दोष है वह किसी भांति नहीं मिटता; उसको किसी भांति छिपा भी ले तो भी वह प्रगट हो जाता है ॥ ५४ ॥ ब्रह्मस्वेन तु पुष्टानि साधनानि बलानि च ॥ संग्रामे तानि लीयन्ते सिकतासु यथोदकम् ॥ ५५ ॥ (वृ० स्मृ०) । ब्राह्मण के धनसे पुष्ट हुये साधन (कारण) और सेना यह संग्राम में इस भांति नष्ट हो जाते हैं जिस भांति रेत में जल लीन हो जाता है ॥ ५५ ॥ ब्राह्मणस्य मुखं क्षेत्रं निरुपममकंटकम् ॥ वापयेत्सर्वबीजानि सा कृषिः सर्वकामिका ॥ ६४ ॥ (पा० स्मृ० अ० १) । ब्राह्मण का मुख अनुपम कांटकादिरहित उत्तम क्षेत्र है उसमें सम्पूर्ण बीजों को बोवे, ब्राह्मण की मुखरूपी खेती संपूर्ण कामनारूप फलोंकी देने वाली है ॥ ६४ ॥ यो न दद्याद्द्विजातिभ्यो राशिमूलमुपागतः ॥ स चोरः स च पापिष्ठो ब्रह्मघ्नं तं विनिर्दिशेत् ॥ १६ ॥ (अ० २) । जो खेती करने वाला मनुष्य अन्नके ढेर में से प्रथम भाग ब्राह्मणोंको नहीं देता ॥ वह चोर, पापी, और ब्रह्महत्या करने वाले के समान है ॥ १६ ॥ ब्राह्मणा जंगमं तीर्थं तीर्थभूता हि साधवः ॥ तेषां वाक्यउदकेनैव शुद्ध्यंति मलिना जनाः ॥ ६१ ॥ ब्राह्मण जंगमतीर्थस्वरूप हैं, पापी पुरुष उन ब्राह्मणों के वचनरूपी जलसे शुद्ध होजाते हैं ॥ ६१ ॥ ब्राह्मणा यानि भाषंते मन्यंते तानि देवता. ॥ सर्वदेवमयो विप्रो न तद्वचनमन्यथा ॥ ६२ ॥ ब्राह्मण जो भाषण करते हैं उनको देवता मानते हैं क्योंकि ब्राह्मण सर्वदेवमय है, उसका वचन अन्यथा नहीं होता ॥ ६२ ॥ उपवासो व्रतं चैव स्नानं तीर्थं जपस्तप. ॥ विप्रैः संपादितं यस्य संपूर्णं तस्य तत्फलम् ॥६३॥ (अ० ६) । ब्राह्मण जिसके उपवास, व्रत, और स्नान, तीर्थ, जप, तपादि ब्राह्मण के द्वारा किये जाते हैं वह सम्पूर्णफल उसका होता है ॥ ६३ ॥ दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेंद्रियः ॥ कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवती खरीम् ॥३३॥ (पा० स्मृ० अ० ८) । दुःशील होने पर भी ब्राह्मण पूजनीय है और शूद्र जितेन्द्रिय होने पर भी पूजनीय नहीं हो सकता, ऐसा कौन मनुष्य है जो देखभालकर भी दूषित अंगवाली गौ को त्यागकर शीलवती गधी को दुहेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ ३३ ॥ मातापित्रोः परं तीर्थं गंगागावो विशेषतः ॥ ब्राह्मणात् पर तीर्थं न भूतं न भविष्यति ॥ १२ ॥ माता और पिता यही प्रधान तीर्थ है, यद्यपि गङ्गा और गौ यह भी तीर्थ हैं परन्तु ब्राह्मणों से बढ़कर तीर्थ न हुआ और न होगा ॥ १२ । देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ॥ कुलान्यकुलतां यांति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ३४ ॥ देवता के द्रव्यका नाश ब्राह्मणके धनकी चोरी और ब्राह्मण का उल्लंघन इन से अच्छे कुल भी दुष्ट कुल हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणेषु च यद्दत्तं यच्च वैश्वानरे हुतम् ॥ तद्धनं धनमाख्यातं धनं शेषं निरर्थकम् ॥ ३६ ॥ जो धन ब्राह्मणों को दिया जाता है वही धन यथार्थ धन कहा है और सम्पूर्ण धन वृथा है ॥ ३९ ॥ ब्राह्मणा येन जीवंति नान्योवर्णाः कथंचन ॥ ईदृक्पथमुपस्थाय कोऽन्यस्तं त्यक्तुमुत्सहेत् ॥ ४६ ॥ जिससे ब्राह्मण जीते हैं उससे और वर्ण कभी नहीं जीते अर्थात् ऐसे मार्ग में स्थित होने वाले को कौन परित्याग करने की इच्छा करेगा, अर्थात्

कोई नहीं ॥ ४६ ॥ ब्राह्मणः स भवेच्चैव देवानामपि दैवतम् ॥ प्रत्यक्षं चव लोकस्य ब्रह्मतेजो हि कारणम् ॥ ४७ ॥ वह ब्राह्मण देवता का भी देवता है और प्रत्यक्ष जगत् का कारण ब्रह्मतेज है ॥४७॥ ब्राह्मणस्य मुखं क्षेत्रं निष्कर्कंटकम् ॥ वापयेत्तत्र बीजानि सा कृषि: सार्वकामिको ॥ ४८ ॥ ब्राह्मण का मुख जो कंकर और काँटों से रहित क्षेत्र है, उसमें बीज बोवे, कारण कि यह खेती सर्व मनोरथों को देने वाली है ॥ ४८ ॥ यस्य देहे सदाश्नति हव्यानि त्रिदिवौकसः ॥ कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ५४ ॥ (व्या० स्मृ० अ० ४)। जिस ब्राह्मण के शरीर में देवता हव्य और पितर काव्य सर्वदा भोजन करते रहते हैं, उससे परे और कौन होगा ॥५४॥ जपच्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं यज्ञकर्मणि ॥ सर्वं भवति निश्छिद्रं यस्य चेच्छंति ब्राह्मणाः ॥२६। जप, तप, तथा यज्ञ इत्यादि के कर्म में जो न्यूनता रह जाती है वह ब्राह्मणों की वाणी से दूर हो जाती है ॥२६॥ ब्राह्मणा यानि भाषन्ते मन्यंते तानि देवताः ॥ सर्वदेवमया विप्रा न तद्वचनमन्यथा ॥ २७ ॥ ब्राह्मण जो कहते हैं उसे देवता भी मानते हैं, कारण कि ब्राह्मण देवताओं के स्वरूप हैं, इसी कारण उनका वचन मिथ्या नहीं होता ॥२७॥ उपवासो व्रतं चैव स्नानं तीर्थफलं तपः ॥ विप्रैस्सम्पादितं सर्वं सम्पन्नं तस्य तत्फलम् ॥ २८ ॥ उपवास, व्रत, स्नान, तीर्थ यात्राका फल और तपस्या यह सब जिसके ब्राह्मणोंने सम्पन्न कर दिये हैं उसको इनका सम्पूर्ण फल होता है ॥ २८ ॥ सम्पन्नमिति यद्वाक्यं वदन्ति क्षितिदेवताः ॥ प्रणम्य शिरसा धार्यमग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ २६ ॥ जिस कार्य में "तुम्हारा यह कार्य सिद्ध हो गया" यह वचन को नमस्कार कर शिर पर जो धारण करता है वह अग्निष्टोम यज्ञके फलको पाता है ॥२९॥ ब्राह्मणा जंगमं तीर्थं निर्जलं सार्वकामिकम् ॥ तेषां वाक्योदकेन शुद्ध्यन्ति मलिना जनाः ॥ ३० ॥ (शा० त० स्मृ० अ० १)। सम्पूर्ण मनोरथों का पूर्ण करनेवाला, जलसे रहित जंगम तीर्थ ब्राह्मण है उनके वचनरूपी जलसे मलिन मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं ॥३०॥

न ब्राह्मणो हिंसितव्यो ऽग्निः प्रियतनोरिव ॥ सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥६॥ न । ब्राह्मणः । हिंसितव्यऽः । अग्निः । प्रियतनोःऽइव । सोमः । हि । अस्य । दायादः । इन्द्रः । अस्य । अभिशस्तिऽपाः ॥६॥ (अ० सं० ५।१८।६) तद्वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ॥ ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥ तत् । वै । राष्ट्रम् । आ । स्रवति । नावम् । भिन्नाम्ऽइव । उदकम् । ब्रह्माणम् । यत्र । हिंसन्ति । तत् । राष्ट्रम् । हन्ति । दुच्छुना ॥ ८ ॥ तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति ॥ यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥६॥ तम् । वृक्षाः । अप । सेधन्ति । छायाम् । नः । मा । उप । गाः । इति ॥ यः ब्राह्मणस्य । सत् । धनम् । अभि नारद मन्यते ॥ ६ ॥ (अ० सं० ५।१८।८-६)॥

देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवता। ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्मा-ब्राह्मणदेवताः (जाति निर्णय पृ० ३)॥ 'ब्राह्मणश्च' दैव्यो वैवर्णो ब्राह्मणः। वेदिमश्ये ब्राह्मणः मन्त्रं ब्राह्मणो ब्रूयात,। (तै० ब्रा० अ० १ अध्या० ७ अनु० ६ पृ० ४०)। यथासतां प्रमुखोणां वर्णानां ब्राह्मणो यथा॥ (चा० नी० द० अ० ५।७)। राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्द्विजेभ्योऽर्थं द्विज पुन॥ विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः॥ ३४॥ (या० व० स्मृ० व्य० अ० असाधारण व्य० सा० प्र० २)। उक्तलक्षणं निधिं राजा लब्ध्वा अर्धं ब्राह्मणेभ्यो दत्वा शेषं कोशे निवेशयेत। ब्राह्मणस्तु विद्वान् श्रुताध्ययन संपन्नः सदाचारो यदि निधिं लभेत् तदा सर्वमेव गृह्णीयात। यस्मादसौ सर्वस्य जगतः प्रभुः॥ ॥ ३४॥ ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः॥ तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा॥ ९२॥ ऊर्ध्वमिति॥ सर्वत एव पुरुषो मेध्यः, नाभेरूर्ध्वमतिशयेन मेध्यः, ततोऽपि मुखमस्य मेध्यतमं ब्रह्मणोक्तम्॥ ९२॥ तत किमत आह—उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्-ब्राह्मणश्चैवधारणात्॥ सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥ ९३॥ उत्तमाङ्गोद्भवादिति॥ उत्तमाङ्गं मुखं तदुद्भवत्वात् क्षत्रियादिभ्यः पूर्वोत्पन्नत्वादध्यापनव्याख्याना-दिना युक्तस्यातिशयेन वेदधारणात्सर्वस्यास्य जगतो धर्मानुशासनेन ब्राह्मणः प्रभुः। 'संस्कारस्य विशेषात्तु वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः'॥ ९३॥ कस्योत्तमाङ्गादयमुत्पन्न इत्यत आह—तं हि स्व-यंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्॥ हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये॥ ९४॥ तं हि स्वयंभूरिति॥ तं ब्राह्मणं ब्रह्मा आत्मीयमुखाद्देवपित्र्ये हविः कव्ये वह-नाय तपः कृत्वा सर्वस्य जगतो रक्षार्थं च क्षत्रियादिभ्यः प्रथमं सृष्टवान॥ ९४॥ पूर्वोक्तहव्य-कव्यवहनं स्पष्टयति—यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः॥ कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं तत.॥ ९५॥ यस्यास्येनेति॥ यस्य विप्रस्य मुखेन श्राद्धादौ सर्वदा देवा हव्यानि पितरश्च कव्यानि भुञ्जते ततोऽन्यदुत्कृष्टतमं भूतं किं भवेत्॥ ९५॥ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविन.॥ बुद्धिमत्सु नरा. श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥ ९६॥ भूतानामिति॥ भूतारब्धानां स्थावरजङ्गमानां मध्ये प्राणिनः कीटादयः श्रेष्ठाः। कदाचित्सुखलेशात्। तेषामपि बुद्धिजीविनः सार्थनिरर्थदेशोपसर्पणापसर्पणकारिणः पश्वादयः। तेभ्योऽपि मनुष्याः। प्रकृष्टज्ञानसंबन्धात्। तेभ्योऽपि ब्राह्मणाः सर्वपूज्यत्वादपवर्गाधिकारयोग्य-त्वाच्च॥ ९६॥ ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः॥ कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥ ९७॥ ब्राह्मणेषु चेति॥ ब्राह्मणेषु तु मध्ये विद्वांसो महाफलज्योतिष्टोमादि-कर्माधिकारित्वात्। तेभ्योऽपि कृतबुद्धयः अनागतेऽपि कृतं मयेति बुद्धिर्येषाम्। शास्त्रोक्तानु-ष्ठानेषूत्पन्नकर्तव्यताबुद्धयः इत्यर्थः। तेभ्योऽपि अनुष्ठातारः। हिताहितप्राप्तिपरिहारभागित्वात्। तेभ्योऽपि ब्रह्मविदः मोक्षलाभात॥ ९७॥ उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती॥ स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ९८॥ उत्पत्तिरेवेति॥ ब्राह्मणदेहजन्ममा-त्रमेव धर्मस्य शरीरमविनाशि। यस्मादसौ धर्मार्थं जातः धर्मानुगृहीतात्मज्ञानेन मोक्षाय संप-द्यते॥ ९८॥ ब्राह्मणो जायमानोहि पृथिव्यामधि जायते॥ ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म-कोशस्य गुप्तये॥ ९९॥ ब्राह्मण इति॥ यस्माद्ब्राह्मणो जायमानः पृथिव्यामपि उपरि भवति। श्रेष्ठ इत्यर्थः। सर्वभूतानां धर्मसमूहरक्षार्थं प्रभुः। ब्राह्मणोपदिष्टत्वात्सर्वधर्माणाम्॥ ९९॥ सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्॥ श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै

ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥ सर्वं स्वमिति ॥ यत्किंचिज्जगद्वर्ति धनं तद्ब्राह्मणस्य स्वमिति स्तुत्योच्यते । स्वमिव स्वं न तु स्वमेव । ब्राह्मणस्यापि मनुना स्तेयस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तस्माद्ब्रह्ममुखोद्भवत्वेनाभिजनेन श्रेष्ठतया सर्वं ब्राह्मणोऽर्हति सर्वग्रहणयोग्यो भवत्येव । वै अवधारणे ॥ १०० ॥ स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ॥ आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥ स्वमेवेति ॥ यत्परस्याप्यन्नं ब्राह्मणो भुंक्ते, परस्य च वस्त्रं परिधत्ते, परस्य गृहीत्वान्यस्मै ददाति तदपि ब्राह्मणस्य स्वमिव । पूर्ववत्स्तुति । एवं सति ब्राह्मणस्य कारुण्यादन्ये भोजनानि कुर्वन्ति ॥ १०१ ॥ इदानीं प्रकृष्टब्राह्मणकर्माभिधायकतया शास्त्रप्रशंसां प्रक्रमते—तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ॥ स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥ (म० स्मृ० १ । ९२-१०२) ॥ तस्यकर्मविवेकार्थमिति ॥ ब्राह्मणस्य कर्मज्ञानार्थं शेषाणां क्षत्रियादीनां च स्वायंभुवो ब्रह्मपुत्रो धीमान्सर्वविषयज्ञानवान्मनुरिदं शास्त्रं विरचितवान् ॥१०२॥ (कु० भ०) ॥ अयजन्निह स तैस्तैस्तैः कामैः समाहितैः । संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः ॥ ४१ ॥ स्वं दैवतः ब्राह्मणः स्वेन नित्यं परान् वर्णान्नायजन्मैवमासीत् ॥ अधरो वितानः संसृष्टो वैश्यो ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः ॥ ४५ ॥ (म० भा०शां०प०अ०६०) ॥❀ । ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इति । एते वै ब्राह्मणा ॥ यज्ञस्य प्रावितारो येऽनूचाना एते ह्येनं तन्वतऽएतऽएनं जनयन्ति तेद्ध तेभ्यो निह्नुते तस्मादाह ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इति ॥ १२ ॥ (श० प० ब्रा० १. ४. २. ५) ॥

ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।

हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो (१)मेडिश्च तन्मयि ॥ ५ ॥

(अ० सं० ११ । ९ । ५ ।) ।

ऋक् । साम । यजुः । उत्ऽशिष्टे । उत्ऽगीथः । प्रऽस्तुतम् । स्तुतम ।

(२)हिङ्ऽकारः । उत्ऽशिष्टे । स्वरः । साम्नः । मेडिः । च । तत् । मयि ।५।

अनयोत्तरया च यज्ञाङ्गानां तदाश्रितत्वं प्रतिपाद्यते ऋक् साम यजुरिति । सर्वत्र जातावेकवचनम् । ऋचः पादबद्धा मन्त्रा यज्ञे याज्यानुवाक्यादिरूपेण विनियुक्ताः । सामानि प्रगीतमन्त्राः "आज्यैः स्तुवते" 'पृष्ठैः स्तुवते" इत्येवं स्तोत्रसाधनत्वेन विनियुक्ताः । यजूंषि प्रश्लिष्टपठिता अनुष्ठेयार्थप्रकाशका मन्त्राः । तेषां लक्षणं जैमिनिराचार्योऽसूत्रयत् । 'तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पाद व्यवस्था" [जै० २. १. ३५] "गीतिषु समाख्या" [जै० २. १. ३६] 'शेषे यजुः शब्द" [जै० २. १. ३७] इति । एवं त्रिविधा मन्त्रा उच्छिष्टे उच्छिष्यमाणे ब्रह्मणि सम श्रिता. । तत्र आज्यादिस्तोत्रनिर्वर्तकानां साम्नां पञ्च भक्तयः हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनाख्याः प्रयोगशास्त्रेण कल्पिताः । तत्र च उद्गात्रा गीयमानो भाग उद्गीथः । प्रस्तुतम् प्रस्तोत्रा गीयमानः प्रस्तावाख्यो भागः । प्रस्तूयते स्तुतेः

१ V मीडिश्च २ P हिंग०

प्रारम्भः क्रियते अनेनेति प्रस्तुतम् । X प्रपूर्वात् स्तौतेः करणे निष्ठा X । स्तुतम् स्तोत्रं स्तवनकर्म । हिङ्कारः सर्वैरुद्गातृभिः आदौ प्रयुज्यमानो हिं इति शब्दः । स्वरः कृत्स्नसामाश्रितः क्रुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिमन्द्रात्मकः सप्तविधः स्वरः । अथ वा कानिचित् सामानि आ ई ई इत्येवमात्मात्मकैः स्वरैः परिसमाप्यन्ते । तानि च सामानि स्वरनिधना इत्युच्यन्ते । स आकारोऽत्र स्वरशब्देन विवक्षितः । स च साम्नः सम्बन्धी । तथा मेडिः मेलयिता अगक्षराणां गानविशेषस्य च संसर्जकः स्तोभविशेषः । अथवा (१)मेलिरिति वाङ्नाम । साम्नः संबन्धिनी वाक् । कानिचित् सामानि वाङ्निधनानि गीयन्ते । तदभिप्रायम् एतत् । ननु एतद् उद्गीथादिकं सर्वम् उच्छिष्टे समाश्रितम् । तत् सर्वं मयि यज्ञसमृद्ध्यर्थं भवन्त्वित्यर्थः ॥ ५ ॥ (सा० आ० भा०) ॥ अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ॥ ब्राह्मणान्प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ ९८ ॥ ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ॥ रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥९९॥ नैतान्स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ॥ एतान्दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद्बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥ १०० ॥ (म० भा० उ० प० प्र० प० वि० नी० ३३ अ०) । नष्ट होने वाले मनुष्य के आठ पूर्वरूप हैं १ प्रथम ब्राह्मण से द्वेष करना २ ब्राह्मणों के विरोध करना ॥ ९८ ॥ ३ ब्राह्मणों के धनों को लेना और ४ ब्राह्मणों को मारना और ५ इनकी निन्दा में प्रसन्न होना और ६ प्रशंसा सुन कर अप्रसन्न होना (नहीं चाहना) ॥ ९९ ॥ ७ कार्यों में इनको नहीं बुलाना और ८ मांगने निन्दा करता (नहीं देता) है, बुद्धिमान् मनुष्य इन दोषों को जाने और जानकर छोड़ देवें ॥ १०० ॥

३४६ कुल अकुल कैसे हो जाते हैं ।

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ॥ कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥ देवद्रव्य के बिगाड़ने, ब्राह्मणधनके हरण, ब्राह्मणों की आज्ञा के उलंघन से कुल अकुल भाव को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २६ ॥ ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत ॥ कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥ (म० भा० उ० प० अ० ३५ प्र० प० वि नी० हि० चा० अ० ४) हे धृतराष्ट्र ! ब्राह्मणों के तिरस्कार और निन्दा से, और धरोहरों के दबा लेने से कुल अकुल हो जाते हैं ॥ २७ ॥

३४७ ब्राह्मणप्रशंसा ।

तथाहि—यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ॥ क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१४ ॥ यैरिति ॥ यैर्ब्राह्मणैरभिशापेन सर्वभक्ष्योऽग्निः कृतः, समुद्रश्चापेयजलश्चन्द्रश्च क्षययुक्तः पश्चात्पूरितस्तान्कोपयित्वा को न नश्यंत ॥ ३१४ ॥ किंच—लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः । देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥३१५॥ लोकानिति ॥ ये स्वर्गादिलोकान्परानन्यांश्च लोकपालान्सृजन्तीति ।

---

१ मिलेरिति ।

सम्भाव्यते। देवांश्च शापेन मानुषादीन्कुर्वन्ति तान्पीडयन्क: समृद्धिं प्राप्नुयात् ॥ ३१५ ॥ अपिच—यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ॥ ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥ यानिति ॥ यान्ब्राह्मणान्यजनयाजनकर्तॄनाश्रित्य 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः' इति न्यायेन पृथिव्यादिलोका देवाश्च स्थितिं लभन्ते, वेद एव च येषां धनमभ्युदयसाधनतया याजनाध्यापनादिना धनोपायत्वाच्च, ताञ्जीवितुमिच्छन्को हिंस्यात् ॥ ३१६ ॥ एवं तर्हि विद्वांसं ब्राह्मणं सेवेतेत्यत आह—अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥ प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥ अविद्वानिति ॥ यथाहितोऽनाहितो वाग्निर्महती देवता एवं मूर्खो विद्वांश्च प्रकृष्टा देवतेति ॥ ३१७ ॥ श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति। हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥ श्मशानेष्विति ॥ यथाग्निर्महातेजा: श्मशाने शवं दहन्कार्येऽपि नैव दुष्टो भवति, किंतु पुनरपि यज्ञेषु हूयमानोऽभिवर्धते ॥ ३१८ ॥ एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु। सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥ एवं यद्यपीति ॥ एवं कुत्सितकर्मस्वपि सर्वेषु यद्यपि ब्राह्मणाः प्रवर्तन्ते तथापि सर्वप्रकारेण पूज्याः। यस्मात् प्रकृष्टं तद्दैवतम्। स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न दयाश्रुत्यर्थविरोध: शङ्कनीयः ॥ ३१९ ॥ क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ॥ ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥ क्षत्रस्येति ॥ क्षत्रियस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वथा पीडानुवृत्तस्य ब्राह्मणा एव शापाभिचारादिना सम्यङ्नियन्तारः। यस्मात्क्षत्रियो ब्राह्मणात्संभूतः, ब्राह्मणबाहुप्रसूतत्वात् ॥३२०॥ अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥ (म० स्मृ० ९। ३१५-३२१) ॥ तथा च। अद्भ्य इति ॥ जलब्राह्मणपाषाणेभ्योऽग्निक्षत्रियशस्त्राणि जातानि तेषां संबन्धि तेजः सर्वत्र दहनाभिभवच्छेदनार्थकं कार्यं करोति। स्वकारणेषु जलब्राह्मणपाषाणाख्येषु दहनाभिभवच्छेदनात्मकं कार्यं न करोति ॥ ३२१ ॥ (कु० भ०) ॥

३४८ वेदों के अर्थ ब्राह्मण के जानने से प्राप्त होते हैं।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥ (भ० गी० २। ४६)

स्वधर्ममनुतिष्ठतः सर्वेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यान्यनन्तानि फलानि तानि नापेक्ष्यन्ते चेत्, किमर्थं तानीश्वरायेत्यनुष्ठीयन्त इति, उच्यते शृणु-यावानिति। यथा लोके कूपतडागाद्यनेकस्मिन्नुदपाने परिच्छिन्नोदके यावान्यत्परिमाणः स्नानपानादिरर्थः फलं प्रयोजनं स सर्वोऽर्थः सर्वतः संप्लुतोदकेऽपि योऽर्थस्तावानेव संपद्यते तत्रान्तर्भवतीत्यर्थः। एवं तावान्तावत्परिमाण एव संपद्यते सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु कर्मसु योऽर्थो यत्कर्मफलं सोऽर्थोऽब्राह्मणस्य संन्यासिनः परमार्थतत्त्वं विजानतो योऽर्थो यद्विज्ञानफलं सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीयं तस्मिंस्तावानेव संपद्यते। तत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः। 'यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद' इति श्रुते:। 'सर्वं कर्माखिलम्' इति च वक्ष्यति। तस्मात्प्राग्ज्ञाननिष्ठाधिकारप्राप्तेः कर्मण्यधिकृतेन कूपतडागाद्यर्थस्थानीयमपि कर्म कर्तव्यम् ॥ ४६ ॥ (शं० आ० स्वा० भा०)। सोऽर्थो विजानतो ब्राह्मणस्य योऽर्थस्तावानेव संपद्यत इति संबन्धः। (आनन्दगिरि व्याख्या)।

३४६ देवता ब्राह्मणके वशमें होतेहैं।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।

यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

(य० सं० ३१ । २१)।

उ०— रुचं ब्राह्मणम्। रुचं ब्राह्मम् जनयन्त. देवाः अग्रे तत् अब्रुवन्। य त्वा एवम् ब्राह्मणः विद्यात् तस्य देवाः असन् वशे। रुचं देदीप्यमानं ब्राह्मं ब्राह्मण उत्पन्नं जनयन्तः सृष्ट्यर्थम् देवा योगिनः तेजसा दीप्यमानाः यत् अब्रुवन् यद्ब्रूयुः अग्रे प्रथमतः। किमूचु.। अपरोपि यो ब्राह्मण स ब्रह्म विद्याज्जानीयात् तस्य देवा असन्वशे। सोऽपि सनकादीनां स्थानं गच्छतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

म० देवाः दीप्यमानाः प्राणः रुचं शोभनं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमादित्यं जनयन्तः उत्पादयन्तः अग्रे प्रथमं तत् वचोऽब्रुवन् ऊचुः 'ब्राह्मो जातौ' (पा० ६ । ४ । १७१) इति निपातः। तत्किमत आह। यो ब्राह्मणः हे आदित्य, त्वा त्वामेवमुक्तविधिना उत्पन्नं विद्याज्जानीयात् तस्य ब्राह्मणस्य देवा वशे असन् वश्या भवन्ति। आदित्योपासिता जगत्पूज्यो भवतीत्यर्थः ॥२१॥

३५०



ब्रह्मतः क्षत्रम् ॥ १३ ॥ (वि० नी० । मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुज. क्षत्रियो विराट्। मूर्धाभिषिक्तः, राजन्यः, बाहुजः, क्षत्रियः, विराट्, इति क्षत्रियस्य ॥ राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः। राजा, राट्, पार्थिवः क्ष्माभृत्, नृपः, भूपः, महीक्षित. इति ७ राज्ञः। राजा तु प्रणताशेषसामन्तः स्यादधीश्वरः ॥ (अ० को० का० २ क्ष० व० ६)। प्रणता अशेषसामन्ता यस्य स राजा अधीश्वर इति। चक्रवर्ती सार्वभौमो नृपोऽन्यो मण्डलेश्वरः ॥ चक्रवर्ती, सार्वभौमः इति २ आसमुद्रक्षितीशस्य। तदन्यो नृपो मण्डलेश्वर इति। येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडथ राजकम् राजन्यकं च नृपति क्षत्रियाणां गणे क्रमात्। (अ० को० का० २ क्ष० व० ६)। राजसूयाख्यक्रतुविशेषेण येनेष्टं द्वादशमण्डलस्येश्वरश्च यः यश्च स्वाज्ञया सर्वभूपान् शास्ति ईदृशविशेषणत्रयेण विशिष्टो राजा सम्राट् स्यात्। नृपतीनां गणे राजकमिति। क्षत्रियाणां गणे राजन्यकमिति ॥ शोकारातिपरित्राणं प्रतिविस्रम्भभाजनम् ॥ केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १४८ ॥ (भो० प्र०)। (सं० भा०) शोक एवारातिः शोकारातिस्तस्मात्त्रक्षकं प्रीतिश्च विस्रम्भश्च प्रीति विस्रम्भौ तयोर्भाजनं पात्रं मित्रमित्यक्षरद्वय रत्नं केन रचितं शोभनेयं विधातुः सृष्टिरित्यर्थः ॥ १४८ ॥

३५१ व्याकरण और क्षत्रियशब्द।

राजश्वशुराद्यत् ॥ ४ । १ । १३७ । राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम् ॥*॥ राजन्यो भवति, क्षत्रियश्चेत् । राजन्योऽन्यः ॥ (काशीका) ॥ क्षत्राद् घः ॥ ४ । १ । १३८ , । क्षत्रशब्दादपत्ये घः प्रत्ययो भवति । क्षत्रियः । अयमपि जातिशब्द एव । क्षात्रिरन्यः ॥ (काशिका) । जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ॥ ४ । १ । १६८ ॥ जनपदशब्दो यः क्षत्रियवाची तस्मादपत्येऽञ् प्रत्ययो भवति पाञ्चालः । ऐक्ष्वाकः । वैदेहः । जनपदशब्दादिति किम् द्रुह्योरपत्य, द्रौह्यवः । पौरवः । क्षत्रियादिति किम् । ब्राह्मणस्य पञ्चालस्यापत्यं, पाञ्चालिः वैदेहिः ॥ क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदशब्दात्तस्य राजन्यपत्यवत् ॥ * ॥ पञ्चालानां राजा पाञ्चालः । वैदेहः । मागधाः । अवृद्धादपीति प्राप्तस्य वुञोऽपवादः ॥ (काशिका) ॥

३५२ क्षत्रिय का धर्म।

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम् ॥ १६ ॥ (अ० को० कां० २ क्ष० व० ६) । क्षयः, स्थानम् , वृद्धि, इति ३ नीतिवेदिनां त्रिवर्गः ॥ राज्ञां तु पुण्यवृत्तानां त्रिवर्गपरिकांक्षिणाम् ॥ वक्ष्यमाणस्तु यो धर्मस्तत्त्वतस्तन्निबोधत ॥ १ ॥ पवित्र आचरण वाले धर्म, अर्थ, काम के अभिलाषी राजाओं का जो धर्म है उसको मैं कहता हूं तुम श्रवण करो ॥ १ ॥ तेजः सत्यं धृतिर्दाक्ष्यं संग्रामेष्वनिवर्तिता ॥ दानमीश्वरभावश्च क्षत्रधर्मः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥ क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ॥ तस्मात्सर्व प्रयत्नेन रक्षयेन्नृपतिः प्रजाः ॥ ३ ॥ तेज, सत्य, धैर्य, दक्षता, (चतुरता) संग्राम मे न भागना, दान, ईश्वरता, यथार्थ न्याय करना यह क्षत्रियों का धर्म कहा है ॥ २ ॥ प्रजाओं का पालन करना क्षत्रियों का परम धर्म है, तिस कारण सर्व प्रयत्न से राजा प्रजा पालन करे ॥ ३ ॥ त्रीणि कर्माणि कुर्वीत राजन्यस्तु प्रयत्नतः ॥ दानमध्ययनं यज्ञं ततो योगविशेषणम् ॥४॥ (वि० स्मृ० अ० ५।१-४) । और क्षत्रिय यत्न सहित तीन कार्मो को करे, दान, पढ़ना, यज्ञ और फिर योग मार्ग का सेवन करे ॥ ४ ॥ दद्याद्दानं द्विजातिभ्यो धर्म्मबुद्धिसमन्वितः ॥ स्वभार्य्यानिरतो नित्य षड्भागार्हः सदा नृपः ॥ ३ ॥ जो राजा धर्म मे बुद्धि करके ब्राह्मणों को दान देता और जो नित्य अपनी स्त्री में ही रत रहता है वह राजा सदैव छठे भाग के होने का अधिकारी होता है ॥ ३ ॥ नीतिशास्त्रार्थकुशलः संधिविग्रहतत्ववित् । देवब्राह्मणभक्तश्च पितृकार्य्यपरस्तथा ॥ ४ ॥ धर्म्मेण यजनं कार्य्यमधर्म्मपरिवर्जनम् ॥ उत्तमां गतिमाप्नोति क्षत्रियोऽप्येवमाचरन् ॥ ५ ॥ (हा स्मृ० अ० २।२-५) नीति शास्त्र में कुशल और संधि (मेल) विग्रह (लड़ाई) इनके तत्व को भी राजा जाने,-देवता और ब्राह्मणों में भक्ति रक्खै और पितरों के कार्य में तत्पर रहे ॥ ४ ॥ धर्म से यज्ञ करना और अधर्म को त्यागना उचित है इन पूर्वोक्त कर्मों के करने से क्षत्रिय को उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ ५ ॥ क्षात्त्रियो हि प्रजा रक्षन्शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान् ॥ निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत् ॥ ६७ ॥ (पा० स्मृ० । अ० १) क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करे, और हाथ में शस्त्र लेकर शत्रुओं को पराजय

करे और धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करे ॥ ६७ ॥ न श्रीः कुलक्रमायाता भूषणोल्लिखितापि वा ॥ खड्गेनाक्रम्य भुंजीत वीरभोग्यां वसुंधराम् ॥ ६८ ॥ जो लक्ष्मी अपने कुल के क्रमानुसार प्राप्त हुई है वह लक्ष्मी वीरता न होने के कारण स्थिर नहीं रहती और क्षत्रियों की शोभा बिना भूषण धारण किये नहीं होती, परन्तु पृथिवी शूरवीर राजाओं के भोगने योग्य है, इस कारण खड्ग से जीती हुई पृथिवी को भोगे राजाओं को धनादि की प्राप्ति होती है ॥ ६८ ॥ फलं पुष्पं विचिनुयान्मूलच्छेदं न कारयेत् ॥ मालाकार इवाऽऽरामे न यथांगारकारकः ॥ ६९ ॥ (पा० स्मृ० अ० १ । ६७-६९) । जिस भांति माली उपवन में से फूल फलादिकों को ग्रहण करता है परन्तु अग्नि लगाने वाले के समान वृक्षों की जड़ को नहीं काटता उसी भांति प्रजाओं से थोडा २ लेकर प्रजा की रक्षा कर सर्वापहारी न हो ॥ ६९ ॥ हिरण्यधान्यरत्नानि धनानि विविधानि च । तथान्यदपि यत्किञ्चित् प्रजाभ्यः स्युर्महीभृताम् ॥ ४३ ॥ सोना, धान्य, रत्न, विविध प्रकार के धन तथा दूसरी भांती की वस्तु हैं, वह सब राजाओं को प्रजा से मिलती है ॥ ४३ ॥

३५३ यथा राजा तथा प्रजा ।

राज्ञि धर्मणि धर्मिष्ठाः पापे पापपराः सदा ॥ राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ४४ ॥ (भो० प्र० ४ ३-४४) । राजा में धर्म होने पर प्रजा भी धर्मिष्ठ होती है उसी प्रकार पापयुक्त राजा के होने पर प्रजा भी सदा पापपरा होती हैं राजा के अनुकूल सब वर्तते हैं जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है ॥ ४४ ॥ क्षत्रियवाच्यो भोजश्च......॥ ३७ ॥ क्षत्रियवाच्यो भोज इति क्षत्रिये वाच्ये भोजशब्दः क्रीड्यादौ भवति स्त्रियाम् । भोज्या क्षत्रिया ॥ यथा भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वात् ॥

३५४ क्षत्रियकर्म ।

दानं चाध्ययनं चैव यजनं च यथा विधि ॥ क्षत्रियस्य च वैश्यस्य कर्मेदं परिकीर्तितम् ॥ ३ ॥ क्षत्रियस्य विशेषेण प्रजानां परिपालनम् ॥ (श० स्मृ० अ० १) । दान, पढ़ना और विधि के अनुसार यज्ञ करना, यह तीन कर्म क्षत्रिय जाति का विशेष कर्म प्रजा की पालन करना है ॥ संप्रदानमन्यत्र यथोक्तात् कृषिवाणिज्ये चास्वयं कृते कुसीदं च राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्याय्यदण्डत्वं बिभृयात् ॥ ब्राह्मणान् श्रोत्रियान् निरुत्साहश्चाब्राह्मणानकरांश्चोपकुर्वाणांश्च योगश्च विजये भये विशेषेण चर्या च रथधनुर्भ्यां संग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च न दोषो हिंसायामाहवे (गौ० स्मृ० अ० १०) । शास्त्र में कहे हुए कर्मों को छोड़ कर लेन, देन भृत्यों से कृषी कराना यह क्षत्रिय और वैश्य के धर्म हैं परन्तु राजा का यह अधिक धर्म है कि संपूर्ण प्राणियों की रक्षा दंड करने योग्य दुष्टमनुष्यों को दण्ड वेदपाठी और उद्योग हीन, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, बिना कर वाले, इनकी पालन करे, युद्ध क्षेत्र में रथ पर चढ़ कर धनुष, बाण धारण किये रहे, युद्ध करते समय विमुख न हो युद्ध के समय में प्राणियों की

हिंसा से पाप नहीं होता ॥ त्रीणि राजन्यस्याऽध्ययनं यजन दानं शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत । (व० स्मृ० अ० २) । क्षत्रिय के तीन कर्म हैं अध्ययन, यजन, दान और शस्त्रधारणकर, प्रजाका पालन करता हुआ जीवन बितावे । प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् ॥११६॥ (या० व० स्मृ० आ० अ० गृ० ध० प्र० ५) । क्षत्रियस्य प्रजापालन प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च ॥

३५५ ब्राह्मणक्षत्रययोः परस्परसाहित्यम् ।

नाब्रह्म क्षत्त्रमृध्नोति नाक्षत्त्रं ब्रह्म वर्धते ॥ ब्रह्म क्षत्त्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥ नेति ॥ ब्राह्मणरहितक्षत्रियो वृद्धिं न याति, शान्तिकर्पौष्टिकव्यवहारेक्षणादिधर्मविरहात् । एवं क्षत्त्रियरहितोऽपि ब्राह्मणो न वर्धते, रक्षां विना यागादिकर्मानिष्पत्तेः । किन्तु ब्राह्मणः क्षत्त्रियश्च परस्परसंबद्ध एवेह लोके परलोके च धर्मार्थकाममोक्षावाप्त्या वृद्धिमेति ॥ दण्डप्रकरणे चेयं ब्राह्मणस्तुतिर्ब्राह्मणानामपराधिनामपि लघुदण्डप्रयोगनियमार्था: ॥३२२॥

यदा तु विशिष्टदर्शनेनाचिकित्स्यव्याधिना चासन्नमृत्युर्भवति तदा—

३५६ राज्यं पुत्रे समर्प्य रणे प्राणत्यागं कुर्यात् ।

दत्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ॥ पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ॥ ३२३ ॥ दत्वेति ॥ महापातकिव्यतिरिक्तविनियुक्ताशिष्टसर्वदण्डधन ब्राह्मणेभ्यो दत्वा, पुत्रे राज्यं समर्प्यासन्नमृत्युः फलातिशयप्राप्तये संग्रामे प्राणत्यागं कुर्यात् । संग्रामासंभवे त्वनशनादिनापि ॥ ३२३ ॥ एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ॥ हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥ एवमिति ॥ एवमंशायत्रयोक्तराजधर्मेषु व्यवहार्यमाणो राजा सर्वदा यत्नवान्प्रजाहितेषु सर्वान्भृत्यान्विनियोजयेत् ॥ ३२४ ॥ एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञ. सनातनः ॥ इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥३२५॥ (म० स्मृ० ६ । ३२२-३२५) । एष इति ॥ एतद्राज्ञः कर्मानुष्ठानं पारंपर्यागततया नित्यं समग्रमुक्तम् । इदानीं वैश्यशूद्रक्रमेण वक्ष्यमाणमिदं कर्मानुष्ठानं जानीयात् ॥३२५॥ (कु० भ०) ।

३५७ ब्राह्मणविवादे राजा नाधिकारः ।

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ॥ न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन्हितमात्मनः ॥ ३९० ॥ आश्रमेष्विति ॥ द्विजातीनां गार्हस्थ्याद्याश्रमविषये मार्गेणं शास्त्रार्थो नायं शास्त्रार्थ इति परस्परं जानविवादानां राजा स्वीयहितं चिकीर्षुरस्य शास्त्रार्थं इतिसदृशान्विशेषेण न ब्रूयात् ॥ ३९० ॥

३५८ ब्राह्मणैस्सहराज्ञोधर्मप्रतिपादनाधिकारः ।

यथार्हमेनानभ्यर्च्य ब्राह्मणै. सह पार्थिव ॥ सांत्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥ (म० स्मृ० अ० ८।३९० ३९१) । यथार्हमिति ॥ यो यादृशीं पूजामर्हति तं तथा पूजयित्वा अन्यैर्ब्राह्मणैः सह प्रथम प्रीत्या अपगतकोपं कृत्वा तत एषां यः स्वधर्मस्तं बोधयेत् ॥ ३९१ ॥ (कु० भ०)

३५९

राज व्यवस्था।

राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्ज्जं साधुकारी स्यात्। साधुवादी त्रय्यामान्वीक्षिक्यां चाभिविनीतः। शुचिर्जितेन्द्रियो गुणवत्सहायोपायसंपन्नः समः प्रजासु स्यात् हितं चासां कुर्वीत तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यस्तेऽप्येनं मन्येरन्। वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्। चलतश्चैतान्स्वधर्मे एव स्थापयेत्। धर्म्मस्य ह्यंशभाग्भवतीति विज्ञायते। ब्राह्मणं च पुरो दधीत विद्याभिजनवाग्रूपवयःशीलसंपन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम्। तत्प्रसूतः कर्म्माणि कुर्वीत ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्रमृध्यते न व्यथत इति च विज्ञायते। (गौ० स्मृ०)। राजा ब्राह्मण के अतिरिक्त सभी का ईश्वर है, वह सर्वदा लोकोंका हित करता रहे, सर्वदा मधुर वचन कहता रहे, कर्म काण्ड और ब्रह्मविद्या में शिक्षित, शुद्ध, जितेन्द्रिय और जिसको सहायक गुणवान् हो उपायों से युक्त होकर सम्पूर्ण प्रजा में समदर्शी रहे उनका हित करता रहे; सबसे ऊंचे आसन पर बैठे हुये उस राजा की ब्राह्मण के अतिरिक्त और सब जातियें सेवा करें, ब्राह्मण भी उसका मान्य करें जो चारों वर्णों की न्याय से रक्षा करे और आप धर्म के मार्ग में स्थित रह कर धर्म पथ से स्खलित चारों वर्णों को अपने अपने धर्मपर स्थापित करे, वही राजा धर्मके अंशका भागी कहा गया है यह बात शास्त्र से जानी गई है, विद्या, वंश, वाणी, रूप अवस्था. शीलवान्, न्याययुक्त तपस्वी जो ब्राह्मण है उसे पुरोहित करे, ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ क्षत्रिय अर्थात् ब्राह्मणसे संस्कार किया हुआ कर्मों को करता रहे, कारण कि ब्राह्मणसे उत्पन्न हुआ (अर्थात् संस्कार किया हुआ) क्षत्रिय बढ़ता है और दुःखी नहीं होता, यह शास्त्र के अनुसार जाना गया है॥

यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत तदधीनमपि ह्येके योगक्षेमं प्रतिजानते। शान्तिपुण्याहस्वस्त्ययनायुष्यमंगलयुक्तान्याभ्युदयिकानि विद्वेषणसंवलनाभिचारद्विषद्वृद्धियुक्तानि च शालाग्नौ कुर्यात्। यथोक्तमृत्विजोऽन्यानि। तस्य व्यवहारो वेदो धर्म्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणं देशजातिकुलधर्म्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणं कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदकारवः स्वेस्वे वर्गे तेभ्यो यथाधिकारमर्थान् प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्थान्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः तेनाभ्यूह्य यथास्थानं गमयेत्। विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत्। तथा ह्यस्य निःश्रेयसं भवति। ब्रह्म क्षत्रेण संपृक्तं देवपितृमनुष्यान् धारयतीति विज्ञायते॥ दैविक उत्पातों की चिन्ता करनेवालों ने जो कहा है उसको आदर पूर्वक श्रवण करे, कोई २ ऐसा भी कहते हैं कि योग, क्षेम उनके अधीन है अग्निशाला में ग्रहशांति, पुण्याह. स्वस्त्ययन, आयुर्वृद्धि और मंगलदायक कार्य, नान्दीमुख, शत्रुओं का पराजय, विनाश और पीडादायक कर्मों का अनुष्ठान करे और अन्य कर्मों को ऋत्विजों की आज्ञानुसार करे प्रजाओं के विवाद-स्थान में विचार कर निर्णय करे, वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग, उपवेद, पुराण, शास्त्रों के अविरुद्ध, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, उसका प्रमाण, कृषि, वाणिज्य, पशुपाल व्यापारी और शिल्पकारियों को अपने २ वर्ग में स्थित करे, अधिकार के अनुसार इनसे धन लेकर धर्मकी व्यवस्था

करे और न्याय के ढूंढने में उसका निर्णय करे, उससे ही निश्चय करके जहाँ का तहाँ पहुँचा दे और विवाद होने पर अधिक विद्वानों को सौंपकर निर्णय करावे, कारण कि ऐसा करने से ही राजा का कल्याण होता है, ब्रह्मवीर्य क्षत्रिय के तेजके साथ मिलने से राजा ब्राह्मण, देवता, पितर और मनुष्य इनकी पालना करता है यह बात शास्त्र से विदित है और यहाँ से भी यही कहा है—दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादांतान् दमयेत् वर्णाश्रमाश्चस्व कर्मनिष्ठा. प्रेत्य फलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजाति कुलरूपायुःश्रुतवित्तवृत्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यंते। विष्वंचो विपरीता नश्यंति तानाचार्योपदेशो दण्डश्च पालयते। तस्मात् राजाचार्यावनिंद्यावनिंद्यौ ॥ इति (गौ० स्मृ० अ० ११) ॥ दमनके निमित्त ही दण्ड की सृष्टि है इस कारण सर्वदा सृष्टिका दमन करता रहे, स्वधर्म में स्थित वर्ण और आश्रम मरने के उपरान्त अपने अपने कर्मों के फल को भोगकर पुण्य के अन्त में इस भांति जन्म लेते हैं, जहाँ यह उत्तम हो कि देश, जाति कुल, रूप, अवस्था विद्या, धन, आचरण, सुख और बुद्धि अपने धर्म से विपरीत आचरण करते हुये वर्ण और आश्रम नष्ट हो जाते हैं, नष्ट हुये उनको आचार्य का उपदेश और दण्ड पालना करता है, इस कारण राजा और आचार्य यह निन्दा करने के योग्य नहीं हैं। इति

३६० राजप्रशंसा।

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ॥ अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥ सोमेति ॥ चन्द्राग्निसूर्यवायुशक्रयमानां वित्तस्यापां च पत्योः कुबेरवरुणयोरेवमष्टानां लोकपालानां संबन्धि देहं राजा धारयति ॥९६॥ ततः किमत आह – लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ॥ शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥ (म० स्मृ० ५।९६-९७) लोकेशेति ॥ यतो लोकेशांशाधिष्ठितो नृपतिरतो नास्याशौचमुपदिश्यते। यस्मान्मनुष्याणां यच्छौचमशौच वा तल्लोकेशेभ्यः प्रभवति विनश्यति च। अप्ययो विनाशः। एतेनान्यदीयशौचाशौचोत्पादनविनाशशक्तस्य लोकेश्वररूपस्य नृपतेः कुतः स्वकीयाशौचमिति पूर्वोक्ताशौचाभावस्तुति ॥ ९७ ॥ (कु० भ०)।

३६१ क्षात्रधर्म हतस्य सद्यः शुद्धिः।

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ॥ सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥९८॥ (म०स्मृ०५।९८) उद्यतैरिति ॥ उद्यतैः शस्त्रैः खड्गादिभिर्न तु लगुडपाषाणादिभिरपराङ्मुखत्वादिक्षत्रियधर्मयुक्तसंग्रामे हतस्य तत्क्षणादेवज्योतिष्टोमादियज्ञः समाप्तो भवति। मनाक्तिमेवेति तत्पुण्येन युज्यत इत्यर्थः। तथाशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेति इत्य शास्त्रे मर्यादा ॥९८॥ (कु०भ०) ॥ राजामन्येषु कार्येषु सद्यःशौचं विधीयते ॥ तथा तान्यपि नित्यानि कालएवात्र कारणम् इति ॥ यमगीतं च श्लोकमुदाहरन्ति—नात्र दोषोऽस्ति राज्ञां वै व्रतिनां नच मंत्रिणाम् ॥ ऐंद्रस्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा इति। (व० स्मृ० अ० १९) राजा हिंसा के कर्मों में शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण कर्मों में राजा की शुद्धि है, कारण कि इसमें कारण समय ही है, यहां पर यमऋषि के कहे हुए श्लोकों को वर्णन करते हैं, राजा, व्रतवान् और मन्त्र के ज्ञाता इनको दोष नहीं लगता, कारण

कि वह सब इन्द्र के स्थान में (अर्थात् राजगद्दी और धर्मगद्दी यह इन्द्र का स्थान होना है इस वास्ते) सर्वदा ब्रह्मरूप से विराजमान हैं ॥

३६२ राजकृत्ये ब्राह्मणादीनां सेवा ।

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ॥ त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणानिति । प्रत्यहं प्रातरुत्थाय ब्राह्मणानृग्यजुः सामाख्यविद्यात्रयग्रन्थार्थाभिज्ञान्विदुष इति नीतिशास्त्राभिज्ञान्सेवेत तदाज्ञां कुर्यात ॥ ३७ ॥ वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ॥ वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥ वृद्धानित्यादि ॥ तांश्च ब्राह्मणान्वयस्तपस्यादिवृद्धानर्थतो ग्रन्थतश्च वेदज्ञान्बाह्याभ्यन्तरशौचवतो नित्यं सेवेत । यस्माद्वृद्धसेवी सतत हिंस्रै राक्षसैरपि पूज्यते तैरपि तस्य हितं क्रियते । किं पुनर्मनुष्यैः ॥ ३८ ॥ तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ॥ विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥ (म० स्मृ० ७।३७-३९) । तेभ्य इत्यादि । स्वकप्रज्ञया अर्थशास्त्रादिज्ञानेन च विनीतोऽप्यतिशयार्थं तेभ्यो विनयमभ्यस्येत । यस्माद्विनीतात्मा राजा न कदाचिन्नश्यति ॥३९॥ (कु० भ०) । ब्राह्मणान्वेदविदुषः सर्वशास्त्रविशारदान् ॥ तत्र वर्षति पर्जन्यो यत्रैतान्पूजयेन्नृपः ॥ (अ० सं० श्लो० २४) ॥ जिस राज्य में राजा वेद के जाननेवाले और सम्पूर्ण शास्त्रों में कुशल ऐसे ब्राह्मणों का आदर करता है, उस स्थान पर सर्वदा सुवृष्टि होती है ॥ २४ ॥ ब्राह्मणानां च संतुष्टिमाचरेत्सततं तथा । तेषु तुष्टेषु नियतं राज्यं कोशश्च वर्धते ॥ ५ ॥ (वि० स्मृ० ५।५) ब्राह्मणों के संतुष्ट करने में सदा आचरण करे, उनके संतुष्ट करने में, राजाओं के राज्य और कोष (खजाने) की वृद्धि होती है ॥५॥ उभे सन्ध्ये समाधाय मौनं कुर्वंति ते द्विजाः ॥ दिव्यवर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥२६॥ जिस राजा के राज्य में ब्राह्मण मौन का अवलम्बन कर प्रातःकाल और सायङ्काल के समय सन्ध्यावन्दन करते हैं, वह राजा दिव्य सहस्र वर्ष तक स्वर्गलोक में पूजित होता है ॥२६॥

३६३ राजाके राज्यमें अकाल और भय क्यों उत्पन्न होतेहैं।

विद्वद्भोज्यानि चान्नानि मूर्खा राष्ट्रेषु भुञ्जते । तदन्नं नाशमायाति महच्चापि भयं भवेत् ॥ (न० स्मृ० अ० ३) । अन्न विद्वानों के भक्षण करने योग्य है, यदि मूर्ख अन्न को भोजन करते हैं तो वह अन्न निरर्थक हो जायगा और उस राज्य में महाभय उपस्थित होगा । विद्वद्भोज्यमविद्वांसो येषु राष्ट्रेषु भुञ्जते ॥ तेऽप्यनावृष्टिमिच्छंति महद्वाजायते भयम् ॥ २३ ॥ (अ० स्मृ० श्लो० २३) ॥ जिन राज्यों में विद्वानों के भोज्य को मूर्ख भोज्य करते हैं उन राज्यों में अनावृष्टि वा अन्य किसी प्रकार के महाभय उपस्थित होते हैं ॥ २३ ॥

३६४ राजस्थापितनियमान्नातिक्रामेत ।

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ॥ अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ (म० स्मृ० ७।१३ यस्मादित्यादि ॥ यतः सर्वतेजोमयो नृपतिस्तस्मादपेक्षितेषु यमिष्टं शास्त्राविरुद्धं शास्त्राविरुद्धं निश्चित्य व्यवस्थापयत्यनपेक्षितेषु चानिष्टं नियमं नातिक्रामेत् ॥ १३ ॥ (कु० भ०) ।

३६५ तस्यार्थं दण्डोत्पत्तिः।

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्॥ ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ १४॥ तस्यार्थ इति॥ तस्य राज्ञः प्रयोजनसिद्धये सर्वप्राणिनां रक्षितारं धर्मस्वरूपं पुत्रं ब्रह्मणो यत्केवलं तेजस्तेन निर्मितं न पाञ्चभौतिकं देहं ब्रह्मा पूर्वं सृष्टवान्॥ १४॥ तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च॥ भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च। १५॥ (म० स्मृ० ७।१४-१५) तस्येत्यादि॥ तस्य दण्डस्य भयेन चराचराः सर्वे प्राणिनो भोगं कर्तुं समर्था भवन्ति, अन्यथा बलवता दुर्बलस्य धनदारादिग्रहणे तस्यापि तदपेक्ष्य बलिनेति कस्यापि भोगो न सिद्ध्येत्, वृक्षादीना स्थावरादीनां छेदने भोगसिद्धिः, तथा सतामपि नित्यनैमित्तिकस्वधर्मानुष्ठानमकरणे याम्ययातनाभयादेव॥ १५॥ (कु० भ०)।

३६६ दण्डप्रवर्तनमाह।

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः॥ यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु॥१६॥ तमित्यादि॥ तंदण्डं देशकालौ दण्ड्यस्य च शक्तिं विद्यादिकं यस्मिन्नपराधे यो दण्डोऽर्हतीत्यादिक शास्त्रानुसारेण तत्त्वतो निरूप्यापराधिषु प्रवर्तयेत्॥ १६॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः॥ चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ १७॥ स इत्यादि॥ स एव दण्डो वस्तुतो राजा तस्मिन् सति राजशक्तियोगात्। स एव पुरुषस्ततोऽन्ये स्त्रिय इव तद्विधेयत्वात, स एव नेता तेन कार्याणि नीयन्ते प्राप्यन्ते, स एव शासिता शासनमाज्ञा तद्दातृत्वात् स एव चतुर्णामप्याश्रमाणां यो धर्मस्तस्य सम्पादने प्रतिभूरिव प्रतिभूर्मुनिभिः स्मृतः॥ १७॥

३६७ दण्डप्रशंसा

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति॥ दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ १८॥ दण्डः शास्तीति॥ यस्माद्दण्डः सर्वाः प्रजा आज्ञां करोति तस्मात्पाधूक्तं शासितेति ज्ञेयम्। यस्मात्स एव प्रजा रक्षति ततो युक्तमुक्तं राजेति। निद्राणेष्वपि रक्षितृषु दण्ड एव जागर्ति तद्भयेनैव चौरादीनामप्रवृत्तेः। दण्डमेव धर्महेतुत्वाद्धर्मं जानन्ति। कारणे कार्योपचारः। ऐहिकपारत्रिकदण्डभयादेव धर्मानुष्ठानात॥ १८॥(कु० भ०)।

३६८ राजधर्म।

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः॥ संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा॥ १॥ (म० स्मृ० ७। १) राजधर्मानिति॥ धर्मशब्दोऽत्र दृष्टादृष्टार्थानुष्ठेयपरः, षाड्गुण्यादेरपि वक्ष्यमाणत्वात्। राजशब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिवचनः किंत्वभिषिक्तजनपदपुरपालयितृपुरुषवचन.। अतएवाह 'यथावृत्तो भवेन्नृपः' इति। यथाचद्राचारो नृपतिर्भवेत्तथा तस्यानुष्ठेयानि कथयिष्यामि। यथा येन प्रकारेण वा 'राजानमसृजत्प्रभुः' इत्यादिना तस्योत्पत्तिः यथा च दृष्टादृष्टफलसंपत्तिः तदपि वक्ष्यामि॥ १॥

३६६ संस्कृतस्य राज्ञः प्रजारक्षणं कर्म ।

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ॥ सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥ ब्राह्ममित्यादि ॥ ब्रह्म वेदस्तत्प्राप्त्यर्थतयोपनयनसंस्कारमं यथाशास्त्र प्राप्तवता क्षत्रियेणास्य सर्वस्य स्वविषयावस्थितस्य शास्त्रानुसारेण नियमतो रक्षणं कर्तव्यम् । एतेन क्षत्रिय एव नान्यो राज्याधिकारीति दर्शितम् । अतएव शास्त्रार्थतत्त्वं क्षत्रियस्य जीवनार्थं, तथा क्षत्रियस्य तु रक्षणं स्वकर्मसु श्रेष्ठं च वक्ष्यति, ब्राह्मणस्य चापदि 'जीवेत्क्षत्रियधर्मेण' इत्यभिधास्यति । वैश्यस्यापि क्षत्रियधर्म, शूद्रस्य च क्षत्रिय-वैश्यकर्मणी जीवनार्थमापदि जगाद नारदः—'न कथंचन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम् । वृषलः कर्म च ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः ॥ उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥ रक्षणं वेदधर्मार्थं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्' इति । 'सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षणे' इति च वक्ष्यमाणत्वाद्रक्षितुर्बलिषड्भागग्रहणाद्दृष्टार्थमपि 'योऽरक्षन्बलिमादत्ते' इति नरकपातं वक्ष्यति ॥२॥ अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ॥ रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ अराजक इति ॥ यस्मादराजके जगति बलवद्भयात्सर्वतः प्रचलिते सर्वस्यास्य चराचरस्य रक्षार्थं राजानं सृष्टवांस्तस्मात्तेन रक्षणं कार्यम् ॥३॥ कथं सृष्टवानित्याह—

३७० इन्द्रादीनामंशाद्राजोत्पत्ति

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ॥ चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥ इन्द्रेति ॥ इन्द्रवातयमसूर्याग्निवरुणचन्द्रकुबेराणां मात्रा अंशान्सारभूतानाकृष्य राजानमसृजत् ॥ ४ ॥

३७१ राजप्रशंसा

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ॥ तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥५॥ यस्मादिति ॥ यस्मादिन्द्रादीनां देवश्रेष्ठानामंशेभ्यो नृपतिः सृष्टस्तस्मादेष सर्वप्राणिनो वीर्येणातिशेते ॥ ५ ॥ तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ॥ न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥६॥ तपतीत्यादि ॥ अयं च राजा स्वतेजसा सूर्य इव पश्यतां चक्षूंषि मनांसि च संतापयति, न चैनं राजानं पृथिव्यां कश्चिदप्याभिमुख्येन द्रष्टुं क्षमते ॥ ६ ॥ सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ॥ स कुबेरः सः वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥ स इत्यादि ॥ एवं चाग्न्यादीनां पूर्वोक्तांशभवत्वात्तत्कर्मकारित्वाच्च प्रताप उक्तस्तेजस्वीत्यादिना नवमाध्याये वक्ष्यमाणत्वात् स राजा शक्त्यतिशयेनाग्न्यादिरूपो भवति ॥ ७ ॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ॥ महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥ बाल इत्यादि ॥ ततश्च मनुष्य इति बुद्ध्या बालोऽपि राजा नावमन्तव्यः । यस्मान्महतीयं काचिद्देवता मानुषरूपेणावतिष्ठते । एतेन देवतावज्ञायामधर्मादृष्टोऽदृष्टदोषा उक्ताः ॥ ८ ॥ सम्प्रति दृष्टदोषमाह—एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ॥ कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ९ ॥

एकमित्यादि ॥ योऽग्नेरनिसमीपमनवह्निः मन्नुपमर्पनि तं दुरुपमर्पणमेकमेवाग्निर्दहति न मनु-ष्यादिकम् । क्रुद्धो राजाग्निः पुत्रदारभ्रात्रादिरूपं कुलमेव गवाश्वादिपशुसुवर्णादिधनसञ्चयसहितं सापराधं निहन्ति ॥ ९ ॥ कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालो च तत्त्वतः ॥ कुरुते धर्मसिद्ध्यार्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥ कार्यमित्यादि ॥ स राजा प्रयोजनापेक्षया स्वशक्तिं देशकालौ चावेक्ष्य कार्यसिद्ध्यर्थं तत्त्वतो विश्वरूपं बहूनि रूपाणि करोति । जाति विवक्षया बहुष्वेकवचनम् । अशक्तिदशायां क्षमते शक्तिं प्राप्योन्मूलयति, एवमेकस्मिन्नपि देशे काले च प्रयोजनानुरोधेन शत्रुर्वा मित्रं वा उदासीनो वा भवति अतो राजन्नक्षमोऽहमिति बुद्ध्या नावज्ञेयः ॥ १० ॥ यस्य प्रसादे पद्मा श्री विजयश्च पराक्रमे ॥ मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि स ॥ ११ ॥ (म० स्मृ० ७।१-११) यस्येत्यादि ॥ पद्मागब्दः श्रीपर्यायो-ऽपि महत्त्वविवक्षयात्र प्रयुक्तः । यस्य प्रसादान्महती श्रीर्भवत्यतः श्रीकामेन सेव्यः । यस्य शत्रवः सन्ति तानपि सन्तोषितो हन्ति । तेन च शत्रुवधकामेनाप्याराधनीयः । यस्मै क्रुध्यति तस्य मृत्युं करोति, तस्माज्जीवनार्थिना न क्रोधनीयः । यस्मात्सर्वेषां सूर्याग्निसामादीनां तेजो बिभर्ति ॥ ११ ॥

३७२ राजा धर्माधर्मयो षष्टांशभाक् ।

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञोभवति रक्षतः ॥ अधर्मादपि षड्भागो भवत्य-स्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥ सर्वत इति ॥ प्रजारक्षतो राज्ञः सर्वस्य भृतिजंतुर्वणिगादेर्मूल्य-दातुश्च श्रोत्रियादेः सकाशाद्धर्मषड्भागो भवति । अरक्षतश्चाधर्मादपि लोकेन कृतात्षड्भागः स्यात् । तस्माद्यत्नतः स्तेननिग्रहेण राजा रक्षणं कुर्यात् । न च भृतिक्रीतत्वाद्राज्ञो धर्मषड्भागो न युक्त इति वाच्यम् । भृत्या धर्मषड्भागेन च परिक्रीतस्य स्वामीयत्वात् ॥ ३०४ ॥ यद-धीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ॥ तस्य षड्भागमाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥ यदिति ॥ यः कश्चिज्जपयागदानदेवतार्चादीनि करोति तस्य राजा पालनेन षड्भागं प्राप्नोति ॥ ३०५ ॥ रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ॥ यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥ (म० अ० ८ । ३०४-३०६) । रक्षन्निति ॥ भूतानि सर्वाणि स्थावरजङ्गमादीनि यथाशास्त्रं दण्डप्रणयनरूपेण धर्मेण रक्षन्, वध्यांश्च स्तेनादींस्ताडयन् प्रत्यहं लक्षगोदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते । तज्जन्यं पुण्यं प्राप्नोतीति भावः ॥ ३०६ ॥ (कु० भ०)

प्रजानां धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षितुः ॥ अधर्मादपि षड्भागो जायते यो न रक्षति ॥ ३७५ ॥ रक्षा करने से राजा को प्रजा के धर्म का छठा भाग मिलता है और जो रक्षा नहीं करता उसको अधर्म का छठा भाग प्राप्त होता है ॥ ३७५ ॥ (पं० तं० तृ० त०) । अप्रज्ञायमानवित्तं योऽधिगच्छेद्राजातद्धरेत् अधिगंत्रे षष्ठमंशं प्रदाय ब्राह्मणश्चेदधिगच्छेत् षट्कर्मसु वर्तमानो न राजा हरेत् । (व० स्मृ० अ० ३) । यदि किसी को दूसरे का बिना जाना हुआ धन मिल जाय तो राजा को उचित है कि जिस मनुष्य को वह धन मिला है उससे वह धन लेकर उस धनके छः भाग कर उसमें से एक भाग उसे देदे, शेष धन अपने पास रक्खे

और यदि छः कर्मों में युक्त ब्राह्मण को शूद्र धन मिले जाय तो राजा उसे ग्रहण न करे।

३७३ प्रजापीडने दोष।

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया॥ सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥ १११॥ मोहादित्यादि यो राजा अनवेक्षया दुष्टशिष्टाज्ञानेन स्वराष्ट्रं स्वराष्ट्रीयजनाञ्शास्त्रीयधनग्रहणादिरूपेण पीडयति स शीघ्रमेव जनपदराष्ट्रप्रकृतिकोपाधर्मै राजा राज्याज्जीविताच पुत्रादिसहितो भ्रश्यते। १११॥ शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा॥ तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥ ११२॥ (म० स्मृ० ७। १११-११२)। शरीरकर्षणेति॥ यथा प्राणभृतामाहारनिरोधादिना शरीरशोषणात्प्राणाः क्षीयन्ते, एवं राज्ञामपि राष्ट्रपीडनात्प्रकृतिकोपादिना प्राणा विनश्यन्ति। तस्मात्स्वशरीरवद्राज्ञा राष्ट्रं रक्षणीयमित्युक्तम्॥ ११२॥ (कु० भ०)। प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः॥ राज्ञः श्रियं कुलं प्राणांश्चादग्ध्वा विनिवर्त्तते॥ ३७६॥ (प० तं० तृ० तं० ३७६)। प्रजापीडन के संताप से उठी हुई अग्नि राजाकी लक्ष्मी कुल और प्राणों को दग्ध करके ही निवृत्त होती है॥ ३७६॥

गोस्वामी तुलसीदासजी भी लिखते हैं:—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी॥ सो नृप अवश नरक अधिकारी॥

३७४ चाटतस्करादिभ्यो रक्षणम्।

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः॥ पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः॥ ३३६॥ (या० व० स्मृ० आ० अ० रा० ध० प्र० १३। ३३६)। चाटः प्रतारकाः विश्वास्य ये परधनमपहरन्ति। प्रच्छन्नापहारिणस्तस्कराः दुर्वृत्ता (१) इन्द्रजालिककितवादयः। सहो बलं सहसा बलेन कृतं साहस महच्च तत्साहस तेन वर्त्तन्त इति महासाहसिकाः (२) प्रसह्यापहारिणः। आदिशब्दान्मौलिककुहकदुर्वृत्ताय.। एतैः पीड्यमाना बाध्यमानाः प्रजा रक्षेत्। कायस्था लेखका गणकाश्च तैः पीड्यमाना विशेपतो रक्षेत्। तेषां राजवल्लभतयातिमायावित्वाच्च दुर्निवारत्वात्॥ ३३६॥ सुपिस्थः। ३। २। ४॥ सुपिति (३) योगोविभज्यते। सुपि उपपदे आदन्तात्कः स्यात्॥ द्वाभ्यां पिबतीति द्विपः। समस्थः। विषमस्थः। ततः स्थः॥ (सि० कौ० कृ० प्र० पृ० ४२७)। चाटुतस्करदुर्वृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः॥ पीड्यमानाः प्रजा रक्ष्याः कूटच्छद्मादिभिस्तथा॥ ३७४॥ (प० तं० तृ० तं०)। चाटुकार दुर्वृत्त साहसियोंसे (दुर्जन) तथा कपट छलवालों से पीड़ित हुई प्रजा की रक्षा करनी चाहिये॥ ३७४॥

---

(१) ऐन्द्रजालिक. ग. (२) अपकारिणः ग.

(३) विभज्यते इति। इदं च विभक्तसूत्रं केवलोपसर्गे न प्रवर्तते 'आतश्चोपसर्गे' इत्यनेनैव सिद्धत्वात्। नापि कर्मण्युपपदे "आतोऽनुपसर्गे कः" इत्यारम्भसामर्थ्यात्॥ (सि० कौ०)।

परीक्षकैःदावयित्वा यथा स्वर्णं परीक्ष्यते ॥ कर्मणा सहवासेन गुणैः शील-कुलादिभिः ॥५३॥ भृत्य परीक्षयेन्नित्यं विश्वास्यं विश्वसेन् सदा ॥ नैव जातिर्न च कुलं केवलं लक्षयेदपि ॥ ५४ ॥ जैसे परीक्षा करनेवाले सोने को ताव देकर परखते हैं वैसे राजा को चाहिये कि भृत्यों को साथ रखकर उनके कामों गुणों शील और कुल की नित्य परीक्षा करे और तब परीक्षा लेकर जो विश्वास करने के योग्य हों उनमें विश्वास करे केवल उनके जाति और कुलमात्र की परीक्षा न करे किन्तु उनके गुणों का भी पारिख करे ॥ ५३ ॥ ॥ ५४ ॥ कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुलेन हि । न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते ॥ ५५ ॥ जाति कुल का जानना उतना अवश्य नहीं है जितना कि कर्म शील और विद्या आदि गुणों का जानना अवश्य है क्योंकि जितनी बड़ाई मनुष्य की कर्म शील और गुणसे होती है उतनी जाति और कुल से नहीं होती ॥५५॥ चतुर्गुणेन यत्नेन कायवाङ्मानसेन च ॥ भृत्यैव तुष्टो मृदुवाक् कार्य्यदक्षः शुचिर्दृढ़ ॥५८॥ (शु०नी० २-५३-५४-५५-५८) भृत्यको चाहिये कि चारों गुणों और काय, वाक् मनसे यत्नवान् हो, अपने वेतनसे संतुष्ट रहे मधुर बोले और कामों में तत्पर होकर शुद्ध चित्तसे निश्चय रहे ॥५८॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः । दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥ कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ॥ मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥ (भ० गी० १७ । ५-६) । दम्भ (मंत्र-तन्त्र-वेष-भाषा-आदि से स्वांग बनाना), अहंकार (कुल-शील-विद्या आदि मे अभिमान), विषय व उनकी इच्छा और दुराग्रह इन से युक्त होने के कारण अविवेकी जो लोग उपवासादि से अपने शरीर में या उदर में रहनेवाले स्थूल-सूक्ष्म-भूतरूप (१) प्राणि समुदाय को अथवा प्राण व इन्द्रियों के समुदाय को कृश (दुर्बल) करके और शरीर के अन्दर रहनेवाले प्रत्यगात्मरूप मुझको भी कृश (चित्तकी चंचलता से अप्राप्य) करके शास्त्र के विरुद्ध भयंकर तप करते हैं, वे असुर अर्थात् अति क्रूर निश्चय वाले हैं ऐसा जानो ॥ ५ ॥ ६ ॥ अङ्गुल्यग्रे तीर्थं दैवं स्वल्पाङ्गुल्योर्मूले कायम् ॥ मध्येऽङ्गुल्योः पित्र्य मूले त्वङ्गुष्ठस्य ब्राह्मम् ॥ (अ० वे० कां० २ अ०व० ८) । अंगुलीनामग्रे दैवं तीर्थंज्ञेयम् । स्वल्पाङ्गुल्योः कनिष्ठिकायाश्च मूले कायम् । अंगुष्ठतर्जन्योर्मध्यभागे पित्र्यम् । अंगुष्ठस्य मूले तु ब्राह्मं तीर्थम् । ब्रह्मभूयम्, ब्रह्मसायुज्यम्, इति २ ब्रह्मभावस्य ॥

दश प्रोक्ताः पुरोधाद्या ब्राह्मणाः सर्व एव ते ॥ अभावे क्षत्रिया योज्यास्तदभावे तथोरुजाः ॥४२६॥ दश जो प्रकृति पुरोहित इत्यादि ऊपर कहे आये हैं उनमें सब ब्राह्मण हों और ब्राह्मणों के अभाव में क्षत्री और क्षत्रियों के अभाव में वैश्यों को नियुक्त करे ॥ ४२६ ॥ नैव शूद्रास्तु संयोज्या गुणवन्तोऽपि पार्थिवैः ॥४२७। राजा को चाहिये कि यद्यपि शूद्र गुणवान् भी हो परन्तु उनको दश अधिकारों पर नियुक्त न करे ॥४२७॥ भागग्राही क्षत्रियस्तु साहसाधिपतिश्च सः॥ ग्रामपो ब्राह्मणो योज्यःकायस्थो लेखकस्तथा ॥४२८॥ प्रजा से कर लेने और शासन अधिकार में क्षत्री को नियुक्त करना चाहिये ब्राह्मण को ग्रामाध्यक्ष बनावे, और कायस्थो को लेखक नियुक्त करे ॥ ४२८ ॥ शुल्कग्राही तु वैश्यो हि

---

(१) पृथिवी आदि पंचमहाभूतों से बने हुये देहों ।

प्रतिहारश्च पादज' ॥ सेनाधिपः क्षत्रियस्तु ब्राह्मणस्तदभावतः ॥ ४२६ ॥ वाणिज्य पर राजा का कर लेने के लिये वैश्य को नियुक्त करे, और शूद्र को द्वारपाल बनावें, और सेनाधिपति क्षत्रिय को उसके अभाव में ब्राह्मण को नियुक्त करे ॥ ४२९ ॥ न वैश्यो न च वै शूद्रः कातरश्च कदाचन। सेनापतिः शूर एव योज्यः सर्वासु जातिषु ॥ ४३० ॥ शूद्र, वैश्य और कातर सेनापति कदापि न नियुक्त करे सब जातियों में वीर देख कर सेनापति बनाना चाहिये ॥४३०॥ ससङ्करश्चतुर्वर्णधर्मोऽयं नैव पावनः॥ यस्य वर्णस्य यो राजा स वर्णः सुखमेधते ॥ ४३१ ॥ चारों वर्ण के वर्ण संकरों को राजा का अधिकार होना पवित्र नहीं है क्योंकि जिस वर्ण का जो राजा होता है वह वर्ण सुखी होता है ॥ ४३१ ॥

३७५ स्तेयलक्षणम्।

इदानीं स्तेयं प्रस्तूयते। तल्लक्षणं च मनुनाभिहितम् (८। ३३२)—'स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ॥ निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापह्नूयते च यत् ॥' इति। अन्वयवत् द्रव्यरक्षिराजाध्यक्षादिसमक्षम्। प्रसभं बलावष्टम्भेन यत्परधनहरणादिकं क्रियते तत्साहसम्। स्तेयं तु तद्विलक्षणं निरन्वयं द्रव्यस्वाम्याद्यसमक्षं वञ्चयित्वा (१) यत्परधनहरणं तदुच्यते। यच्च सान्वयमपि कृत्वा न मयेदं कृतमिति भयान्निह्नूते तदपि स्तेयम् ॥ नारदेनाप्युक्तम्—'उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वापकर्षणम् ॥ सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः ॥ इति ॥ (या० स्मृ० व्य० अ० स्ते० प्र० ७३)।

३७६ स्तेयसाहसयोर्लक्षणम्।

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ॥ निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥ (म० स्मृ० ८। ३३२)। स्यादिति ॥ यद्धान्यापहारादिकं कर्म द्रव्यस्वामिसमक्षं बलाद्धृतं तत्साहसं स्यात, सहो बलं तत्र सात्त्वम्। अत इह स्तेयदण्डो न कार्यः। एतदर्थः स्तेयप्रकरणेऽस्य पाठः। यत्पुनः स्वामिपरोक्षापहृतं तत्स्तेयं भवेत यच्च हृत्वाऽपह्नुते तदपि स्तेयमेव ॥ ३३२ ॥ (कु० भ०)। यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ॥ न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥ (म० स्मृ० ८। ३८६)। यस्येति ॥ यस्य राज्ञो राष्ट्रे चौर, परदारगामी, परुषवादी, गृहदाहादिसाहसकारी दण्डपारुष्यकर्ता च नास्ति स राजा शक्रपुरं याति ॥ ३८६ ॥

याः सेनां अभीत्वरीराव्याधिनीरुगंणा उत। ये स्तेना ये च तस्कंरास्तांस्तें अग्नेऽपिंदधाम्यास्यें ॥ ७७ ॥

उ०—याः सेनाः अनुष्टुभः प्रागग्नपतीयायाः। सा तूपरिष्टाद्बृहती। याः सेनाः अभित्वरीः। 'इण् गतौ' इत्यस्माद्धातो इण्नशजिसर्तिभ्यः' इति क्वरप्प्रत्ययः। 'ह्रस्वस्य पिति कृति' इति तुगागमे कृते 'टिड्ढाणञ्' इति ङीपि कृते

(१) प्राणानद्गध्वा क,

इणः इत्वरी इति सिद्धं भवति। अभियायिभ्यः। आव्याधिनीः आविध्यन्ति याः उगणा उत। उतशब्दोऽप्यर्थे। अपिच। उद्गूर्णगणा। पृषोदरादिपाठान्मध्यम-पदलोपः। ये च स्तेनाश्चौरा ये च तस्कराः 'तस्करस्तत्करोति यत्पापकं' इति निरुक्ताः। तान्सर्वान् ते तव हे अग्ने, अपिदधामि प्रक्षिपामि आस्ये मुखे भक्षणाय ॥ ७७ ॥

म०—षडनुष्टुभः। याः काश्चित्परकीयाः सेनाः अभीत्वरीरभीत्वर्यः अभियायिन्य· अस्मदाभिमुख्येनागमनशीलाः अभियन्ति ता अभित्वर्यः 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' (पा० ३।२।१६३) इति क्वरप् 'ह्रस्वस्य पिति–'(पा० ६।१।७१) इति तुक् 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्' (पा० ४।१।१५) इत्यादिना ङीप्। उतशब्दोऽप्यर्थे। उतापि च याः सेनाः आव्याधिनीः आ समन्ताद्विध्यन्ति ताः सर्वतोऽस्मांस्ताडयन्त्यः। उगणाः उद्गूर्णगणाः। पृषोदरादिपाठान्मध्यमपदलोपः। उद्यतायुधगणोपेता बहुसोमा इत्यर्थः। ये च स्तेना· गुप्तचराः ये च तस्कराः प्रकटचौराः 'तस्करस्तत्करोति यत्पापकम्' (नि० ३।१४) इति नैरुक्ताः। हे अग्ने, तान् पूर्वोक्तान्सेनादीन् ते तव आस्ये मुखे अपिदधामि प्रक्षिपामि भक्षणाय। दुष्टान्सर्वान्भक्षयेत्यर्थः ॥ ७७ ॥

द॒ꣳष्ट्रा॑भ्यां म॒लिम्लू॒ञ्जम्भ्यै॒स्तस्क॑राँ२॥ऽउ॒त। हनु॑भ्याꣳ स्ते॒नान्भ॑ग॒वस्ताँस्त्वं खा॑द॒ सुखा॑दितान् ॥ ७८ ॥

उ०—दंष्ट्राभ्यां दशनशीलाभ्यां दृढाभ्याम् राजलिके इति ये उच्येते ताभ्याम् मलिम्लून् मलिम्लुचः उक्ताः (१) गूढाः स्तेनतया म्लोचन्ति अदृश्या भवन्ति जने कक्षे च ये जम्भ्यैस्तस्करान् जम्भावृत्तिसमाश्रिता जम्भ्याः ताभिः तस्करान्। उत अपि हनुभ्यां च हननशीलाभ्यां स्तेनान् हे भगवः हे भगवन् महदैश्वर्ययुक्त। तान् त्वं खाद। यथा सुखादिता भवन्ति ॥ ७८ ॥

म०—गुप्ताः प्रकटाश्चेति द्विविधाश्चौराः प्रकटा अपि पुनर्द्विविधाः। अरण्ये मार्गे च प्रहृत्य प्रत्यहमेव पलायमानाः प्रकटाः। ततोऽप्यतिप्रकटा निर्भया ग्रामेष्वेवागत्य ऽन्यौरागते अत्र मलिम्लुच उच्यन्ते। मल पापाधिक्यमेषामस्तीति मलिना. तथाविधाः भूत्वा म्लोचन्ति जने वने वा अदृश्या भवन्तीति मलिम्लुचः। दन्तपङ्क्तिमध्ये याभ्यां तीक्ष्णदन्ताभ्यां नमुख्यादिकं भक्ष्यते ते दंष्ट्रे राक्षसीसंज्ञे। ततः पुरोवर्तिनो बहिर्दृश्यमाना दन्ता जम्भ्याः जम्भावृत्तिमाश्रिता जम्भ्याः। दन्तलीने तु हनू। दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून्पीडयित्वा जम्भ्यैस्तस्करानपि पीडयित्वा हनुभ्यां स्तेनान् पीडयित्वा हे भगवः भगवन्महदैश्वरीययुक्त पूजनीय, तान्सर्वान्पूर्वोक्तान्सुखादितान् सुष्ठु खादितान्भक्षितान्पुनर्जीवनरहिता यथा भवन्ति तथा खाद भक्षय। सुखादितानपेतान्कृत्वेति वा ॥ ७८ ॥

ये जने॑षु म॒लिम्लव॑ स्ते॒नास॒स्तस्क॑रा वने॑। ये कक्षे॑ष्वघा॒यव॒स्ताँस्ते॑ दधामि॒ जम्भ॑योः ॥ ७९ ॥ (य० सं० ११।७७-७९)।

उ० जनेषु मलिम्लुचः जनेषु स्तेनासः 'आज्जसेरसुक्' तस्कराः। वने

(१) ऐन्द्रजालिक, ग। (२) अपकारिणः ग।

वनाश्रिताः येच कक्षेषु नदीपर्वतगहनेषु अघायवः । 'छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्' इत्यघशब्दात्क्यच् 'क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययः । अघं परस्मै इच्छन्तीत्यघायवः तान् तव दधामि स्थापयामि जम्भयोः भक्षणाय ॥ ७६ ॥

म० जनेषु ग्रामवर्तिषु ये मलिम्लुचः पूर्वोक्ता वन्दीकाराः ये च वने स्तेनासः स्तेनाः 'आज्जसेरसुक्' (पा० ७ । १ । ५०) इत्यसुक् । गुप्तचोराः तस्कराः प्रकटचोराः । ये च कक्षेषु नदीपर्वतगहनेषु अघायवः परेषां पापभिलाषुकाः हे अग्ने, तान् चतुर्विधान् ते तव जम्भयोः दंष्ट्रयोर्दधामि स्थापयामि भक्षणायेत्यर्थः । अघं परस्येच्छन्ति ते अघायवः 'छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्' इति अघशब्दात्क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' (पा० ३ । २ । १७०) इति उप्रत्ययः ॥ ७९ ॥

३७७ उत्पथगामिनो राज्ञो निन्दा ।

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मन ॥ संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥३४॥ अत इति ॥ उक्ताचारादिविपरीताचारवतो नृपतेरजितेन्द्रियस्य जले घृतबिन्दुरिव कीर्तिः लोके संकोचयति ॥ ३४ ॥ स्वेस्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ॥ वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥ स्वेस्वे इत्यादि ॥ क्रमेण स्वधर्मानुष्ठातॄणां ब्राह्मणादिवर्णानां ब्रह्मचर्यादाश्रमाणां च विश्वसृजा राजा रक्षिता नृपः तस्मात्तेषां रक्षणमकुर्वतो राज्ञः प्रत्यवायः स्वधर्मविरहिणां त्वरक्षणेऽपि न प्रत्यवाय इत्यस्य तात्पर्यार्थः ॥ ३५ ॥

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ॥ तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥३६॥ (म० स्मृ० ७ । ३४-३६) । तेनेत्यादि ॥ वक्ष्यमाणावतारार्थोऽयं श्लोकः तेन राज्ञा प्रजारक्षणं कुर्वता सामात्येन यद्यत्कर्तव्यं तत्तत्समग्रं युष्माकमभिधास्यामि ॥३६॥(कु० भ०)

३७८ अरक्षया करग्रहणनिन्दा

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ॥ प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥ योऽरक्षन्निति ॥ यो राजा रक्षामकुर्वन् बलिं धान्यादेः षड्भागं ग्रामवासिभ्यः प्रतिमासं वा भाद्रपौषनियमेन ग्राह्यं शुल्कं स्थलजलपथादिना वणिग्व्यापारिभ्यो नियतस्थानेषु द्रव्यानुसारेण ग्राह्यं दानमिति प्रसिद्धं प्रतिभागं फलकुसुमशाकतृणाद्युपायनं प्रतिदिनग्राह्यं दण्डं व्यवहारादौ गृह्णाति स मृतः सन्सद्य एव नरकं याति ॥ ३०७ ॥ अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ॥ तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥ अरक्षितारमिति ॥ यो राजा न रक्षत्यथ च धान्यादिषड्भागं बलिरूपं गृह्णाति त सर्वलोकानां सकलपापहारिणं मन्वादय आहुः ॥ ३०८ ॥ अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ॥ अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥ अनपेक्षितेति । लंघितशास्त्रमर्यादं परलोकाभाववादिनमनुचितदण्डादिना धनग्राहिणं रक्षणरहितं करवन्यादिभक्षितारं राजानं नरकगामिनं जानीयात् ॥ ३०९ ॥ अधार्मिकं त्रिभिन्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ॥ निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥ (म० स्मृ० ८।३०७-३१०) । अधार्मिकमिति ॥ अधार्मिकं चौरादिकमपराधापेक्षया त्रिभिरुपायैः प्रयत्नेन नियमयेत् । तानाह-कारागारप्रवेशनेन, निगडादिबन्धनेन, करचरणच्छेदनादिनानाप्रकारहिंसनेन ॥३१०॥ (कु०भ०)

३७९ अन्यायेन प्रजाभ्यः करग्रहण।

अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत्॥ सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धव.॥ ३४०॥ योऽसौ राजा स्वराष्ट्रादन्यायेन द्रव्यमादाय स्वकोशं अभिवर्धयेत् सोऽचिराच्छीघ्रमेव विगतश्रीको विनष्टलक्ष्मीको बन्धुभि सह नाशं प्राप्नोति॥ ३४०॥ प्रजापीडनसंतापात्समुद्भूतो हुताशनः॥ राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चाऽदग्ध्वा न निवर्तते॥ ३४१॥ प्रजानां तस्करादिकृतपीडनेन यः संतापस्तस्मादुद्भूतो हुताशन इव संतापकारित्वादपुण्यराशिर्हुताशनशब्देनोच्यते। स राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा नाशमनीत्वा न निवर्तते नोपशाम्यति॥३४१॥ य एव नृपतेर्धर्मः स्वराष्ट्रपरिपालनं॥ तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन्॥ ३४२॥ न्यायतः स्वराष्ट्रपरिपालने राज्ञो यो धर्मस्तं सकलं वक्ष्यमाणन्यायेन परराष्ट्रं वशं नयन् आत्मसात्कुर्वन्नाप्नोति धर्मषड्भागं च॥ ३४२॥

३८० देशाचारादिरक्षणम्।

यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः॥ तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः॥ ३४३॥ (या० व० स्मृ० आ०अ० रा० ध० प्र० १३। ३४०-३४३)। किंच यदा परदेशो वशमुपागतस्तदा न स्वदेशाचारादिमकरं कार्यः किंतु यस्मिन्देशे य आचारः कुलस्थितिर्व्यवहारो वा यथैव प्रागासीत्तथैवासौ परिपालनीयो यदि शास्त्रविरुद्धो न भवति। यदा वशमुपागत इत्यनेन वशोपगमनात्प्रागनियम इति दर्शितम्। यथोक्तम् (मनु। ७। १९५)—'उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्। दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्।' इति॥ ३४३॥

३८१ प्रजानामरक्षणे फलम्।

अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किंचित्किल्बिषं प्रजा॥ तस्मात्तु नृपतेरर्धं यस्माद्गृह्णात्यसौ करान्॥ ३३७॥ अरक्ष्यमाणाः प्रजाः यत्किंचित्किल्बिषं चौर्यपरदारगमनादि कुर्वन्ति तस्मात्पापादर्धं नृपतेर्भवति। यस्मादसौ राजा रक्षणार्थं प्रजाभ्य करान् गृह्णाति॥३३७॥ ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम्॥ साधून्संमानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत्॥ ३३८॥ उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान्कृत्वा विवासयेत्॥ (१) सद्दानमानसत्काराञ्छ्रोत्रियान्वासयेत्सदा॥ ३३९॥ (या० व० स्मृ० आ० अ० रा० ध० प्र० १३।३३७ ३३९)॥ राष्ट्रे राष्ट्राधिकारेषु ये नियुक्तास्तेषां विचेष्टितं चरितं चारैरन्तर्लक्षणैः सम्यक् ज्ञात्वा साधून्सुचरितान् संमानयेत् दानमानसत्कारैः पूजयेत्। विपरीतान्दुष्टचरितान् सम्यग्विदित्वा घातयेत् अपराधानुसारेण। ये पुनरुत्कोचजीविनस्तान्द्रव्यरहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रात्प्रवासयेत्। श्रोत्रियान्सद्दानमानसत्कारैः सहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रे स्वदेशे सदैव वासयेत्॥३३८॥ ॥ ३३९॥

---

(१) सद्दानमान न।

३८२ प्रजापालनफलम् ।

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु ॥ स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता ॥ ३३४ ॥ किंच । ब्राह्मणेष्वधिक्षिपत्स्वपि क्षमी क्षमावान् । स्निग्धेषु स्नेहवत्सु मित्रादिष्वजिह्मः अवक्रः । अरिषु क्रोधनः । भृत्यवर्गेषु प्रजासु च हिताचरणेनाहितनिवर्तनेन च पितेव दयावान् । स्यादिति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ३३४ ॥

प्रजापालन फलमाह —

पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ॥ सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥३३५॥ यस्मान्न्यायेन (१) शास्त्रोक्तमार्गेण प्रजाः परिपालयन् परिपालितप्रजासंचितपुण्यात् षड्भागं षष्ठं भागमादत्ते । यस्माच्च सर्वेभ्यो भूम्यादिदानेभ्यः प्रजानां परिपालनमधिकफलम् । तस्मात्प्रजासु यथा पिता तथैव स्यादिति गतेन संबन्धः ॥ ३३५ ॥

३८३ प्रजारक्षणफलम् ।

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ॥ सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥ (म० स्मृ० ७।११३) । राष्ट्रस्येत्यादि ॥ राष्ट्रस्य रक्षणे च वक्ष्यमाणमिममुपायमनुतिष्ठेत । यस्मात्सुरक्षितराष्ट्रो राजाऽनायासेन वर्धते ॥ ११३ ॥ (कु० भ०) ।

यत्प्रजापालने पुण्यं प्राप्नुवंतीह पार्थिवाः ॥ नतु क्रतुसहस्रेण प्राप्नुवंति द्विजोत्तमाः ॥२९॥ (अ० स्मृ०) राजा प्रजा के पालन करने में इस लोक में जिस पुण्य को प्राप्त करते हैं उस पुण्य को ब्राह्मण हजारों यज्ञ करके भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ २९ ॥ धर्मं राज्ञः पालनं भूतानां तस्यानुष्ठानात् सिद्धिः । भयकारणं ह्यपालनं चैतत् । सूत्रमाहुर्विद्वांसस्तस्माद्गार्हस्थ्यनैयमिकेषु पुरोहिते दद्याद्द्विजातये ब्राह्मणः पुरोहितो राष्ट्रं दधातीति । तस्य भयमपालनादसामर्थ्याच्च ॥ (व० स्मृ० अ० १९) । प्रजा की पालना करना ही राजा का धर्म है, कारण कि पालना का न करना यही भय का हेतु होता है, इससे यही जीवनपर्यन्त करने योग्य है, इसी विषय में विद्वानों ने सूत्र कहा है, इस कारण गृहस्थ के आवश्यकीय कार्यों में पुरोहित को पालन का भार सौंप दे, कारण कि यह शास्त्र में विदित हुआ है, कि राजा का पुरोहित ब्राह्मण देश की पालना करता है, अपालन और असामर्थ्य के अभाव में राजा को भय होता है ।

३८४ न्यायशीलस्य राज्ञः प्रशंसा ।

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ॥ विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥ (म० स्मृ० ७।३३) । एवमित्यादि ॥ शिलोञ्छेनेति क्षीणकोशत्व विवक्षितम् । क्षीणकोशस्यापि नृपतेरुक्ताचारवतो जले तैलबिन्दुरिव कीर्तिर्लोके विस्तारमेति ॥ ३३ ॥ (कु० भ०) ।

---

(१) धर्मशास्त्रोक्तेनः ग ।

राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ॥ राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥ ३७७ ॥ अबन्धुओंका राजाही बन्धु है, अनेत्रोंका राजाही नेत्र है सब न्यायमें वर्तने वालोंका पिता माता राजाही है ॥ ३७७ ॥ (पं० तं० क० १५) पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ॥ विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥२१५॥ (हि० उ० मि० ला० २१५) । राजा मेघके सदृश प्राणिमात्र का अवलम्ब है । वर्षा न होने पर भी संसार जीता है परन्तु राजा के विना कोई नहीं जी सकता ॥ २१५ ॥

३८५ राजा को धन धान्य प्रजा से मिलता है।

फलार्थी पार्थिवो लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ॥ दानमानादितो येन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥३७८॥ फलकी इच्छावाला यत्न से लोकोंकी पालना करे और दानमान करे जैसे माली जल से अंकुरोंको पालता है ॥३७८॥ यथा बीजांकुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेननाभिरक्षितः ॥ फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥३७९॥ जिस प्रकारः सूक्ष्म० बीजांकुर यत्नसे रक्षा किया हुआ कालमें फल देनेवाला होता है इसी प्रकार सुरक्षित लोक भी है ॥३७९॥ हिरण्य-धान्यरत्नानि यानानि विविधानि च । तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्नृपस्य तत् ॥ ३८० ॥ [प० तं० क० १५ । ३७८-३८०] सुवर्ण, धन, रत्न अनेक विमान और जो कुछ भी है राजाको सब प्रजा से प्राप्त होता है ॥ ३८० ॥

३८६ राजद्रोहनिन्दा ।

राजद्वेषाद्भवेन्नाशः । (चा० नी० द० अ० १० । ११) ।

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ॥ तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥ तमित्यादि ॥ तं राजनमज्ञतया यो द्वेष्टि तस्याप्रीतिमुत्पादयति स निश्चित राजक्रोधान्नश्यति । यस्मात्तस्य विनाशाय शीघ्रं राजा मनो नियुंक्ते ॥१२॥ तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ॥ अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥१३॥ [म० स्मृ० ७।१२-१३] यस्मादित्यादि ॥ यत सवतेजोमयो नृपतिस्तस्मादपेक्षितेषु यमिष्टं शास्त्रानुष्ठेयं शास्त्राविरुद्धं निश्चित्यव्यवस्थापयत्यनपेक्षितेषु चानिष्टं नियम नातिक्रामेत ॥१३॥ (कु० भ०)

३८७ दण्डप्रशंसां पुनराह ।

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा ॥ स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥ अद्यादिति ॥ यदि राजा दण्डं नाचरिष्यत्तदा यज्ञेषु सर्वथा हविरनर्हः काकः पुरोडाशमखादिष्यत् । तथा कुक्कुरः पायसादि हविरलेक्ष्यत । न कस्यचित्कुत्रचित्स्वाम्यमभविष्यत् । ततो वलिना तदग्रहणाद्ब्राह्मणादिवर्णानां च मध्ये यदवरं शूद्रादि तदेवोत्तरं प्रधानं प्रावर्तिष्यत ॥ २१ ॥ सर्वो दण्डजितो लोके दुर्लभो हि शुचिर्नरः ॥ दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२ ॥ सर्व इति ॥ सर्वोयं लोको दण्डेनैव नियमितः सन्मार्गेऽवतिष्ठते ॥ स्वभावविशुद्धो हि मानुषः कष्टेन लभ्यते । तथा सर्वमिदं जगद्दण्डस्यैव भयादावश्यकभोजनादिरूपेपि भोगे समर्थं भवति ॥ २२ ॥ उक्तमपि दण्डस्य भोगसंपादकत्वं

दाद्वार्थं पुनरुच्यते—देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ॥ तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥ देवेति ॥ इन्द्राग्निसूर्यवाय्वाद्यां देवास्तथा दानवगन्धर्वराक्षसपक्षिसर्पा अपि जगदीश्वरपरमार्थभयपीडिता एव स्वकर्मानुसारेण प्रवर्तन्ते। तथा च श्रुतिः—'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इति ॥ २३ ॥ दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ॥ सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥ दुष्येयुरिति ॥ दण्डस्याकरणादनुचितेन वा प्रवर्तनात्सर्वे ब्राह्मणादिवर्णा इतरेतरस्त्रीगमनेन संकीर्येरन्, सर्वशास्त्रीयनियमाश्चतुर्वर्णकृता नश्येयुः, चौर्यसाहसादिना च परस्परापकारात्सर्वलोकसंक्षोभश्चाभवेत् ॥ २४ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ॥ प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥२५॥ यत्रेति। यत्र देशे शास्त्रप्रमाणराजतः श्यामवर्णः लोहितनयनोऽधिष्ठातृदेवताको दण्डो विचरति तत्र प्रजा व्याकुला न भवन्ति। दण्डप्रणेता यदि विषयानुरूपं सम्यग्जानाति ॥ २५ ॥ तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ॥ समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥२६॥ तस्येत्यादि। तस्य दण्डस्य प्रवर्तयितारमभिषेकादिगुणयुक्तं नृपतिमवितथवादिनं समीक्ष्यकारिणं तत्त्वातत्त्वविचारोचितं प्रज्ञाशालिनं धर्मार्थकामानां ज्ञातारं मन्वादयोऽप्याहुः ॥ २६ । तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ॥ कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥२७। (म० स्मृ० ७।२१-२७) तमिति। तं दण्डं राजा सम्यक्प्रवर्तयन्धर्मार्थकामैर्वृद्धिं गच्छति। यः पुनर्विषयाभिलाषी विषमः कोपनः क्षुद्रश्छलान्वेषी नृपः स प्रकृतेनैव दण्डेनामात्यादिनाकोपाद्धर्माद्वा विनाश्यते॥ २७ ॥

३८८ राज्ञः प्रतिदिनं स्वकर्मावेक्षणम्।

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ॥ आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥४१९। अहनीति। प्रत्यहं तदधिकृतद्वारेण प्राक्प्रस्तुतस्वार्थकर्मणां निष्पत्तिं नृपतिर्निरूपयेत। तथा हस्त्यश्वादीनि कियत्प्रविष्टं कियन्निःसृतमिति, सुवर्णरत्नोत्पत्तिस्थानानि भाण्डागारं चावेक्षेत। व्यवहारदर्शनासक्तोऽपि राजा धर्मान्न परित्यजेदिति दर्शयितुमुक्तस्यापि पुनर्वचनम् ॥ ४१९ ॥

३८९ स्वधर्मनिरतस्य नृपतेः सुगतिः।

एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान्समापयन् ॥ व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ४२० ॥ (म० स्मृ० ८।४१९-४२०) एवमिति एवमुक्तप्रकारेणैतान्सर्वानृणादानादीन्व्यवहारांस्तत्त्वतो निर्णयेनान्तं नयन्पापं सर्वमपहाय स्वर्गादिप्राप्तिरूपामुत्कृष्टां गतिं लभते ॥ ४२० ॥ (कु० भ०)

३९० द्यूतादिकारिणां वधान्तो दण्डः।

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ॥ तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥ द्यूतमिति। द्यूतसमाह्वयौ यः कुर्याद्यो वा सभिकः कारयेत्तेषामपराधापेक्षया राजा हस्तच्छेदादि वधं कुर्यात्। यज्ञोपवीतादि द्विजचिह्नधारिणः शूद्रान्हन्यात्॥२२४॥

३६१ कितवादीनां देशनिस्सारणम् ।

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान् ॥ विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ । कितवानिति । द्यूतादिसेविनो, नर्तकगायकान, वेदविद्विषः, श्रुतिस्मृति वाह्यव्रतधारिणः, अनापदि परकर्मजीविनः, शौण्डिकान्मद्यकरान्मनुष्यान् क्षिप्रं राजा राष्ट्रान्निर्वासयेदिति । कितवप्रसङ्गेनान्येषामप्यभिधानम् ॥ २२५ ॥ तत्र हेतुमाह—एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ॥ विकर्मक्रियया नित्यं वाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥२२६॥ एत इति । एते कितवादयो गूढचौरा राष्ट्रे वसन्तो नित्यं वञ्चनात्मकक्रियया सज्जनान्पीडयन्ति ॥२२६॥ द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् । तस्माद्द्यूतं न सेवेन हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥ द्यूतमिति । नेदानीमेव परं किंतु पूर्वस्मिन्नपि कल्पे द्यूतमेतदतिशयेन वैरकरं दृष्टम् । अतः प्राज्ञः परिहासार्थमपि तन्न सेवेत ॥ २२७ ॥ प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ॥ तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥२२८॥ (म० स्मृ० ९ । २२५-२२८) । प्रच्छन्नमिति यो मनुष्यस्तद्द्यूतं गूढं प्रकटं वा कृत्वा सेवेत तस्य यथा नृपतेरिच्छा भवति तथाविधो दण्डो भवति ॥ २२८ ॥

३६२ विनयप्रशंसा ।

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ॥ विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥ तेभ्य इत्यादि । सहज प्रज्ञया अर्थ शास्त्रादिज्ञानेन च विनीतोऽप्यतिशयार्थं तेभ्यो विनयमभ्यसेत् । यस्माद्विनीतात्मा राजा न कदाचिन्नश्यति ॥ ३९ ॥

३६३ अविनयनिन्दा ।

वहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ॥ वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥ वहव इत्यादि । करितुरगकोशादिपरिच्छदयुक्ता अपि राजानो विनयरहिता नष्टाः । वहवश्च वनस्था निष्परिच्छदा अपि विनयेन राज्यं प्राप्नुवन् ॥ ४० ॥

उभयत्रैव श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—

३६४ अत्र वेनादीनां दृष्टांतमाह ।

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ॥ सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥ वेन इत्यादि । वेनो नहुषश्च राजा पिजवनस्य च पुत्र. सुदानामा सुमुखो निमिश्चाविनयादनश्यन् ॥ ४१ ॥

३६५ विनयात्पृथ्वादीनां राज्यप्राप्ति ।

प्रथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च । कुवेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिज. ॥ ४२ ॥ पृथुरिति ॥ प्रथुर्मनुश्च विनयाद्राज्यं प्रापतुः । कुवेरश्च विनयाद्धनाधिपत्यं लेभे । गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान् । राज्यलाभावसरे ब्राह्मण्यप्राप्तिर-

प्रस्तुतापि विनयोत्कर्षार्थमुक्ता । ईदृशोऽयं शास्त्रानुष्ठाननिषिद्धवर्जनरूपो विनयो यद्नेन क्षत्रियोऽपि कुले ब्राह्मण्यं लेभे ॥ ४२ ॥

३६६ विद्याग्रहणमाह ।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ॥ आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥ त्रैविद्येभ्य इति ॥ त्रिवेदीसम्पन्नेभ्यस्त्रयीं ऋग्यजुःसामलक्षणां ग्रन्थतश्चाभ्यसेत । ब्रह्मचर्यदशायामेव वेदग्रहणात्समावृत्तस्य च राज्याधिकारात् । अभ्यासार्थोऽयमुपदेशः । दण्डनीतिं चार्थशास्त्ररूपामर्थयोगक्षेमोपयोगिनीं पारम्पर्यागतत्वेन नित्यां तद्विद्भ्योऽधिगच्छेत् । तथा आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यां भूतप्रवृत्तिप्रत्युपयोगिनीं ब्रह्मविद्यां चाभ्युदयव्यसनयोर्हर्षविषादप्रशमनहेतुं शिक्षेत । कृषिवाणिज्यपशुपालनादिवार्तां तदारम्भांश्च धनोपायार्थांस्तद्भिज्ञकर्षकादिभ्यः शिक्षेत ॥ ४३ ॥

३६७ इन्द्रियनिग्रहः ।

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ॥ जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥ इन्द्रियाणामित्यादि । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां विषयासक्तिवारणे सर्वं कालं यत्नं कुर्यात् । यस्माज्जितेन्द्रियः प्रजा नियन्तुं शक्नोति ननु विषयोपभोगव्यग्रः ब्रह्मचारिधर्मेषु सर्वपुरुषोपादेयतयाभिहितोऽपीन्द्रियजयो राजधर्मेषु मुख्यत्वज्ञानार्थमनन्तरं वक्ष्यमाणव्यसननिवृत्तिहेतुत्वाच्च पुनरुक्तः ॥ ४४ ॥ दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ॥ व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥४५॥ (म० स्मृ० ७।३६–४४।) दशेत्यादि । दश कामसम्भवानि अष्टौ क्रोधजानि वक्ष्यमाणव्यसनानि यत्नतस्त्यजेत । दुरन्तानि दुःखावसानान्यादौ सुखयन्ति अन्ते दुःखानि कुर्वन्ति । यद्वा दुर्लभोऽन्तो येषां तानि । नहि व्यसनिनस्तानि निवर्तयितुं शक्यन्ते ॥ ४५ ॥ (कु० भ०) ।

३६८ लाभप्रकार ।

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ॥ एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३५१ ॥ नात्र तिरोहितमस्ति ॥ ३५१ ॥ लाभाय परराष्ट्रं गन्तव्यमित्युक्तं । लाभश्च त्रिविधः हिरण्यलाभो भूमिलाभो मित्रलाभश्चेति । तेषु मित्रलाभो ज्यायान् । ततस्तत्प्राप्त्युपाये यत्नो विधातव्यः । तत्प्राप्त्युपायश्च सत्यवचनमित्याह—हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः । अतो यतेत तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहितः ॥ ३५२ ॥ यस्मात् हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा उत्कृष्टा तस्मात्तत्प्राप्त्यै यतेत यत्नं कुर्यात् सामादिभिः । सत्यं च रक्षेत् । समाहितः सावधानः । सत्यमूलत्वान्मित्रलाभस्य ॥ ३५२ ॥ इदानीं राज्याङ्गान्याह—

३६९ राज्याङ्गानि ।

स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च ॥ मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥ (या० व० स्मृ० आ० अ० रा० प्र० १३ पृ० १०८) । महोत्साह इत्याद्युक्तलक्षणो महीपतिः स्वामी । अमात्या मन्त्रिपुरोहिताद्यः । जनो ब्राह्मणादि-

प्रजाः । दुर्गं (१) धन्वदुर्गादि । कोशः सुवर्णादिधनराशिः दण्डो हस्त्यश्वरथपत्तिलक्षणं चतुरङ्गबलम् । मित्राणि सहजकृत्रिमप्राकृतानि एताः स्वाम्याद्याः राज्यस्य प्रकृतयो मूलकारणानि । एवं राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

४०० राज्ञां सप्तप्रकृतयः ।

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ॥ सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २६४ ॥ (म० स्मृ० ६ । २६४) । स्वामीति । स्वामी राजा, अमात्यो मन्त्र्यादिः, पुरं राज्ञः कृतदुर्गनिवासनगरं, राष्ट्रं देशः, कोशो वित्तनिश्चयः, दण्डो हस्त्यश्वरथपादातं, मित्रं त्रिविधं सप्तमाध्यायोक्तमित्येताः सप्त प्रकृतयोऽङ्गानि । सप्ताङ्गमिदं राज्यमित्युच्यते ॥ २९४ ॥ स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च ॥ सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा नृपः स्मृतः ॥ ६१ ॥ (शु० नी० २ । ६१) । राज्य के सात अङ्ग हैं, राजा १, दिवान २, मित्र ३, कोश ४, प्रजा ५, दुर्ग ६, (किला) और बल (सैन्य), तिस में राजा सब का मस्तक है ॥ ६१ ॥

४०१ अभिषिक्तस्य राज्ञो धर्माः ।

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः ॥ विनीतः सत्वसंपन्नः कुलीनः सत्यवाक्शुचिः ॥३०६॥ (२) अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा ॥ धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित् ॥३१०॥ स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ॥ विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः ॥ ३११ ॥ पुरुषार्थसाधनकर्मारम्भाध्यवसाय उत्साहः महानुत्साहो यस्यासौ महोत्साहः । बहुदेयार्थदर्शी स्थूललक्षः । परकृतोपकारापकारौ न विस्मरतीति कृतज्ञः । तपोज्ञानादिवृद्धानां सेवकः । विनयेन युक्तो विनीतः । विनयशब्देनाविरुद्धः पूर्वोक्तस्नातकधर्मकलाप उच्यते—'न संशयं प्रपद्येत नाऽकस्मादप्रियं वदेत्' इत्यादिनोक्तः । सत्वसंपन्नः सपदापदोर्हर्षविषादरहितः । मातृतः पितृतश्चाभिजनवान्कुलीनः । सत्यवाक्सत्यवचनशीलः । शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः अवश्यकार्य्याणां कर्मणामारम्भे प्रारब्धानां च समापने यो न विलम्बतेऽसावदीर्घसूत्रः । अधिगतार्थाऽविस्मरणशीलः स्मृतिमान् । अक्षुद्रोऽसद्गुणद्वेषी । अपरुषः परदोषाकीर्तनः । धार्मिको वर्णाश्रमधर्मान्वितः । न विद्यते व्यसनानि यस्यासावव्यसनः । व्यसनानि चाष्टादश । यथाह मनुः (७।४७–४८) (४) मृगयाऽक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ (५) पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥' इति । तत्र च सप्त

---

(१) विवृतमेतत्सविस्तरं ३२१ तमपथटिप्पन्याम् ।

(२) अदीर्घसूत्री ग (३) सत्यवादन ग (४) आखेटकाख्यो मृगवधो मृगया, अक्षादि क्रीडा, दिवानिद्रा, परदोषकथनं, स्त्रीसभोगः, मद्यपानजनितो मदः, नृत्यगीतवादित्राणि त्रीणि, वृथाभ्रमणं, इति दश (५) पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणं साहसं साधोर्दण्डनिमद्रः,

कष्टतमानि। यथाह-मनुः (७।५०–५१) 'पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्। एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजेगणे ॥ दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे। क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥' इति। प्राज्ञो गम्भीरार्थावधारणक्षमः। शूरो निर्भयः। रहस्यवित् गोपनीयार्थगोपनचतुरः। स्वरन्ध्रगोप्ता स्वस्य सप्तसु राज्याङ्गेषु ‹यत्परप्रवेशद्वारशैथिल्यं तत्स्वरन्ध्रं तस्य गोप्ता प्रच्छादयिता। आन्वीक्षिक्यामात्मविद्यायां, दण्डनीत्यामर्थयोग क्षेमोपयोगिन्यां, वार्तायां कृषिवाणिज्यपशुपालनरूपायां धनोपचयहेतुभूतायां, त्रय्यां (१) ऋग्यजुः सामाख्यायां च विनीतस्तत्तदभिज्ञैः प्रावीण्यं नीतः। यथाह मनुः (७।४३) 'त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥' इति। नराधिपो राज्याभिषिक्तः स्यादिति सर्वत्र संबन्धः ॥३०९॥३१०॥३११॥

४०२ राजमन्त्रिणः राजपुरोहितश्च

स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलान्स्थिराञ्छुचीन् ॥
तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ (२) ततः स्वयम् ॥ ३१२ ॥

महोत्साहादिगुणैर्युक्तो राजा मन्त्रिणः कुर्वीत। कथंभूतान्। प्राज्ञान्हिताहितविवेककुशलान्मौलान्स्ववंशपरम्परायातान्। स्थिरान्महत्यपि (३) हर्षविषादस्थाने विकाररहितान्। शुचीन्धर्मार्थकामभयोपधाशुद्धान्। तेच सप्ताष्टौ वा कार्याः। यथाह मनुः (७।५४) (४) मौलाञ्शास्त्रविदः (५) 'शूराल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्। सचिवान्सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान् ॥' इति एवं मन्त्रिणः पूर्वं कृत्वा तैः सार्धं राज्यं सन्धिविग्रहादिलक्षणं कार्यं चिन्तयेत् समस्तैर्व्यस्तैश्च। अनन्तरं तेषामभिप्राय ज्ञात्वा सकलशास्त्रार्थविचारकुशलेन ब्राह्मणेन पुरोहितेन सह कार्यं विचिन्त्य ततः स्वयं बुद्ध्या कार्यं चिन्तयेत् ॥३१२॥ कीदृशं पुरोहितं कुर्यादित्याह—

४०३ राजपुरोहितलक्षणम्

पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम् ॥ दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा ॥३१३ पुरोहितं च सर्वेषु दृष्टादृष्टार्थेषु (६) कर्मसु पुरतो हितं दानमानसत्कारैरात्मनवद्धं कुर्यात्। कथंभूतम्। दैवज्ञं ग्रहोत्पाततत्त्वमनार्वेदितारम्। उदितोदितं विद्याभिजनानुष्ठानादिभिरुदितैः शास्त्रोक्तैरुदितं समृद्धम्। दण्डनीत्यामर्थशास्त्रे कुशलम्। अथर्वाङ्गिरसे च शान्त्यादिकर्मणि ॥ ३१३ ॥

द्रोहश्छद्मवधः, ईर्ष्यान्यगुणासहिष्णुता, असूया परगुणेषुदोषाविष्करणं, अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देयानामदानं च, वाक्पारुष्यमाक्रोशादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि इत्यष्टौ (१) सामसप्यां ख।

(२) ततः परम् ख (३) हर्षविकारस्थाने विषादरहितान् (४) मौलान्पितृपितामहक्रमेणसेवकान् (५) लब्धलक्षान् लक्ष्यादप्रच्युतशरादीन्।

(६) कर्मसु पुरोनिहितं क।

४०४ यज्ञादिकरणे ऋत्विज ।

श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोर्वृणुयादेव चर्त्विजः । यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत विविधवद्भूरिदक्षिणान् ॥ ३१४ ॥ श्रौताग्निहोत्रादि स्मार्तोपासनादिक्रियानुष्ठानसिद्ध्यर्थं ऋत्विजो वृणुयात् । यज्ञांश्च राजसूयादीन्विविधवद्यथाविधानं भूरिदक्षिणान्बहुदक्षिणानेव कुर्यात् ॥ ३१४ ॥

४०५ ब्राह्मणेभ्यो धनदाने फलविशेषः

भोगांश्च दद्याद्विप्रेभ्यो वसूनि विविधानि च ॥ अक्षयोऽयं निधी राज्ञां यद्विप्रेषूपपादितम् ॥ ३१५ ॥ किंच । ब्राह्मणेभ्यो भोगान् सुखानि तत्साधनदानद्वारेण दद्यात् । वसूनि च सुवर्णरूप्यभूम्यादीनि विविधानि नानाप्रकाराणि । यस्मादेव राज्ञामक्षयो निधिः शेवधिर्यद्ब्राह्मणेभ्यो दीयते । साधारणधर्मत्वेन दानप्राप्तौ सत्यां राज्ञां दानप्राधान्यप्रतिपादनार्थं पुनर्वचनम् ॥ ३१५ ॥ अस्कन्नमव्यथं चैव प्रायश्चित्तैरदूषितम् ॥ अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते ॥ ३१६ ॥ किंच अग्ने सकाशादग्निसाध्याद्भूरिदक्षिणाद्राजसूयादेरपि विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते । एतदस्कन्नं क्षरणरहितं (१) अव्यथं पशुहिंसारहितं प्रायश्चित्तैरदूषितं (२) प्रायश्चित्तरहितम् ॥ २१६ ॥ वसूनि विप्रेभ्यो दद्यादित्युक्तं, तथा परिपाल्य दद्यादित्याह—

४०६ धनरक्षणप्रकारः

अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत् ॥ पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत ॥ ३१७ ॥ अलब्धलाभाय धर्मशास्त्रानुसारेण यतेत । यत्नेन लब्धं तत्तत्परिपाल्येन स्वयमवेक्षया रक्षेत् । पालितं तत्परतया रक्षितं नीत्या (३) वणिक्पथादिक्रया वृद्धिं नयेत । वृद्धं च पात्रेषु त्रिविधेषु धर्मार्थकामपात्रेषु निक्षिपेद्दद्यात् ॥ २१७ ॥

४०७ दुर्गप्रशंसा ।

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ॥ तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ४३ ॥ यथेत्यादि यथैतान्दुर्गवासिनो मृगादीन्व्याधादयः शत्रवो न हिंसन्ति एवं दुर्गाश्रितं राजानं न शत्रवः ॥ ७३ ॥ एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः । शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥ (म० स्मृ० ७ । ७३ – ७४) । एक इति । यस्मादेको धानुष्कः प्राकारस्थः शत्रूणां शतं योधयति । प्राकारस्थं धानुष्कशतं च शत्रूणां दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं कर्तुमुपदिश्यते ॥ ७४ । (कु० भ०)

४०८ दुर्गमस्त्रादिभिः पूरयेत ।

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः । ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोद-

---

(१) अव्यथ । ख (२) वाणिज्यादिक्रिया ।

(३) प्रायश्चित्तायसरहितं ग । वाणिज्यादिक्रिया ग ।

केन च ॥ ७५ ॥ तांदित्यादि ॥ तद्दुर्गं अन्नाद्यायुधसुवर्णादिधनधान्यकाष्ठितुरगादिवाहनब्राह्मण-भक्ष्यादिशिल्पियन्त्रघासोदकसमृद्धं कुर्यात् । ७५ ॥

४०९ ऋत्विग्पुरोहितादयः ।

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ॥ तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥ पुरोहितमिति ॥ पुरोहितं चाथर्वणविधिना कुर्वीत । ऋत्विजश्च कर्तुं वृणुयात् ते चास्य राज्ञो गृह्योक्तानि त्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः । ७८ ॥ यजेत राजा कर्माणि क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ॥ धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥ यजेतेति ॥ राजा नानाप्रकारान्क्रतुदक्षिणानश्वमेधादिकान्कुर्यात् । ब्राह्मणेभ्यश्च स्त्रीगृहशय्यादीन्भोगान्सुवर्णवस्त्रादीनि धनानि दद्यात् ॥ ७९ ॥

४१० करादिग्रहणम् ।

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ॥ स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥ सांवत्सरिकमिति ॥ राजा सर्वतरमाप्तैर्वर्षप्राप्तं धान्यादिभागमानायेत, लोके च करादिग्रहणे शास्त्रनिष्ठः स्यात् स्वदेशवासिषु नरेषु पितृवत्स्नेहादिना वर्तेत ॥ ८० ॥

४११ अध्यक्षाः ।

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ॥ तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥ अध्यक्षानिति । तत्रतत्र हस्त्यश्वरथपदात्यर्थादिस्थानेष्वध्यक्षानवेक्षितृन्विविधान्पृथक्पृथक् विपश्चितः कर्मकुशलान्कुर्यात् । तेऽस्य राज्ञस्तेषु हस्त्यश्वादिस्थानेषु मनुष्याणां कुर्वतां सर्वाणि कार्याणि सम्यक्कार्यार्थमवेक्षेरन् ॥ ८१ ॥

४१२ ब्राह्मणान् वृत्त्यादिनां तोषयेत् ।

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ॥ नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥८२॥ आवृत्तानामिति । गुरुकुलान्निवृत्तानामधीतवेदानां ब्राह्मणानां गार्हस्थ्यार्थिनां नियमतो धनधान्येन पूजां कुर्यात् । यस्माद्योऽयं ब्राह्मो ब्राह्मणेषु स्थापितधनधान्यादिनिधिरिव निधिरक्षयो ब्रह्मफलत्वादविनाशी राज्ञां शास्त्रेणोपदिश्यते ॥ ८२ ॥

४१३ वृत्तिदानप्रशंसा ।

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ॥ तस्माद्राजा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥ अत एव न तमिति ॥ तं ब्राह्मणस्थापितनिधिं न चौरा नापि शत्रवो हरन्ति, अन्यनिधिवद्भूम्यादिस्थापितः कालवशान्न नश्यति । स्थानभ्रान्त्या वाऽदर्शनमुपैति । तस्माद्योऽनन्तफलो निधिरिव निधिर्धनौघः स राज्ञा ब्राह्मणेषु निधातव्यः । तेभ्यो देय इत्यर्थः ॥ ८३ ॥ न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ॥ वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ म० ७ । ८४ ॥ नेत्यादि ॥ अग्नौ यद्धविर्हूयते तत्कदाचित्स्कन्दते स्खलद्ध. पतति, कदाचिद्व्यथते शुष्यति, कदाचिद्दाहादिना नश्यति, ब्राह्मणस्य मुखे यद्धुतं

'पाप्मास्यो हिद्विजः स्मृतः' इति ब्राह्मणहस्तद्त्तमित्यर्थः। तस्य नोक्ता दोषाः। तस्मादग्निहोत्रादिभ्यः श्रेष्ठं ब्राह्मणाय दानमित्यर्थः॥ ८४॥

४१४ सभा

सभाया यः। ४। ४। १०५॥ सभ्यः॥ (सि० कौ० पृ० २१२)।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ १॥ (अ० सं० ७। १३। १)।

सभा विदुषां समाजः। समितिः संगच्छन्ते युद्धाय अत्रेति समितिः। संग्रामः। सांग्रामीणजनसभेत्यर्थः। यद्वा संग्राम नामानि यज्ञनामानि भवन्तीति यास्केनोक्तत्वात् समितिशब्देन यज्ञ उच्यते। X परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ X। ते उभे अपि मा मां वादिनम् अवताम् रक्षताम्। कीदृश्यौ। प्रजापतेः सर्वजगत्स्रष्टुर्दुहितरौ पुत्र्यौ। चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा। सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् [या० स्मृ० १।९] इति " यद् आर्याः प्रशंसन्ति स धर्मः " इति [च] स्मृतेर्विद्वत्संघरूप सभायाः तदुक्तेश्च सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूपत्वात् प्रजापतिपुत्रीत्वव्यपदेशः। ते च सभे संविदाने अस्मद्रक्षणविषयम् ऐकमत्यं प्राप्ते। X विदेः संपूर्वात् "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् X। किं च येन वादिना संगच्छे वक्तुं संगतो भवानि। X पूर्ववद् आत्मनेपदिनो गमेर्लेटिरूपम् X। स विद्वान् मा मां संगतम् उप शिक्षात् उपेत्य शिक्षयतु। समीचीनं वाचयत्वित्यर्थः। X शिक्ष विद्योपादाने। ण्यन्तात् लेटि आडागमः यद्वा शिक्षात् मां वक्तुं शक्तं सन्तम् इच्छतु। X शके सन्नन्तात् पञ्चमलकारे रूपम् X अयम् अर्थः। येन सह अहं विवदे स स्वयं मदुक्तवचनविघटनपटूनि वाक्यानि अभाषमाणः प्रत्युत मामेव स्ववचनतिरस्कारकवाक्यवादिनं करोतिति। अपि च हे पितरः पालकाः मदुक्तं वाक्यं साधु साध्विति अनुमोदमानाः पितृभूता वा हे सभासदो जनाः संगतेषु मया सह वक्तुं मिलितेषु वादिषु चारु न्यायोपेतं सदुत्तरं वदामि। यथा सम्यग् वदामि तथा अनुगृहीतेत्यर्थः॥

सर्वे नंदंति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरंहितोभवति वाजिनाय॥१०॥

(ऋ० सं० ८। २। २४)।

सर्वे। नंदंति। यशसा। आऽगतेन। सभाऽसहेन। सख्या सखायः। किल्बिष। ऽस्पृत्। पितुऽसनिः। हि। एषा। अरं। हितः। भवंति। वाजिनाय॥ १०॥

सखायः समानख्यानाः समानज्ञाना सर्वे सभ्यामनुष्याः सभासहेन सभां सोढुं शक्नुवता सख्यर्त्विजां प्रतिभूतेन यद्वा प्रत्यागतेन यशसा यशस्विना सोमेन हेतुना नंदति। हृष्टा भवंति। स हि स एव सोम एषां जनानां किल्बिषस्पृत्। यः स्वस्मादन्यः पुरुष श्रेष्ठतामश्नुते स किल्बिषं भवति वाध्यत्वेन। यथा पापं

सदाचारैर्वाधितव्यं भवति तद्वत् पापरूपस्य शत्रोर्बाधकः। यद्वा यज्ञे साध्वनु-प्रवचनाकरणेन यत्किल्बिषं येषां संजायते तद्यो बाधते स किल्बिषस्पृत्। तथा त्वं पितुषणि। पितुरित्यन्ननाम दक्षिणा वा : तमनेन सोमेन सर्वोऽपि यजमानः संभजत इति तादृशः। तेषामन्नदक्षिणादातेत्यर्थः। किंच हितः पात्रेषु निहितः सोमो वाजि-नाय। इन्द्रियं वीर्यं वाजिनं। तेषां वीर्याय तत्कर्तुमरमलं पर्याप्तः समर्थो भवति। सर्वे नदंति यशसागतेनेत्यन्वाह यशो वै सोमो राजेत्यादिकमिन्द्रियं व वीर्यं वाजि-नमाजरसं हास्मै वाजिन नापच्छिद्यत इत्यतं ब्राह्मणमत्रानुसंधेय। ऐ० ब्रा० १।१३।

स॒भ्यः स॒भां मे॑ पाहि॒ ये च॒ स॒भ्याः स॑भा॒सदः॑ ॥ ५ ॥

(अ० सं० १९ । ५५ । ५) ।

स॒भ्यः । स॒भाम् । मे॒ पा॒हि॒ । ये च॒ । स॒भ्याः । स॒भा॒ऽसदः॑ ॥ ५ ॥

सभ्यः सभार्हस्त्वम्। X "सभाया [यः]" इति यत्प्रत्ययः X। मे मदीयां सभाम् पुत्रमित्रपश्वादि संघं पाहि रक्ष। अग्निरेव सभ्योऽग्निः। ये च सभासदः सभायां समाजे सीदन्तस्ते सभ्याः सभार्हा सन्ति ते च अस्मदीयं प्रजागणं रक्षन्तु इति। महाकुलकुलीनार्यसभ्य-सज्जन साधव.। अ० को० का० २ म० व० ७। महाकुल., कुलीन., आर्यः, सभ्यः, सज्जनः, साधुः इति ६ सज्जनस्य। समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः। आस्थानी क्लीवमास्थन स्त्रीनपुंसकयोः सद.॥ (अ० को० का० २ ब्र० व० ८)। समज्या, परिषत्, गोष्ठी, सभा, समितिः, संसत्, आस्थानी, आस्थानम्. सदः, इति ९ सभायाः। सभासदः सभास्ताराः सभ्याः सामाजिकाश्च। (अ० को० का० २ ब्र० व० ८)। सभासदः, सभास्ताराः, सभ्याः, सामाजिकाः, इति ४ सभ्यानाम्। परिषदो ण्यः ४। ४। १०१। परिषद्यः। परिषद् इति योगविभागोऽपि। पारिषदः। (सि० कौ० त० छ्य० प्र० पृ० २१२)। विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्य प्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥ १६ ॥ विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति। अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात। अविज्ञातं चाज्ञा-नम् ॥ १७ ॥ (न्या० द० ५। २। १६। १७) विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभि-हितस्य यदविज्ञातं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति। अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति।

४१५ परिषत् और सभासद्

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा। सा ब्रूते यं धर्मः स्यात् [या० स्मृ० १।९] "यद् आर्याः प्रशंसति स धर्मं" इति [च] (अ० सं० २०। २१। ९ के मन्त्र में पृ० ३३१ "आर्यम् वर्णमावत्" आर्यम् उत्तमं वर्णं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यात्मकं यजनादि कर्माधिकारवन्तं प्रावत् प्रकर्षेण रक्षितः। चतुर्विद्यो विकल्पी च अङ्गविद्ध-र्मपाठकः॥ आश्रमस्थास्त्रयोमुख्याः परिषात्स्याद्दशवरा॥ (व० स्मृ० अ० ३)। ब्रह्मचारी और जो चारों विद्याओं में जो एक भी विद्या को जानता हो, और छः अंग जानता

हो धर्मशास्त्र को जो पढ़ावे और आश्रमों में स्थित तीन मुख्य २ पुरुष तथा कम से कम दश से सभा होती है। चातुर्वैद्योऽविकल्पी च अङ्गविद्धर्मपाठकः॥ त्रयश्चाश्रमिणो मुख्याः पर्षदेषा दशावरा ॥ ३५॥ चारों वेदों का जानने वाला, निश्चित ज्ञानयुक्त, वेद के अङ्गों का पारदर्शी और धर्मशास्त्र पढ़ाने वाला इकला ही श्रेष्ठ परिषद् हो सकता है, प्रधान आश्रमी के दश होने पर भी मध्यम ही परिषद् होती है ॥ ३५॥ वेदशास्त्राण्यधीते यः शास्त्रार्थं च निबोधयेत् ॥ तदसौ वेदवित्प्रोक्तो वचनं तस्य पावनम्॥१३६॥ (अ० सं० श्लो० १३६)। जो वेद शास्त्रों को पढ़ता है और उसके अर्थ को जानता है वह वेद के समान कहा गया है, उसका वचन पवित्र करने वाला है ॥ १३९॥ एकोपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः ॥ स ज्ञेयः परमो धर्मो नाज्ञानामयुतायुतैः॥ १४०॥ (अ० स्मृ०)। एक भी वेद का जाननेवाला जिस धर्म की व्यवस्था देता है वह ब्राह्मण सब से उत्तम है उसे ही परम धर्म जानना चाहिये अज्ञानी हजारों की व्यवस्था नहीं होनी चाहिये॥१२०॥ (पा० स्मृ० अ० ८)। धर्मशास्त्ररथारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः॥ क्रीडार्थमपि यद्ब्रूयुः स धर्मः परमः स्मृतः॥ ३४॥ (पा० स्मृ० अ० ८) जो ब्राह्मण धर्मशास्त्र रूपी रथ पर चढ़ कर वेद रूपी खड्ग को धारण करते हैं वे हँसी से भी जो कुछ कह दे उसको ही परम धर्म जानना ॥ ३४॥ चत्वारोपि त्रयो वापि यद् ब्रूयुर्वेदपारगाः॥ स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः॥ (व० स्मृ० अ० ३)। वेद में पार गये हुए चार हों वा तीन भी जिस धर्म को बोले उसे धर्म्म जानना चाहिये, दूसरे सहस्रों भी बोलें वह धर्म नहीं होता॥ न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ॥ नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥ ५६॥ (वि० नी०) न वह सभा है, जहाँ वृद्ध (विद्वान्) पुरुष नहीं, न वे वृद्ध पुरुष हैं, जो धर्म के अनुसार नहीं बोलते, वह धर्म नहीं, जहाँ सत्य नहीं, न वह सत्य है, जो छल कपट से भरा हुआ है ॥ ५९॥ यश्च नो ब्राह्मणान्हंन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान्द्विषेत् ॥ न नः स समितिं गच्छेद्यश्च नोनिर्वपेत्कृषिम्॥ ३२॥ (वि० नी०) पृ० ८४। हममें से जो ब्राह्मण का वध करने वाला, और और ब्राह्मणों से द्वेष करने वाला और खेती का उजाड़ा हो वह हमारी सभा में न आवै॥ ३३॥

४१६ मूर्खब्राह्मणनिन्दा

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ॥ यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७॥ यथा काष्ठमय इति ॥ यथा काष्ठघटितो हस्ती, यथा चर्मनिर्मितो मृगः यश्च विप्रो नाधीते त्रय एते नाममात्र दधति ननु हस्त्यादिकार्यं शत्रुवधादिक कर्तुं क्षमन्ते ॥ १५७॥ यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला॥ यथा चाज्ञेऽफलं दान तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥ १५८॥ (म० स्मृ० २। १५७–१५८) यथा षण्ड इति॥ यथा नपुंसकः स्त्रीषु निष्फलः, यथा च गौर्गवी गर्भाधाने निष्फला, यथा, चाज्ञे दानमफलं, तथा ब्राह्मणोऽनधीयानो निष्फलः श्रेतस्मार्तकर्मानर्हतया तत्फलरहित॥ १५८॥ (कु० भ०) सावित्र्याश्चापि गायत्र्या सन्ध्योपास्त्य-

ग्निकाययोः । अज्ञानात्कृषि कर्त्तारो ब्राह्मण नामधारकः ॥ ११ ॥ अत ऊर्ध्वंतुये विप्राः केवल नामधारकाः ॥ परिषत्त्वं न तेष्वस्ति सहस्रगुणितेष्वपि ॥ २३ ॥ यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ॥ ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ २४ ॥ ग्रामस्थानं यथा शून्यं यथा कूपस्तु निर्जलः ॥ यथा हुतमनग्नौ च अमन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ २५ ॥ यथा षढोऽफल. स्त्रीषु यथा गौरुपराऽफला ॥ यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ २६ ॥ (पा० स्मृ० अ० ८ । २३-२६) । इनके अतिरिक्त जो केवल नाम मात्र के ब्राह्मण हैं वह सहस्रों एकत्रित होने पर भी परिषद् नहीं हो सकती ॥ २३ ॥ जिस भांति काठ का हाथी, जैसा चर्म का मृग, वेद को न जानने वाला ब्राह्मण भी उसी प्रकार है, यह तीनों केवल नाम मात्र के धारण करने वाले हैं ॥ २४ ॥ जिस भांति बिना मन्त्रों का जानने वाला ब्राह्मण भी निष्फल है ॥ २५ ॥ जिस भांति नपुंसक का स्त्री के साथ संभोग निष्फल हो जाता है, जिस भांति ऊपर भूमि निष्फल है, जिस भांति मूर्ख को दान देना निष्फल है उसी भाति वेदमन्त्रों को न जानने वाला ब्राह्मण निषिद्ध है ॥२५॥ यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः । यश्चविप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारका ॥ ३७ ॥ ग्रामस्थानं यथा शून्यं यथा कूपश्च निर्जलः यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ (व्या० स्मृ० अ० ४ । ३८) । यश्च काष्ठमयो हस्ती यश्च चर्ममयो मृगः । यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ (व० स्मृ० अ० ३) । अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ॥ सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ १२ ॥ पा० स्मृ० अ० ८ ऐसे व्रत मन्त्र से रहित और जाति के नाम मात्र से जीविका करने वाले इकट्ठे हुए सहस्रों ब्राह्मणों की परिषद् नहीं कहा जा सकता ॥ १२ ॥ अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ॥ सहस्रशः समेतानां पर्षत्वं नैव विद्यते ॥ (व० स्मृ० अ० ३) । व्रत और मन्त्रों से हीन केवल जाति मात्र होने से ही जीविका करने वाले ब्राह्मण चाहे हजारों इकट्ठे क्यों न हों तो भी "परिषत्" नहीं हो सकती ॥ यद्वदंति तमोमूढा मूर्खा धर्ममतद्विदः ॥ यत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄनधिगच्छति ॥१३॥ अज्ञानरूपी अन्धकार से ढके, मूढ, धर्मशास्त्र को न जाननेवाले मूर्ख ब्राह्मण यदि प्रायश्चित्त की व्यवस्था कर दे तो वह पापी पाप से छूट तो जाता है, परन्तु वह पाप सौगुणा होकर उन व्यवस्था देने वालों के शरीर में प्रवेश करता है ॥ १३ ॥ अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं ददाति यः ॥ प्रायश्चित्ती भवेत्पूतः किल्बिषं पर्षदि व्रजेत् ॥ १४ ॥ जो बिना धर्म शास्त्र के जाने हुए प्रायश्चित्तकी व्यवस्था देते हैं उस व्यवस्था के अनुसार पापी पुरुष तो शुद्ध हो जाता है परन्तु वह पाप व्यवस्था देनेवाली परिषद् के शरीर मे प्रवेश करता है ॥ १४ ॥ (पा० सं० । ११ । अ० ८) । प्रायश्चित्तं प्रयच्छंति ये द्विजा नामधारकाः ॥ ते द्विजाः पापकर्माणः समेता नरकं ययुः ॥ २८ ॥ (पा० स्मृ० ८ । १३-१४-२८) । जो नाम मात्र के ब्राह्मण प्रायश्चित्त की व्यवस्था देते हैं वे पापी हैं और उनको नरक की प्राप्ति होती है ॥ २८ ॥ यद्वदन्त्यन्यथा भूत्वा मूर्खा धर्ममतद्विदः ॥ तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄन्नुगच्छति ॥ (व० स्मृ० अ० ३) । मूर्ख धर्म को न जानने वाले बोलते हैं वह पाप सौ गुणा होकर वक्ताओं की मण्डली पर जाता है ।

४१७ साक्षिप्रश्नप्रकारः ।

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ॥ प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७६ ॥ सभान्तरित्यादि । सभामध्ये साक्षिण समागतानर्थिप्रत्य-र्थिसमक्षं राजाधिकृतो ब्राह्मणः प्रियोक्ति रचयन्वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रच्छेत् ॥ ७९ ॥ यद्द्वयो-रनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिञ्चेष्टितं मिथः ॥ तद्‌ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥ यद्द्वयोरिति ॥ यद्द्वयोरर्थिप्रत्यार्थिनोरनयोः परस्परमस्मिन्कार्ये चेष्टि जानीथ तत्सर्वं सत्येन कथयत । यतो युष्माकमत्र साक्षित्वम् ॥ ८० ॥

४१८ साक्षिणः सत्यकथने फलम् ।

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ॥ इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥ (म० स्मृ० ८ । ८१) । सत्यमिति ॥ साक्षी साक्ष्ये कर्मणि सत्यं वदन्सन्नुत्कृष्टान्ब्रह्मलोकादीन्प्राप्नोति पुष्कलान् इह लोकेषु चात्युत्कृष्टां ख्याति लभते । यस्मादेषा सत्यात्मिका वाक् चतुर्मुखेन पूजिता ॥ ८१ ॥ कश्यप उवाच । जानन्नविब्रुवन्प्रश्न कामात्क्रोधाद्भयात्तथा ॥ सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ७५ ॥ साक्षी वा विब्रुवन्साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन् ॥ सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ७६ । तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एक. प्रमुच्यते ॥ तस्मात्सत्य तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥ ७७ ॥ (म० भा० स० प० द्यू० ए० अ० ७३) ।

४१९ बुद्धिः

प्राक्कर्मफलभोगार्हाबुद्धिः संजायते नृणां ॥ पापकर्मणि पुण्ये वा कर्तुं शक्तो न चान्यथा ॥ ४५ ॥ बुद्धिरुत्पद्यते तादृग्यादृक्कर्मफलोदयः ॥ सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥ ४६ ॥ (शु० नी० अ० । १ । ४६) । वैशम्पायन उवाच । असंभवे हेममयस्य जन्तोस्तथापि रामो लुलुभेमृगाय ॥ प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥ (म० भा० सभा० प० अ० ७६) । न निर्मिताकेन न दृष्ट-पूर्वा न श्रूयते हेममयीकुरंगी ॥ तथापि तृष्णारघुनंदनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धि ॥ ५ ॥ (चा० नी० द० अ० १६ । ५) । सोने की मृगी न पहिले किसी ने रची, न देखी और न किसी को सुन पड़ती है तो भी रघुनन्दन को तृष्णा उस पर हुई, विनाश के समय विपरीत बुद्धि हो जाती है ॥ ५ ॥ पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्, रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासम्भवो लक्षितः ॥ अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं, प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥४॥ (पं० तं० मि० सं० मा० तं० २ पृ० २०४) । रावण ने दूसरे की स्त्री के हरने का दोष क्यों न जाना, रामचन्द्र ने सुवर्ण के हरिण की असंभवता क्यों न जानी, युधिष्ठिर ने अक्षों के खेलने मे एक साथ अनर्थ क्यों न जाना प्रायः विपत्ति आने से मूढ़मन हो जाने वालों की बुद्धिक्षीण हो जाती है ॥ ४ ॥ यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः । स एव निधनं

याति यथा मन्थर कौलिकः ॥ ७१ ॥ (पं० तं० पं० तं० क० ८) जिसकी स्वयं बुद्धि नहीं और मित्र का कहा हुआ नहीं मानता है वह मन्थर कौलिक की समान निधन को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥ व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ॥ स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥ ६ ॥ सब प्रकार के व्यसन प्राप्त होने में जिसकी बुद्धि हीन नहीं होती है उसके प्रभाव से वह निसन्देह उसके पार हो जाता है ॥६॥ सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥ उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥७॥ सम्पत्ति और विपत्ति में महात्मा एक रूप रहते हैं सूर्य उदय और अस्त में भी लाल रहता है ॥ ७ ॥ प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तोश्चिकित्सिकाः सन्ति न चौषधानि । न होममन्त्रा न च मङ्गलानि नाथर्वणा नाप्यगदा सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥ (वि० नी० पृ० ११०) बुद्धिरूप वाण से मारे हुये प्राणी की न औषध है, न वैद्य न होम के मन्त्र शान्ति पाठादि न अथर्व में अगद (तन्त्र) सिद्ध हो सकते हैं । (अर्थात और क्या चर्चा है अथर्व वेद में लिखे रोगनिरणोपाय भी काम नहीं दे सकते । ।

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्यया बुद्धिरुत्तमा ॥ बुद्धिहीना विनश्यन्ति, यथा ते सिंह कारकाः ॥ ३६ ॥ (पं० तं० पं० क० ४ । ३६) बुद्धि अच्छी है विद्या नहीं, विद्या से बुद्धि श्रेष्ठ है । बुद्धिहीन पुरुष सिंह बनानेवालों की समान नष्ट होते हैं ॥ ३९ ॥

बुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नास्त्यगम्यं किंचन ॥ बुद्धया यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणयः ॥४८॥ बुद्धिमानों की बुद्धि के सन्मुख संसार में कोई अगम्य नहीं होता बुद्धि से ही चाणक्य ने खड्गपाणि नन्दों का वध किया ॥ ४८ ॥ (पं० तं० प० तं० क० ६)

न यत्रास्ति गतिर्वायो रश्मीनाञ्च विवस्वतः ॥ तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमता सदा ॥ ४६ ॥ जहां वायु और सूर्य की किरणों की गति नहीं है वहां भी बुद्धिमानों की बुद्धि सदा प्रवेश कर जाती हैं ॥ ४९ ॥

सन्नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरं रास्व रायो विमोचन ।
त्वे तन्नः सुवेदमुस्रियंवसु यं त्वं हिनोषि मर्त्यम् ॥ १ ॥

(ऋ० सं० ५।७।३३)

सम् । नः । शिशीहि । भुरिजोःऽइव । क्षुरम् । रास्व । रायः । विऽमोचन । त्वे । इति । तत् । नः । सुऽवेदम् । उस्रियम् । वसु । यम् । त्वम् । हिनोषि । मर्त्यम् ॥

हे इन्द्र पूषन्वानोस्मान् संशिशीहि सम्यक् निश्चय तीक्ष्णबुद्धीन्कुरु । भुरिजोरिव बाहुनामैतत् नापितस्य बाहोरवास्थितं क्षुरमिव अपिच हे विमोचन पापाद्विमोचयितः रायो धनानि रास्व अस्मभ्यं देहि ददाने । तत्कस्य हेतोः त्वे त्वयि खलु उस्रियं उस्रागात्रः तत्संबद्धं तद्वसु निवासक धनं योस्माक सुवेद सुलभं नान्यासु देवेषु यं धनसमूहं मर्त्यं मनुष्यं स्तोतारं प्रति त्वं हिनोषि प्रेरयसि तद्वसु त्वयीत्यन्वयः । यतएवं तस्माद्रास्वेति योज्यम् ॥ १६ ॥ (सा०आ०भा०) इस मन्त्र के भाष्य में आचार्य ने बतलाया है कि—हे इन्द्र वा पोषण करने वाले हमारी भले

प्रकार निश्चय तीव्र बुद्धियों को कर, जिस प्रकार नापित के बाहुओं के बीच में क्षुर होता है। अर्थात् क्षुरे की तीव्र धार के समान हमारी बुद्धियों को तीव्र कर। शेष अर्थ भाष्य में देखें।

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः॥ न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव॥ १॥ (महाभारत सभापर्व अ० ५५। १)। बहुत शास्त्रों को पढ़ा हुआ भी शास्त्र के अर्थ को नहीं जानता और जिसकी निजकी बुद्धि नहीं वह इसी प्रकार है कि जिस प्रकार सूप (दाल) मे करछी से छोक देने पर भी करछी उस सूप के रस को नहीं जानती। इससे स्पष्ट है कि क्षुर देवता के धारण करने से बुद्धिका बढ़ाना नायियों के हाथ में है नायी के अच्छे क्षुरे से, पीड़ा न देने से बुद्धि की वृद्धि होगी और खराब मोथरे पीड़ा देने वाले क्षुरे से बुद्धि घटेगी। जितने भी कार्य है उत्तम बुद्धि से ही उत्तम हो सकते हैं। बुद्धि के सिवाय पापो को भी दूर करना नायी के क्षुरे के ही आधीन है क्योंकि मनुष्य जो भी पाप करता है वे सब बालों मे आकर ठहरते है जैसा कि लिखा है।

यत्किंचित्क्रियते पाप सर्वंकेशेषु तिष्ठति। सर्वान्केशान्समुद्धृत्य च्छेदयेदंगुलिद्वयम्॥ ५४॥ (पाराशर स्मृति अ० ९। ५५)।

पापोपशमनं केशनखरोमार्जनं। हर्षलाघव सौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्॥ (सुश्रुत चिकित्सा स्थान अ० २४ सू० ७२) इस लिये सब कुछ ही क्षुरे की महिमा शास्त्रों में गायी गयी है परन्तु अविद्वान होने से लोग प्रतिष्ठा नहीं करते इस लिये वेद शास्त्रों का ज्ञाता बनावें जब ही उन्नति हो सक्ती है अन्यथा नहीं! नहीं!!

४२० बल

बलमसि बलं मयि धेहि॥ य० सं० १९। ९॥

बलं कस्माद्बल भरं भवति बिभर्तेः॥ ८॥ आह-"बलं कस्मात्"? उच्यते-तद्धि "बलं भरभवति" भ्रियते (भू० उ०) हि स. यो (१) बलिष्टो भवति "बिभर्तेः" वा (जु० उ०) स ह्यन्येषां भर्ता भवति॥ ३। ९। ८॥ (नि० अ० ३ खं० ९ ध० ना० पृ० १९६)। अबलस्य कुत कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम्॥ अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत्कुतः॥ ४॥ उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणं तथा॥ तस्मात्कोशं बलं मित्रमथ राजा विवर्धयेत्॥ ५। (म० भा० शां० यं० अ० १३२)।

४२१ पांच प्रकारका बल।

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे॥ यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते॥ ५२॥ अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते॥ तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः॥ ५३॥ यत्वस्य सहजं राजन्! पितृपैतामहं बलम्॥ अभिजातबल नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम्॥ ५४॥ येन त्वेतानि सर्वाणि सङ्गृहीतानि भारत। यद्बलानां बलं श्रेष्ठ तत्प्रज्ञाबलमुच्यते॥ ५५॥ (वि० नी० पृ० १०८-१०९) मुझ से सुनिये कि मनुष्यों का बल पाँच प्रकार का है। १—जो बाहु का बल

(१) 'ऽबलिष्ठो'॥

है वह नीच बल है ॥ ५२ ॥-सलाह अच्छी देने वालों का लाभ द्वितीय बल कहाता है। ३—तृतीय धन का लाभ बुद्धिमानों ने कहा है।. ५३ ॥ हे राजन्! और जो इसका साथ जन्मावल पिता पितामह से चला आता है वह "अभिजात" नाम का ४—चतुर्थ बल माना है ॥ ५४ । परन्तु जिसमें यह सब बल इकट्ठे होते हैं वह बलों में श्रेष्ठ बल ५—बुद्धि बल कहाता है ॥ ५५ ॥ एकं हन्यान्न वा हन्यादिपुर्मुक्तोधनुष्मता ॥ बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं स राजकम् ॥४८॥ धनुषवाले से छोड़ा हुआ बाण एक को मारे वा न मारे परन्तु बुद्धिमान् से छोड़ी हुई बुद्धि राज सहित देश को मारती है ॥ ४८ ॥



❀ ओ३म् ❀

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ १४ ॥ मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः। मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ य० ३२। म०१४-१५ शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ६ ॥ शं नो वातः पवताᳬ शं नस्तपतु सूर्यः। शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ १० ॥ अहानि शं भवन्तु नः शᳬरात्रीः प्रति धीयताम्। शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या। शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः ॥ य०३६।६-११

४२२ नित्यमनेकशास्त्रावलोकनम्।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च। नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥ बुद्धीति। वेदाविरुद्धानि शीघ्रं बुद्धिवृद्धिजनकानि व्याकरणमीमांसा स्मृतिपुराणन्यायादीनि शास्त्राणि, तथा धन्यानि धनाय हितान्यर्थशास्त्राणि बार्हस्पत्यौशनसादीनि, तथा हितानि दृष्टोपकारकाणि वैद्यकज्योतिषादीनि, तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकान्निगमाख्यांश्च ग्रन्थान्नित्यं पर्यालोचयेत ॥ १९ ॥ यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥ तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥ (म० स्मृ० ४। १९-२०) यथा यथेति ॥ यस्माद्यथा यथा पुरुषः शास्त्रं सम्यगभ्यस्यति तथा तथा विशेषेण जानाति, शास्त्रान्तरविषयमपि चास्य विज्ञानं रोचते उज्ज्वलं भवति। दीप्त्यर्थत्वाद्रुचेरभिलाषार्थत्वाभावात 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति न संप्रदानसंज्ञा ॥ २० ॥ (कु० भ०)।

४२३ **मन ।**

मन्युरसि मन्युं मयिं धेहि ॥ य० सं० १६ । ६ ॥

उ०—मन्युरसि मन्यु मयि धेहि ॥ ६ ॥ म० मन्युरसीति सात्त्वतं मन्युर्मानम प्रज्वलनं कोपोऽसि मयि मन्युं धेहि ॥ ९ ॥

मनस्त आप्यायतां । ६ । १५ मनोजूतिर्जुषताभाज्यस्य ॥ २।१३ ॥ मनसः काममाकूतिं ॥ ३६ । ४ ॥ मनो न येषु हवनेषु । ७ १७ मनो न्वाह्वामहे नाराः । ३ ॥ ५३ ॥ मनो मे तर्पयत वाचं मे ॥ ६ । ३१ ॥ मन्यवेऽयस्ताप क्रोधाय ॥ ३० । १४ ॥ (य० सं०) ।

बन्धाय विषयासङ्गो मुक्तौ निर्विषयं मनः ॥ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धं मोक्षयोः ॥ १२ ॥ विषय में आसक्त मन बंधका हेतु है, विषय से रहित मुक्तिका, मनुष्यों के बंध और मोक्षका कारण मनही है ॥ १२ ॥ देहाभिमाने गलिते ज्ञानेन परमात्मनः ॥ यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥ १३ ॥ परमात्मा के ज्ञानसे देहके अभिमानका नाश हो जाने पर जहां जहां मन जाता है तहां तहां समाधि है ॥ १३ ॥ ईप्सितं मनसः सर्वं कस्यसम्पद्यते सुखम् ॥ दैवायत्तं यतः सर्वं तस्मात्सन्तोषमाश्रयेत् ॥ १४ ॥ (चा० नी० द० । १३ । १२—१४) । मनका अभिलषित सब सुख किसको मिलता है जिस कारण सब दैवके वश हैं इससे संतोष पर भरोसा करना उचित है ॥ १४ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥
(य० सं० ३४ । ५) ।

उ०—यस्मिन्नृचः यस्मिन्मनसि ऋचः प्रतिष्ठिताः । यस्मिन्सामानि प्रतिष्ठितानि । यस्मिन् यजूंषि प्रतिष्ठितानि । कथमिव । रथनाभौ इव आराः । यस्मिन् चित्तं संज्ञानम् सर्वम् तस्य तस्यार्थस्य । ओतं निक्षिप्तम् तन्तुसंततमिव कृतं प्रजानाम् । तन्मे मन इति व्याख्यातम् ॥ ५ ॥ म० यस्मिन् मनसि ऋचः प्रतिष्ठिताः । यस्मिन् साम सामानि प्रतिष्ठितानि । यस्मिन् यजूंषि प्रतिष्ठितानि । मनसः स्वास्थ्ये एव वेदत्रयीस्फूर्तेर्मनसि शब्दमात्रस्य प्रतिष्ठितत्वम् 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इति छान्दोग्ये मनस एव स्वास्थ्ये वेदोच्चारणशक्तिः प्रतिपादिता । तत्र दृष्टान्तः । रथनाभौ आराः इव । यथा आराः रथचक्रनाभौ मध्ये प्रतिष्ठितास्तद्वतास्तद्वच्छब्दजालं मनसि । किंच प्रजानां सर्वं चित्तं ज्ञानम् सर्वपदार्थविषयि ज्ञान यस्मिन् मनसि ओतं प्रोतं निक्षिप्तं तन्तुसन्ततिः पटे इव सर्वं ज्ञानं मनसि निहितम् । मनः स्वास्थ्ये एव ज्ञानोत्पत्तिर्मनोवैयग्र्येच ज्ञानाभाव । तन्मे मम मनः शिवसंकल्पं शान्तव्यापारमस्तु ॥ ५ ॥ ऋग्यजुस्सामभिः ॥ ऋचोयजूंषि सामानि हस्त । ४० ॥

ऋग्यगुस्सामभिः पूतो ॥ ४२ ॥ (या० व० शि०) । मन्त्री धीसचिवोऽमात्योऽन्येकमसचिवास्ततः ॥ महामात्राः प्रधानानि–मन्त्री, धीसचिवः, अमात्यः, इति ३ बुद्धिसहायस्य । ततो धीसचिवादन्ये कर्मोपयुक्ताः सचिवाः कर्मसचिवाः स्युरिति ॥ —महामात्राः, प्रधानानि, इति २ मुख्यानां राजसहायानाम '। अ० कां० कां० २ क्ष० व० ६) राजानो मन्त्रिवान्धवाः ॥ ३८ ॥ वि० नी० पृ०) । राजाओं के मन्त्री बान्धव हैं ॥ ३८ ॥ मनो मन्युः क्रोधरूपमस्तु क्रोध फलं ददातु । (म० भा० यजु० २० । ६) । एकं विपरसोहन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ॥ सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लव ॥ ५० । (वि० नीति पृ० ८३) विषरस एक को मारता है । और शस्त्र से भी एक मारा जाता है परन्तु मन्त्र (विचार) का विप्लव (बिगाड़) राज को देश तथा प्रजा सहित नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥ मन्युः । अ०सं० ६ । ६५ । १ ॥ पृ० १३५ । शत्रुसंबन्धी मन्युः क्रोध । (सा० आ० भा० नि० अ० १० खं० २१) । मन्यु ॥ १८ ॥ मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वध कर्मणो वा, मन्यंत्यस्मादिषवः ॥ २ ॥ २९ ॥ म० मनुते जानातीति मनुर्ज्ञानवान्यजमानः ॥ (य० ५ । १६ महीधरः) ।

एतु प्राण एतु मन एतु चक्षुरथो बलम् । शरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रतितिष्ठतु ॥ १३ ॥

(अ० सं० ५ । ३० । १३) । मनो वै समुद्रः ॥ (उवट । य० सं० १३।४२) ।

४२४ कर्मारम्भः ।

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ॥ आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥ पीडनानीति ॥ पीडनानि मारकादीनि रामक्रोधोद्भवानि, दुःखानि च स्वपरचक्रजातानि तेषां च गुरुलघुभावं पर्यालोच्य सन्धिविग्रहादिकार्यमारभेत ॥ २९९ ॥ आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः । कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥ आरभेतेति ।' राजा स्वराज्यवृद्धिपरापचयनिमित्तानि कार्याणि कथंचिदिदं संजातमिति कृतान्यप्यारभ्यात्मना खिन्न पुनः पुनस्तान्यारभेतैव । यस्मात्कर्माणि सृज्यमाणं पुरुषं श्रीर्नितरां सेवते । तथा चाब्राह्मणे नानाश्रये श्रीरस्तीति प्रशेहितापि कोपयेति, न च युगमानुपेन कर्माणि फलन्तीति राज्ञोदासितव्यम् ॥ ३०० ॥

४२५ राज्ञो युगत्वकथनम् ।

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ॥ राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥ यतः । कृतमिति ॥ कृतत्रेताद्वापरकलयो राज्ञ एव चेष्टितविशेषास्तैरेव सत्यादिविशेषप्रवृत्तेः । तस्माद्राजैव कृतादियुगमभिधीयते ॥ ३०१ ॥ कीदृक्चेष्टितः कृतादियुगमित्यत आह—कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ॥ कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥ (म० स्मृ० ९ । २९९-३०२) कलिरिति ॥ अज्ञानालस्यादिना यदा निरुद्यमो राजा भवति तदा कलिः स्यात् । यदाजानन्नपि नानुतिष्ठति तदा द्वाप-

रम् । यदा कर्मानुष्ठानेऽवस्थितस्तदा त्रेता । यथाशास्त्रं पुनः कर्माण्यनुतिष्ठन्विचरति तदा कृतयुगम् । तस्माद्राज्ञा कर्मानुष्ठानपरेण भाव्यमित्यत्र तात्पर्यं न तु वास्तवकृतयुगाद्यपलापे ॥ ३०२ ॥ (कु० भ०) कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वत• ॥ स्वकार्योद्यतदण्डाभ्यां स्वधर्मे स्थापयेत् प्रजा• ॥ ६० ॥ (शु० नी० २ । ६०) । जिस लिये कि राजा सत् असत् कर्म का प्रेरक है तो काल का भी कारण वही है जब राजा भलीभांति कार्य को देखता है तब सत्ययुग और जब सामान्य कार्य को देखता है तब त्रेतायुग और जब कार्य्य को नहीं देखता तब-द्वापरयुग जब पाँव फैलाये सोता है तब कलियुग होता है इस लिये राजा को उचित है कि स्वकार्य्य में उद्यत और दण्ड युक्त होकर प्रजा को स्वधर्म में तत्पर करै ॥ ६० ॥

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं पाप्मने सैलगम् ॥१८॥

(य० सं० ३० । १८) ।

म० अक्षराजाय कितवं धूर्तम् ८ कृताय आदिनवदर्शम् आदीनवो दोषस्तं पश्यति तथाभूतम् ९ त्रेतायै कल्पिनं कल्पकम् १० द्वापराय अधिकल्पिनम् अधिकल्पनाकर्तारम् ११ । अथ दशमे यूपे । आस्कन्दाय सभास्थाणुं सभायां स्थिरम् १ मृत्यवे गोव्यच्छं गाः प्रति गमनशीलम् २ अन्तकाय गोघातं गवां हन्तारम् ३ क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति यः पुमान् गां विकृन्तन्तं छिन्दन्तं भिक्षमाणो याचमानः उपतिष्ठते तं याचितारं क्षुधे देव्यै आलभेत ४ दुष्कृताय चरकाचार्यं चरकाणां गुरुम् ५ पाप्मने सैलगं सीलगो दुष्टस्तदपत्यम् ६ ॥ १८ ॥

४२६ व्यवहारदर्शनार्थं सभाप्रवेशः ।

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ॥ मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥१॥ (म० स्मृ० ८।१) व्यवहारानिति ॥ एवंविधविपक्षमहीक्षित्कृतः प्रजानां रक्षणादवाप्तवृत्तिस्तासामेवेतरेतरविवादजपीडापरिहारार्थम् , ऋणादानाद्यष्टादशविवादे विप्रलापार्थिप्रत्यर्थिवाक्यजनितसंदेहहारी विचार एव व्यवहार । तथाह कात्यायनः — 'वि नानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते । नानासंदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः' । तान्व्यवहारान्द्रष्टुमिच्छन् पृथिवीपतिर्वक्ष्यमाणलक्षणलक्षितैर्ब्राह्मणैरमात्यैश्च सप्तमाध्यायोक्तपञ्चाङ्गमन्त्रैः सह विनीतो वाक्पाणिपादचापलविरहादनुद्धतः । अविनीते हि नृपे वादिप्रतिवादिनां प्रतिभाक्षयादसम्यगभिधाने तत्त्वनिर्णयो न स्यात् । तादृशो वक्ष्यमाणां सभां प्रविशेत् । व्यवहारदर्शनं चेदं प्रजानामितरेतरपीडायां तत्त्वनिर्णयेन रक्षणार्थं वक्ष्यमाणदृष्टादृष्टार्थककरणफलेनैव फलवत् ॥ १ ॥ (कु० भ०) विषं सभा दरिद्रस्य ॥ (चा० नी० द०)

४२७ बालस्थविरोन्मत्तकृतव्यवहारो न सिद्ध्यति ।

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।। असम्बद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥ मत्तोन्मत्तेति ॥ मद्यादिना मत्तः, उन्मत्तो व्याध्यादिर्पीडितोऽपहतास्वनन्य-

बालवृद्धैरस्वतन्त्रत्वेन पितृभ्रातृनियुक्तादिव्यतिरेकेण कृत ऋणदानव्यवहारो न सिद्ध्यति ॥१६३॥ सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ॥ बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥ १६४ ॥ (म० स्मृ० ८।१६३-१६४) सत्येति ॥ इदं मयानुष्ठेयमित्येवमादिका भाषा लेख्यादिना स्थिरीकृतापि यदि शास्त्रीयधर्मात्पारंपर्यागतव्यवहाराच्च बहिर्भाष्यते सा सत्या न भवति तदर्थो नानुष्ठेयः ॥ १६४ ॥ (कु० भ०)

४२८ राजकार्यनिरीक्षणम् ।

तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ॥ विनीतवेषाभरणः पश्ये-त्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥ तत्रेत्यादि॥ तस्यां च सभायां कार्यगौरवापेक्षायामुपविष्टो, लघुनि कार्ये उत्थितोऽपि वा । पाणिशब्दो बाहुपरः दक्षिणपाणिमुद्यम्यानुद्धतनेपथ्यालंकारः पूर्वश्लोक इन्द्रियानौद्धत्ययुक्तं तादृशः कार्याणि विचारयेत ॥ २ ॥

४२९ ऋणादयोऽष्टादश ।

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ॥ अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथ-क्पृथक् ॥ ३ ॥ प्रत्यहमित्यादि ॥ तानि च ऋणादानादीनि कार्याण्यष्टादशसु व्यवहारमार्गेषु विषयेषु पठितानि देशजातिकुलव्यवहारगतैः शास्त्रावगतैः साक्षिद्रव्यादिभिर्हेतुभिः पृथक्पृथक् प्रत्यहं विचारयेत् ॥ ३ ॥ तान्येवाष्टादश गणयति—तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ॥ संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥४॥ वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यति-क्रमः ॥ क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥ सीमाविवादधर्मश्च पा-रुष्ये दण्डवाचिके ॥ स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥ स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ॥ पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥ तेषामिति ॥ वेतनस्यैव चेति ॥ सीमेति ॥ स्त्रीपुमिति ॥ तेषामष्टादशानां मध्ये आद्यमिह ऋणादानं विचार्यते । तस्य स्वरूपमुक्तं नारदेन—'ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत् । दानग्रहणधर्माश्च तदृणादानमुच्यते' । ततश्च स्वधनस्यान्यस्मिन्नर्पणरूपो निक्षेपः । अस्वामिना च कृतो विक्रयः । संभूय वणिगादीनां क्रियानुष्ठानम् । दत्तस्य धनस्यापात्रबुद्ध्या क्रोधादिना वा ग्रहणम् । कर्मकरस्य भृतेरदानम् । कृतव्यवस्थातिक्रमः । क्रयविक्रये च कृते पश्चात्तापाद्विप्रतिपत्तिः । स्वामिपशुपालयोर्विवादः । ग्रामादिसीमाविप्रतिपत्तिः । वाक्पारुष्यमाक्रोशनादि । दण्डपारुष्यं ताडनादि । स्तेयं निह्नवेन धनग्रहणम् । साहसं प्रसह्य धनहरणादि । स्त्रियाश्च परपुरुषसंपर्कः । स्त्रीसहितस्य पुंसो धर्मव्यवस्था पैतृकादिधनस्य च विभागः । अक्षादिक्रीडापणव्यवस्थापनपूर्वकम् । पक्षिमेषादिप्राणियोधनम् । इत्येवमष्टादश । एतानि व्यवहारप्रवृत्तेः स्थानानि समाह्वयस्य प्राणि द्यूतरूपत्वेन द्यूतावान्तरविशेषत्वादष्टादशसंख्योपपत्तिः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ॥ धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥ (म० स्मृ० ८।३-८) । एष्वित्यादि ॥ एष्वृणादानादिषु व्यवहारस्थानेषु बाहुल्येन विवादं कुर्वतां मनुष्याणामनादिपारंपर्यागतत्वेन नित्यं धर्ममवलम्ब्य कार्यनिर्णयं कुर्यात । भूयिष्ठशब्देनान्यान्यपि विवादपदानि सन्तीति सूचयति । तानि च प्रकीर्णकशब्देन नारदाद्युक्तानि । अतएव नारदः—'न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णकम्' इति ॥ ८ ॥

४३० स्वयं निरीक्षणशक्तौ विद्वांसं विवाहहेतवः नियुञ्जीत—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ॥ तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥ यदेत्यादि ॥ यदा कार्यान्तराकुलतया रोगादिना वा राजा स्वयं कार्यदर्शनं न कुर्यात्तदा तद्दर्शनार्थं कार्यदर्शनाभिज्ञं ब्राह्मणं नियुञ्जीत ॥९॥ सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ॥ सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥ सोऽस्येति ॥ स ब्राह्मणोऽस्य राज्ञो द्रष्टव्यानि कार्याणि त्रिभिर्ब्राह्मणैः सभायां साधुभिर्धार्मिकैः कार्यदर्शनाभिज्ञैर्वृतस्तामेव सभां प्रविश्योपविश्यस्थितो वा न तु चंक्रम्यमाणस्तस्य चित्तव्याक्षेपसंभवत्वात्तादशऋणादीनि कार्याणि पश्येत् ॥१०॥

४३१ राजसभा प्रशंसा ।

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ॥ राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥११॥ यस्मिन्निति ॥ यस्मिन्स्थाने ऋग्यजुःसामवेदिनस्त्रयोऽपि ब्राह्मणा भवतिष्ठन्ते, राज्ञाधिकृतश्च विद्वान्ब्राह्मण एव प्रकृतत्वादवतिष्ठते, तां सभां चतुर्मुखसभामिव मन्यन्ते ॥११॥

४३२ अधर्माचरणे सभ्यानां दोषः ।

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ॥ शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥१२॥ धर्म इति ॥ भाः प्रकाशस्तया सह वर्तत इति विद्वत्संहतिरेवात्र सभाशब्देनाभिमता । यत्र देशे सभां विद्वत्संहतिरूपां धर्मः सत्याभिधानजन्योऽनृताभिधानजन्येन धर्मेण पीडित आगच्छति अर्थिप्रत्यर्थिनोर्मध्ये एकस्य सत्याभिधानादपरस्य मृषावादात्ते च सभासदोऽस्य धर्मस्य पीडाकरत्वाच्छल्यमिवाधर्मं नोद्धरन्ति तदा ते एव तेनाधर्मशल्येन विद्धा भवन्ति ॥ १२ ॥ सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ॥ अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥ (म० स्मृ० ८ । २-१३) । यत एवमतः सभामिति ॥ सभामवगम्य व्यवहारार्थं तत्प्रवेशो न कर्तव्यः । पृष्टश्चेत्तदा सत्यमेव वक्तव्यम् । अन्यथा तूष्णीमवतिष्ठमानो मृषा वा वदन्नुभयथापि सद्य. पापी भवति । मेधातिथिना तु 'सभा वा न प्रवेष्टव्या' इति ऋज्वेव पठितम् ॥ १३ ॥ (कु० भ०) । विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ॥ न चाऽस्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्रसभासद. ॥ ७८ ॥ अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ॥ पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥ ७९ ॥ अनेन भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासद ॥ एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ ८० ॥ वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते ॥ इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥ ८१ ॥ (म० भा० स० प० द्यू० प० अ० ६८)

४३३ राजसभादौ मिथ्याभाषणादिनिषेधः—

यत्रधर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ॥ हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र

च सभासदः ॥ १४ ॥ यत्रेत्यादि ॥ यस्यां सभायामर्थिप्रत्यर्थिभ्यामधर्मेण धर्मो न दृश्यते । यत्र साक्षिभिः सत्यमनृतेन नाश्यते सभासदां प्रेक्षमाणानां तानतादृश्य ते प्रतीकारक्षमा न भवन्तीत्यर्थः ॥ 'षष्ठी चानादरे' इत्यनेन षष्ठी । तत्र त एव सभासदस्तेन पापेन हता भवन्ति ॥१४॥

४३४ धर्मातिक्रमणे विशेषमाह।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ॥ तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१५॥ धर्म इत्यादि ॥ यस्माद्धर्म एवातिक्रान्तः उपातिक्रान्ताभ्यां सह नाशयति नार्थिप्रत्यर्थ्यादि । स एव नातिक्रान्तस्ताभ्यां सह रक्षति । तस्माद्धर्मो नातिक्रमणीयः माऽस्मान् स्वत्सहितानतिक्रान्तो धर्मोऽवधीदिति सभ्यानामुपप्रवृत्तस्य प्राड्विवाकस्य संबोधनमिदम् । अथवा नो निषेधेऽव्ययं नो हतो धर्मो माऽवधीत न हन्त्येवेत्यभिप्रायः ॥१५॥

४३५ धर्माचरणप्रशंसा।

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ॥ वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥१६॥ वृष इत्यादि ॥ कामान्वर्षतीति वृषः वृषशब्देन धर्म एवाभिधीयत इति । अलंशब्दो वारणार्थः । यस्माद्धर्मस्य यो वारणं करोति तं देवा वृषलं जानन्ति न जातिवृषलं तस्माद्धर्मं नोच्छिन्द्यादिति धर्मव्यतिक्रमनिन्दनार्थं वृषलशब्दार्थनिर्वचनम् ॥१६ । एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ॥ शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१७॥ एक इत्यादि ॥ धर्म एवैको मित्रं यो मरणेऽप्यभीष्टफलदानार्थमनुगच्छति यस्मादन्यत्सर्वं भार्यापुत्रादि शरीरेणैव सहादर्शनं गच्छति । तस्मात्पुत्रादिस्नेहापेक्षयापि धर्मो न हातव्यः ॥१७॥

४३६ दुर्व्यवहारे राजादीनामधर्ममाह।

पादो धर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ॥ पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥ पाद इत्यादि ॥ दुर्व्यवहारदर्शनादधर्मसंबन्धी चतुर्थभागोऽर्थिनमधर्मकर्तारं प्रत्यर्थिनं वा गच्छति पश्चतुर्थभागः साक्षिणमसत्यवादिनम् । अन्यपादः सभासदः सर्वानधर्मप्रवृत्त्यनिवारकान्प्राप्नोति । पादश्च राजानं व्रजति । सर्वेषां पापसंबन्धो भवतीत्यत्र विवक्षितम् ॥ १८ ॥ राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ॥ एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥ (म० स्मृ० ८ । १८-१९) । राजेत्यादि ॥ यस्यां पुनः सभायामयथावादी निन्दार्होऽर्थी प्रत्यर्थी वा सम्यङ् न्यायदर्शनेन निन्द्यते तत्र राजा निष्पापो भवति । सभासदश्च पापेन न संबध्यन्ते । अर्थ्यादिकमेव कर्तारमुपैति ॥ १९ ॥ पातकानां समस्तानां द्वेपरे तात पातके ॥ एकं दुःसचिवो राजा द्वितीयश्च तदाश्रयः ॥ ५० ॥ हे पुत्र ! सारे पातकों में दो पातक महाभारी हैं एक तो खोटे मन्त्री के वश में पड़ा हुआ राजा और दूसरे उस राजा के आश्रय में वास करना ॥ ५० ॥ अविवेकमतिर्नृपतिर्मन्त्री गुणवत्सु वक्रितग्रीवः ॥ यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः ॥ ५१ ॥ गुणवानों में अविवेक मतिवाला राजा हो मन्त्री वक्रितग्रीवः (विद्वद्विमुखः) और जहाँ खल प्रबल हों वहाँ सज्जन को अवसर कहाँ किस प्रकार हो ॥ ५१ ॥

४३७ न्यायालयादौ शूद्रनिषेधः ।

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः ॥ धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन ॥ २० ॥ जातिमात्रेति ॥ ब्राह्मणजातिमात्रं यस्य विद्यते न तु ब्राह्मणकर्मानुष्ठानं वणिगादिवत्साक्ष्यादिद्वारेण स्फुटन्यायान्यायनिरूपणक्षमो ब्राह्मणजातिरपि वा यस्य संदिग्धार्थानां ब्राह्मणं ब्रवीति स वरम् । उक्तयोग्यब्राह्मणाभावे च क्वचित्कार्यदर्शने नृपतेर्भवेन्न तु धार्मिकोऽपि व्यवहारज्ञोऽपि शूद्रः । ब्राह्मणो धर्मप्रवक्तेति विधानादेव शूद्रनिवृत्तिः सिद्धा पुनर्न तु शूद्र इति । शूद्रनिषेधो योग्यब्राह्मणाभावे क्षत्रियवैश्ययोरभ्यनुज्ञानार्थः । अतएव कात्यायनः— 'यत्र विप्रो न विद्वान्स्यात्क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥ २० ॥ यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञोधर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥ यस्मात् यस्येत्यादि ॥ यस्य राज्ञो धर्मविवेचनं शूद्रः कुरुते तस्य पश्यत एव पंके गौरिव तद्राष्ट्रमवसन्नं भवति ॥ २१ ॥ यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ॥ विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥ (म. स्मृ ८।२०-२२) यदित्यादि ॥ यद्राष्ट्रं शूद्रबहुलं बहुलपरलोकाभावाद्याक्रान्तं द्विजशून्यं तत्सर्वं दुर्भिक्षरोगपीडितं सच्छीघ्रं विनश्यति । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्' इत्यस्याभावेन वृष्टिविरहादुपजातदुर्भिक्षरोगाद्युपसर्गशान्त्यर्थकर्माभावाच्च ॥ २२ ॥ वध्यो राज्ञा स वै शूद्रो जपहोमपरश्च यः ॥ यतो राष्ट्रस्य हंतासौ यथा वह्नेश्च वै जलम् ॥ १९ ॥ (अ० स्मृ०) । जप, होम इत्यादि ब्राह्मणों के उचित कर्म में रत होने से शूद्र का राजा वध करे, कारण कि जलधारा जिस प्रकार से अग्नि को नष्ट करती है, उसी प्रकार से यह जप होम मे तत्पर हुआ शूद्र सम्पूर्ण राज्य का नाश करता है ॥ १९ ॥

४३८ शूद्रराज्यवासनिषेधः ।

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ॥ न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः । ६१ । (म० स्मृ० ४।६१) न शूद्रराज्य इति ॥ यत्र देशे शूद्रो राजा तत्र न वसेत् । अधार्मिकजनैश्च बाहुतः परिवृते ग्रामादौ न वसेदित्यपुनरुक्तिः । पाषण्डिभिश्च वेदबाह्यलिङ्गधारिभिर्वशीकृते चाण्डालादिभिश्चान्त्यजैरुपद्रुते न वसेत् ॥ ६१ ॥ (कु० भ०)

४३९ न्यायालयाध्यक्षकर्तव्यमाह—

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ॥ प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥ धर्मासनमिति ॥ धर्मदर्शनार्थमासन उपविश्य आच्छादितदेहोऽनन्यमना लोकपालेभ्यः प्रणामं कृत्वा कार्यदर्शनमनुतिष्ठेत् ॥ २३ ॥ अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ । वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥ अर्थानर्थाविति ॥ प्रजारक्षणोच्छेदाद्यात्मकावैहिकावर्थानर्थौ बुद्ध्वा परकार्थं धर्माधर्मौ केवलावनुरुध्य यथा विरोधो न भवति तथा कार्यार्थिनां लोकार्याणि पश्येत् । बहुवर्णमेलके ब्राह्मणादिक्रमेण पश्येत् ॥ २४ ॥

४४० इंगिताकारादिना पराधिज्ञानम् ।

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥ स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टि-

तेन च ॥ २५ ॥ बाह्यैरिति ॥ बाह्यैः स्वरादिलिङ्गैरित्यभिधानाद्बाह्यचारित्व्यापारैः अर्थिप्रत्यर्थिनामन्तर्गतमभिप्रायं निरूपयेत। स्वरो गद्गदादिः, वर्णः स्वाभाविकवर्णादन्यादृशो मुखकालिमादिः इङ्गितमधोनिरीक्षणादिः, आकारो देहभवस्वेदरोमाञ्चादिः, चेष्टा हस्तास्फालनादिः ॥२५॥ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ॥ नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥ (म० स्मृ० ८ । २५-२६) । यस्मात्—आकारैरिति ॥ आकारादिभिः पूर्वोक्तैः गत्या स्खलत्पादादिक्रया अन्तर्गतमनोबुद्धिरूपेण परिगतमवधार्यते ॥ २६ ॥ उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः ॥ अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफलाहि बुद्धयः ॥ ४४ ॥ कहे अर्थ को पशु भी ग्रहण कर लेते हैं, हाथी, घोड़े, प्रेरित हुये (भार) वहन करते हैं, पण्डित जन बिन कही बात को भी ग्रहण करते हैं, क्यों कि पराई चेष्टा के ज्ञान होने के फलवाली बुद्धियां होती हैं ॥ ४४ ॥ तथाच मनु - जैसाही मनुजी ने कहा है—आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ॥ नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥४५॥ (पं० तं० मि० भे० प्र०) आकार (अवयव विषाद प्रसादको प्राप्त से, संकेत से गमन, क्रिया, भाषण, नेत्र और मुख के विकार से, मनके अन्तर की बात जानी जाती है ॥ ४५ ॥

४४१ दूत ।

इङ्गिताकारचेष्टाज्ञः स्मृतिमान् देशकालवित् । षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते ॥ ८७ ॥ (शु० नी० २। ८७)

४४२ राज्ञा रक्षणीयधनमाह ।

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ॥ यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥ (म० ८ । २७) । बालदायेति ॥ अनाथबालस्वामिकं पितृव्यादिभिरन्यायेन गृह्यमाणं तावद्राजा रक्षेत् । यावदसौ षट्त्रिंशदब्दादिकं ब्रह्मचर्यमित्याद्युक्तेन प्रकारेण गुरुकुलात्समावृत्तो न भवति तादृशस्यावश्यकबाल्यविगमात । यस्तु गवत्यादिना बाल एव समावर्तते सोऽपि यावदतीतबाल्यो भवति तावत्तस्य धनं रक्षेत् । बाल्यं च षोडशवर्षपर्यंतम् । 'बाल आषोडशाद्वर्षात्' इति नारदवचनात् ॥ २७ ॥ (कु० भ०)

४४३ देशकुलजात्यनुसारेण कर्मानुष्ठनम् ।

जातिजानपदान्धर्माञ्छ्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ॥ समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥ जातीति ॥ धर्मान्ब्राह्मणादिजातिनियतान्यजनादीन् जानपदांश्च नियतदेशव्यवस्थितानाम्नायाविरुद्धान्, देशजातिकुलधर्मांश्च 'आम्नायैरप्रतिषिद्धाः प्रमाणम्' इति गौतमस्मरणात । श्रेणीधर्मांश्च वणिगादिधर्मान्प्रतिनियत कुलव्यवस्थितान्ज्ञात्वा तदविरुद्धान्राजा व्यवहारेषु तत्तद्धर्मान् व्यवस्थापयेत ॥ ४१ ॥ देशधर्मजातिधर्मकुलधर्मान् सर्वान् वैतानतुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्तेष्वधर्मपरेषु दंडः । (व० स्मृ० अ० १६ पृ० ४८१) । देश, जाति, कुल इनके सब धर्मों को राजा जान कर चारों वर्णों के अपने २ धर्म में स्थित करे और जब चारों वर्ण अधर्म में तत्पर हों जाय तब देश, काल समय

धर्म अवस्था, विद्या, स्थान इनको विशेषता के अनुसार दण्ड दें ॥ वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्। चलतश्चैमान्स्वधर्मे एव स्थापयेत। (गौ० स्मृ० अ० ११ पृ० ५१३ पं० ३)।

४४४ व्यवहाराध्यायः।

साधारणव्यवहारमातृका प्रकरण १

अभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनं परमो धर्मः। तच्च दुष्टनिग्रहमन्तरेण न संभवति। दुष्टपरिज्ञानं च न (१)व्यवहारदर्शनमन्तरेण संभवति। तद्व्यवहारदर्शनमहरहः कर्तव्यमित्युक्तं—'व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्' इति। स च व्यवहारः कीदृशः कतिविधः कथं चेतीतिकर्तव्यताकलापो नाभिहितस्तदभिधानाय द्वितीयोऽध्यायः आरभ्यते—

४४५ व्यवहारलक्षणम्

व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ॥ धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥ १ ॥ व्यवहारानिति। अन्यविरोधेन स्वात्मसवन्धितया कथनं (२)व्यवहारः। यथा कश्चिदिदं क्षेत्रादि मदीयमिति कथयति, अन्योपि तद्विरोधेन मदीयमिति। तस्यानेकविधत्वं दर्शयति वहुवचनेन। नृप इति न क्षत्रियमात्रस्याय धर्मः किंतु प्रजापालनाधिकृतस्यान्यस्यापीति। दर्शयति। पश्येदिति पूर्वोक्तस्यानुवादो धर्मविशेषविधानार्थ.। विद्वद्भिर्वेदव्याकरणादिधर्मशास्त्राभिज्ञैः। ब्राह्मणैर्न क्षत्रियादिभिः। ब्राह्मणैः सहेति तृतीयानिर्देशादेषामप्राधान्यम्। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति स्मरणात्। अतश्चादर्शनेऽन्यथादर्शने वा राज्ञो दोषो न ब्राह्मणानाम्। यथाह मनुः (८। १२८)—'अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं (३)चैव गच्छति॥' इति। कथम्। धर्मशास्त्रानुसारेण नार्थ(४)शास्त्रानुसारेण। (५)देशादिसमय–धर्मस्यापि धर्मशास्त्राविरुद्धस्य धर्मशास्त्रविषयत्वान्न पृथगुपादानम्। तथाच (६)वक्ष्यति—'निजधर्माविरोधेन यस्तु (७)सामयिको भवेत्। सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः॥' इति। क्रोधलोभविवर्जित इति। धर्मशास्त्रानुसारेणेति सिद्धे ' क्रोधलोभविवर्जितः ' इति वचनमादरार्थम्। क्रोधोऽमर्षः। लोभो लिप्सातिशयः॥ १॥

---

(१) दर्शनेन विनेति व्यवहारदर्शनं ग. (२) 'विप्रतिपद्यमाननरान्तरगताज्ञाताधर्मज्ञापनानुकूलो व्यापारो व्यवहारः। वादिप्रतिवादिकर्तृकः सभवद्भोगसाक्षिप्रमाणको विरोधकोटिव्यवस्थापनानुकूलो व्यापारो वा सः। संप्रतिपत्त्युत्तरे तु व्यवहारपदप्रयोगो भाक्त इति मदनरत्ने'इति व्य. म. —'वि नानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते। नाना संदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः॥' इति कात्यायनः (३) चाधिगच्छति ख (४) अर्थशास्त्र नीतिशास्त्रं औशनादिकम् (५). देशेति। आदिना देव गृहादिपरिग्रहः। पारिभाषिकधर्मेण व्यवस्थानं समयः (६) वक्ष्यति अग्रे संविद्व्यतिक्रमप्रकरणे (श्लो० १८६). (७) सामयिको धर्मो या त्वपथिकं भोजनं देयमन्मद्गतिमण्डलं तुरङ्गादयो न प्रस्थापनीया इत्येवंरूपः।

४४६ सभासदलक्षणम् । ४४७ सभासदसंख्या । ४४८ बृहस्पतिमते सभ्यसंख्या । ४४९ ब्राह्मणानां सभासदां च भेद । ४५० अन्यायाद्राजदोषनिवारणम् । ४५१ ब्राह्मणानां दोष । ४५२ राजसंसदि वणिजामपि स्थापना । ४५३ प्राड्विवाक् । ४५४ प्राडविवाक् गुणाः । ४५५ ब्राह्मणप्राडविवाकाभावे क्षत्रियादिः । ४५६ प्राड्विवाकलक्षणम् ।

सभ्यांश्चाह—श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥ राजा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च समाः ॥ २ ॥ किंच श्रुताध्ययनसम्पन्नाः श्रुतेन मीमांसाव्याकरणादि श्रवणेन अध्ययनेन च वेदाध्ययनेन सपन्नाः । धर्मज्ञा धर्मशास्त्रज्ञाः सत्यवादिनः सत्यवचनशीलाः । रिपौ मित्रे च ये समाः रागद्वेषादिरहिताः । एवं भूताः सभासद सभायां संसदि यथा सीदन्त्युपविशन्ति तथा दानमानसत्कारै राज्ञा कर्तव्याः । यद्यपि श्रुताध्ययनसपन्ना इत्यविशेषेणोक्तं तथापि ब्राह्मणा एव । यथाह कात्यायनः-'स तु सभ्यैः स्थिरैर्युक्तः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः । धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः' ॥ इति । ते च त्रय. कर्तव्याः बहुवचनस्यार्थवत्त्वात्—'यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रावेदविदस्त्रय.' इति (८ । ११) मनुस्मरणाच्च । बृहस्पतिस्तु सप्त पञ्च त्रयो वा सभासदो भवन्तीत्याह—'लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा । यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥' इति । नच ब्राह्मणैः सहेति पूर्वश्लोकोक्तानां ब्राह्मणानां श्रुताध्ययनसपन्नाः इत्यादि विशेषणमिति मन्तव्यम् । तृतीयाप्रथमान्तनिर्दिष्टानां विशेषणविशेष्यभावासंभवात् । विद्वद्भिरित्यनेन पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च । तथाच कात्यायनेन ब्राह्मणानां सभासदां च (२) स्पष्टं भेदो दर्शितः—'सप्राड्विवाक समात्य. स ब्राह्मणपुरोहितः । ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः ।' इति । तत्र ब्राह्मणा अनियुक्ताः सभासदस्तु नियुक्ता इति भेदः । अतएवोक्तम्—'नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति' इति । तत्र नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा करोति तदाऽसौ निवारणीयोऽन्यथा दोषः । उक्तंच कात्यायनेन –'अन्यायेनापि तं यान्त येऽनुयान्ति सभासदः । तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः स तैर्नृपः ॥' इति अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो नतु राज्ञोऽनिवारणे— सभा (३) वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥' इति (८ । १३) मनुस्मरणात् । रिपौ मित्रे चेति चकाराल्लोकरञ्जनार्थं कतिपयैर्वणिग्भिरप्यधिष्ठितं सदः कर्तव्यम् । यथाह कात्यायनः—'कुलशीलवयोवृत्तवित्तवद्भिरमत्सरैः । वणिग्भि स्यात् कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् ॥ २ ॥ व्यवहाराान्नृप. पश्येदित्युक्तं तत्रानुकल्पमाह—अपश्यता कार्यवशाद्व्यवहारान्नृपेण तु ॥ सभ्यैः सह नियो-

(१) मौलैः सेवकत्वेन पितृपितामहादिपरम्परायाततैः (२) च भेदः स्पष्टो ग (३) सभां वा न प्रवेष्टव्य ग ।

कव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥ ३ ॥ (१) कार्यान्तरव्याकुलतया व्यवहारानपश्यना नृपेण पूर्वोक्तैः सभ्यैः सह सर्वधर्मवित् (२) सर्वान्धर्मशास्त्रोक्तान्सामयिकांश्च धर्मान्वेत्ति विचारयतीति सर्वधर्मवित् ब्राह्मणो न क्षत्रियादिर्नियोक्तव्यो व्यवहारदर्शने । तं च कात्यायनोक्तगुणविशिष्टं कुर्यात् । यथाह—'दान्त कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेगकरं स्थिरम् । परत्र भीरं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् ॥' इति । एवं भूतब्राह्मणासंभवे क्षत्रियं वैश्य वा नियुञ्जीत न शूद्रम् । यथाह कात्यायनः —'ब्राह्मणो यत्र न स्यात्तु क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥' इति । नारदेन (३) स्वयमेव मुख्यो दर्शितः—'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राडविवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद्व्यवहारानतुक्रमात् ॥' इति । प्राड्विवाकमते स्थितो न स्वमते स्थितः । राजा चारचक्षुषा परसैन्यं पश्यतीतिवत् । तस्य चेयं यौगिकी संज्ञा । अर्थिप्रत्यर्थिनौ पृच्छतीति प्राह तयोर्वचनं विरुद्धमविरुद्धं च सभ्यैः सह विविनक्ति (४) विवेचयति वेति विवाकः । प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाकः । उक्तंच —'विवादानुगतं पृष्ट्वा ससभ्यस्तत्प्रयत्नतः । विचारयति येनासौ (५) प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥' इति ॥ ३ ॥ प्राड्विवाकादयः सभ्या यदि रागादिना स्मृत्यपेतं व्यवहारं विचारयन्ति तदा राज्ञा किं कर्तव्यमित्यत आह—

लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा ॥ (शु० नी० अ० २ ८५) । जो लोकके आचार और शास्त्र के न्यायका जानने वाला वह प्राड्विवाक् । **आत्ययिके सर्वधर्मेभ्यो गरीयः प्राड्विवाके सत्यवचनं सत्यवचनम् ॥** (गौ० स्मृ० अ० १३) । आवश्यकीय कार्यों में वकील का सत्य वचन प्रमाणिक है । "रणः विवाक्, नदनु "—इत्येवमादीनि । रणन्त्यस्मिन् शूरा इति रणः । विविधा शूराणामत्र वाग् भवतीति विवाक् । नदन्त्यस्मिन् शूरा इति नदनुः । इत्येवमादि योज्यम् ॥ ३।१।१९ ॥ (नि० नै० कां० अ० ३ खं० ९ पृ० २०१) ।

४५७ सभासदां दण्डः ।

रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यपेतादिकारिणः ॥ सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् ॥ ४ ॥ (या० स्मृ० व्य० अ० सा० व्य० मा० प्र० १) । अपिच । पूर्वोक्ता. सभ्या रजसो निङ्कुशत्वेन तदभिभूता रागात्स्नेहातिशयाल्लोभाल्लिप्सातिशयाद्भयात्संत्रासात्स्मृत्यपेतं स्मृतिविरुद्धं आदिशब्दादाचारापेतं कुर्वन्तः पृथक्पृथगेकैकशो विवादाद्विवादपराजयनिमित्ताद्दमाद्द्विगुणं दमं दण्ड्याः न पुनर्विवादास्पदीभूताद्द्रव्यात् । तथा सति स्त्रीसंग्रहणादिषु दण्डाभावप्रसङ्गः । रागलोभभयानामुपादानं रागादिष्वेव द्विगुणो दमो नाज्ञानमोहादिष्विति नियमार्थम् ॥ नच 'राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम् इति गौतमव(६)चनान्न ब्राह्मणा दण्ड्या इति मन्तव्यम् । तस्य प्रशंसार्थत्वात् ॥ यत्तु षड्भि' परिहार्यो (७) राज्ञाऽवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति तदपि स एष बहुश्रुतो भवति लो-

---

(१) व्यग्रतया ख० ग० (२) धर्मान् शास्त्रोक्तान् ग० (३) ब्राह्मण एव० (४) विवक्तीति वा ग० (५) बृहस्पतिस्तु—'विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिप्रश्नं तथैव च । नयपूर्वं प्रागवदति प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥' इति व्य. म. ६ न ब्राह्मणो दण्डय इति क. ग. ७ राजा वध्यश्चाबध्यश्च, ग.

ऋग्वेदवेदाङ्ग (८) विद्या (९) कोवाक्येतिहासपुराणकुशलस्तदपेक्षस्तद्वृत्तिश्चाष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतस्त्रिषु कर्मस्वभिरतः षट्सु वा समयाचारिकेष्वभिविनीत इति प्रतिपादितबहुश्रुतविषयं न ब्राह्मणमात्रविषयम् ॥ ४ ॥

४५८ राजाकी दश प्रकृति।

समासतः पुरोधादिलक्षणं यत् तदुच्यते ॥ पुराधाश्च प्रतिनिधिः प्रधानः सचिवस्तथा ॥ ६९ ॥ मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितश्च सुमन्त्रकः ॥ अमात्यो दूत इत्येता राज्ञः प्रकृतयो दश ॥ ७० ॥ अब संक्षेप से पुरोधा इत्यादि के लक्षण को कहते हैं, पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राड्विवाक; पण्डित, सुमन्त्रक, अमात्य, और दूत येही दश राजा के प्रकृति हैं ॥ ६९ ॥ ७० ॥

४५९ राजाकी आठ प्रकृति।

दशमांशाधिकाः पूर्वं दूतान्तः क्रमशः स्मृताः ॥ अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित् स्मृतः सदा ॥ ७१ ॥ पुरोहित से लेकर दूत पर्य्यंत क्रम से दशमांश अधिक वेतन होना चाहिये जैसे जो वेतन पुरोहित का हो उससे दशवां हिस्सा अधिक प्रतिनिधि का होना चाहिये एवं क्रम से दूत पर्य्यंत और कोई ऐसा भी कहते हैं कि राजा को आठ प्रकृति से सदा युक्त रहना चाहिये ॥ ७१ ॥

४६० आठ प्रकृतियोंके नाम।

सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा ॥ अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः ॥ ७२ ॥ एताभृतिसमास्त्वष्टौ राज्ञः प्रकृतयः सदा ॥ इङ्गिताकारतत्त्वज्ञो दूतस्तदनुगः स्मृतः ॥ ७३ ॥ (शु० नी० २।६९-७३) सुमन्त्र, पण्डित, मन्त्री, प्रधान, सचिव, अमात्य, प्राड्विवाक और प्रतिनिधि ये ही राजा के आठ प्रकृति हैं इनका वेतन समान चाहिये और इन प्रकृतियों और राजा के चेष्टा और आकार का जानने वाला दूत राजा और प्रकृति का अनुगामी है ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

४६१ अथ मन्त्रिणः।

मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ॥ सचिवान्सप्त चाष्टौवा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥ (म० स्मृ० ७ । ५४) मौलानिति ॥ मौलान्पितृपितामहक्रमेण सेवकान, तेषामपि द्रोहादिना व्यभिचारान् दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञानिकान्तान्, लब्धलक्षाल्लक्षाद-प्रच्युतशरीरमल्यादिनायुधविद इत्यर्थः । विशुद्धकुलभवान्दैवतास्पर्शादिनियतानमान्यान्सप्ताष्टौ वा मन्त्रादौ कुर्वीत ॥५४॥ (कु० भ०) ।

---

(८) वेदाङ्गविद्यावाक्येतिहास ग. (९) वाकोवाक्यं उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यम्।

४६२ आठ गुण

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ॥ पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ३१ ॥ (वि० नी० पृ० १०२) आठ गुण मनुष्य को भूषित करते हैं, १ बुद्धि २—कुलीनता ३—वेदादिशास्त्र पाठ, ४—इन्द्रियदमन, ५—पराक्रम ६—बहुत न बोलना, ७—यथाशक्ति दान, ८—और कृतज्ञता ॥ ३१ ॥

४६३ पुरोहित सब में श्रेष्ठ

पुरोधाः प्रथमं श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत् ॥ तदनु स्यात् प्रतिनिधिः प्रधानस्तदनन्तरम् ॥ ७४ ॥ सचिवस्तु ततः प्रोक्तो मन्त्री तदनु चोच्यते ॥ प्राड्विवाकस्ततः प्रोक्तः पण्डितस्तदनन्तरम् ॥ ७५ ॥ सुमन्त्रस्तु ततः ख्यातो ह्यमात्यस्तु ततः परम् ॥ ७६ ॥ दूतस्ततः क्रमादेते पूर्वश्रेष्ठा यथा गुणः ॥ ७७ ॥ इन आठ प्रकृतियों में पुरोहित राजाके राज्यका विधि और क्रियासे रक्षा करनेवाला सबसे श्रेष्ठ है उससे न्यून प्रतिनिधि है, और प्रतिनिधि के अनन्तर प्रधानहैं, तब सचिव, उससे नीचे मन्त्री तब प्राड्विवाक, तदनन्तर पण्डित तदनन्तर सुमन्त्र तब अमात्य उसके अनन्तर दूत कहा जाता है इनमें गुण के अनुसार क्रम से एक से पहले का एक श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ७४, ७५, ७६ ७७ ७८, ७९, ८०॥

मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः ॥ जितेन्द्रियो जितक्रोधो लोभमोहविवर्जितः ॥ ७८ ॥ षडङ्गवित् साङ्गधनुर्वेदविच्चार्थ्यधर्मवित् ॥ यत् कोपभीत्या राजापि धर्मनीतिरतो भवेत् ॥ ७९ ॥ नातिशस्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः ॥ सैवचार्य्यः पुरोधा य शापानुग्रहयोः क्षमः ॥ ८० ॥ जो कि मन्त्र के अनुष्ठान अर्थात् मंत्रानुसार कार्य करने में निपुण हो, तीनों वेदो का ज्ञाता हो, क्रिया में तत्पर हो, जितेन्द्रिय हो, क्रोध को जीतलिये हो, लोभमोहसे रहित हो, व्याकरण, शिक्षा कल्प, निरुक्त, छंद और ज्योतिष इन वेदके षडङ्गो का ज्ञाता हो जिसके कोपके भयसे राजा भी धर्म और नीति में तत्पर रहे और नीति अस्त्र शास्त्र और व्यूहविद्यामें पारगत हो उसको पुरोहित कहते हैं और उसी को आचार्य और पुरोधा कहते हैं जो शाप के देने और अनुग्रह करने में योग्य है ७८, ७९, ८० ॥

विनाप्रकृतिसन्मन्त्राद्राज्यनाशो भवेद्ध्रुवम् ॥ रोधनं न भवेत् तस्मात् राज्ञस्ते स्यु सुमन्त्रिणः ॥ ८१ ॥ (शु० नी० २। ७४-८१) इन प्रकृतियों के सहित मन्त्र के निश्चय करने विना राज्य का निश्चय करके नाश हो जाता है और यदि पूर्वोक्त प्रकृति के आठों सुन्दर मंत्र करने में योग्य न हो तो राजा को कुपथ पर चलने से नहीं रोक सकते ॥ ८१ ॥

४६४ श्रोत्रियात् कर ग्रहणनिषेधः ।

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ॥ न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रो-

त्रियो विषये वसन् ॥ १३३ ॥ म्रियमाण इति ॥ क्षीणधनोऽपि राजा श्रोत्रियब्राह्मणा-त्करं न गृह्णीयात । न च तदीयदेशे वसञ्छ्रोत्रियो बुभुक्षयावसादं गच्छेत ॥ १३३ ॥

४६५ श्रोत्रियस्य वृत्तिकल्पनम् ।

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ॥ तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥ यस्येत्यादि ॥ यस्य राज्ञो देशे श्रोत्रियः क्षुधावसन्नो भवति तस्य राष्ट्रमपि दुर्भिक्षादिभिः क्षुधा शीघ्रमवसादं गच्छति ॥ १३४ ॥ श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पितापुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥ श्रुत वृत्तमनः-श्रुतेति ॥ शास्त्रज्ञानानुष्ठाने ज्ञात्वा अस्य, तदनुरूपां धर्मादनपेतां जीविकामुपकल्पयेत् । चौरादि-भ्यश्चैनमौरसं पुत्रमिव पिता रक्षेत् ॥ १३५ ॥संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ॥ तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥ संरक्ष्यमाण इत्यादि ॥ स च श्रोत्रियो राज्ञा सम्यग्रक्ष्यमाणो यं धर्मं प्रत्यहं करोति तेन राज्ञ आयुर्धनराष्ट्राणि वर्धन्ते ॥ १३६ ॥ यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ॥ व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥ (म० स्मृ० ७ । १३३–१३७) । यदिति ॥ राजा स्वदेशे शाक-पर्णादिस्वल्पमूल्यवस्तुविक्रयक्रयादिना जीवन्तं निकृष्टजनं स्वल्पमपि करार्थं वर्षेण दापयेत ॥ १३७ ॥ (कु० भ०) ।

४६६ ब्राह्मणस्य वधस्थाने शिरोमुण्डनम् ।

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ॥ इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥ मौण्ड्यमिति ॥ ब्राह्मणस्य वधदण्डस्थाने शिरोमुण्डनं दण्डः शास्त्रेणोपदिश्यते । क्षत्रियादीनां पुनरुक्तेन घातेन दण्डो भवति ॥ ३७९ ॥

४६७ तस्यैव दण्डान्तरम् ।

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ॥ राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्र-धनमक्षतम् ॥ ३८० ॥ न जातिव्यादि ॥ ब्राह्मणं सर्वपापकारिणमपि कदाचिन्न हन्यादपि तु सर्वस्वयुक्तमक्षतशरीरं राष्ट्रान्निर्वासयेत् ॥ ३८० ॥

४६८ ब्राह्मणवधनिषेधः ।

न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ॥ तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३७१ । ३८१ ॥ नेति ॥ ब्राह्मणवधान्महान्पृथिव्यामधर्मो नास्ति । तस्माद्राजा सर्वपापकारिणो ब्राह्मणस्य मनसापि वधं न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

४६९ वैश्यादीनां स्वस्वकर्माधिकारः

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ॥ पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ म० ८ ॥ ४१० ॥ वाणिज्यमिति ॥ वाणिज्यं कुसीदकृषिपशुरक्षणानि वैश्यं

कारयेत् । शूद्रं च राजा द्विजातीनां दास्यं कारयेन । अकुर्वाणौ वैश्यशूद्रौ राज्ञो दण्ड्याविरत्येवमर्थोऽयमिहोपदेशः ॥ ४१० ॥

४७० क्षत्रियवैश्यौ पीडितौ दासकर्म्मार्हौ ।

क्षत्रिय चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ॥ विभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥ क्षत्रियमिति ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियवैश्यौ भृत्यभावेन पीडितौ करुणया स्वानि कर्माणि रक्षणकृष्यादीनि कारयन् ग्रासाच्छादनादिना पोषयेत । एवं बलवान्ब्राह्मणस्तावुपगतावबिभ्रन् राजा दण्डनीय इति प्रकरणसामर्थ्याद्गम्यते ॥ ४११ ॥

४७१ अनिच्छतो द्विजान्दासकर्मणि योजयतो दण्डः।

दास्य तु कारयँल्लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् ॥ अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ४१२ ॥ दास्यं त्विति ॥ प्रभवतां भाव' प्राभवत्यम् । ब्राह्मणः कृतोपनयनान्द्विजातीननिच्छतः प्रभुत्वेन लोभाद्दास्यकर्म पादधावनादि कारयन् षट् शतानि दण्ड्यः ॥ ४१२ ॥

४७२ शूद्रो दासकर्मार्हः ।

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा । दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ म० ८ । ४११-४१३ ॥ शूद्रं त्विति ॥ शूद्रं पुनर्भक्तादिभृतमभृतं वा दास्यं कारयेत् । यस्मादसौ ब्राह्मणस्य दास्यायैव प्रजापतिना सृष्टः ॥ ४१३ ॥ (कु० भ०)

४७३ उत्कोचादिग्राहकशासनम् ।

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठा. ॥ भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमा. प्रजाः ॥ १२३ ॥ राज्ञो हीत्यादि ॥ यस्माद्ये राज्ञो रक्षाधिकृतास्ते बाहुल्येन परस्वग्रहणशीला वञ्चकाश्च भवन्ति, तस्मात्तेभ्य इमाः स्वात्मीयाः प्रजा राजा रक्षेत् ॥१२३॥ ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ॥ तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥ (म० स्मृ० ७ । १-३-१२४) । य इत्यादि ॥ ये रक्षाधिकृताः कार्यार्थिभ्य एव वाक्छलादिकमुद्भाव्य लोभादगार्हीयधनग्रहणं पापबुद्धयः कुर्वन्ति तेषां सर्वस्वं राजा गृहीत्वा देशान्निःसारणं कुर्यात् ॥ १२४ ॥ (कु० भ०) । द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुत' । तयोश्चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्यांतः संज्ञानां चलनपतनसर्पाणामायत्तं जीवनं प्रसूतिरक्षणमसंकरो धर्मः । स एष बहुश्रुतो भवति लोकवेदवेदांगवित् वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलस्तदपेक्षस्तद्वृत्तिः चत्वारिंशता संस्कारैः संस्कृतस्त्रिषु कर्मस्वभिरतः षट्सु वासामयाचारिकेष्वभिविनीतः षड्भिः परिहार्यो राज्ञा वध्यश्चावध्यश्चादंड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति । (गौ० स्मृ० अ० ८) । इस लोक में राजा और बहुश्रुत ब्राह्मण यह दो ही जन व्रत धारण करने वाले हैं इनके

बीच में बहुश्रुत ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है, चार प्रकार की मनुष्य जाति में ज्ञान का अंश है, इनका जीवन, चलन, पतन, पढ़न यह उत्सर्पणके अधीन हैं, प्रकृतिकी रक्षाकी पवित्र धर्म है, वह मनुष्य ही बहुश्रुत कहाजाता है, जो लोकजाति तथा वेदवेदांगका जानने वाला और वाको वाक्य में चतुर तथा इतिहास और पुराण इनमें कुशल हो, सर्व वेदांगशास्त्रकी अपेक्षा करने वाला (उसका अनुसरण करने वाला) जिसके चालीस प्रकार के संस्कार हुये हों, तीन प्रकारके कर्मोंमें अभिरत और जो छः कर्मोंमें तत्पर हो और जो समय समय के आचरणों में भले प्रकार शिक्षित हो और जिसमें ऊपर कहेहुये छहों कर्म न हों वह राजाके मारने योग्य है, जो उपरोक्त छहों कर्म को करता है उसे राजा दण्ड न दे और न उसकी निन्दा करे तथा वह राजाके देशसे बाहर निकालने योग्यभी नहीं है।

४७४ दुष्टनिग्रहकारी राजप्रशंसा।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके॥ साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः॥ ३८७॥ (म० स्मृ० ८। ३८७)। एतेषामिति॥ एतेषां स्तेनादीनां पञ्चानां स्वराष्ट्रे निग्रहः समानजातीयेषु राजसु मध्ये राजा साम्राज्यकृदिह लोके च यशस्करो भवति॥ ३८७॥ (कु० भ०) दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा, न्यायेन कोशस्य च संप्रवृद्धिः॥ अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा, पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम्॥ २८॥ (अ० स्मृ०)। दुष्टों का दमन और श्रेष्ठों का पालन, न्यायके अनुसार धनका संग्रह करना, विचारके निमित्त आये हुये अर्थियोंपर पक्षपातका न करना और सब प्रकारसे राज्य की रक्षा करना यह पांच राजाओं के यज्ञ (अर्थात तत्सदृश आवश्यक) कर्म हैं॥ २८॥ ये व्यपेताः स्वधर्मेभ्यश्च परधर्मेष्ववस्थिताः॥ तेषां (१) शान्तिकरो राजा स्वर्गलोके महीयते॥ (अ० सं० श्लो० १७)। जो पूर्वोक्त अपने अपने धर्म का त्याग कर दूसरे धर्म का आश्रय करते हैं, राजा उनको दण्ड देकर स्वर्ग का भागी होता है॥ १७॥

४७५ असमीक्ष्य दंडदाने निषेधमाह।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः॥ असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ १९॥ समीक्ष्येति। स दण्डः शास्त्रतः सम्यङ्निरूप्यापराधानुरूपेण देहधनादिषु धृतः सर्वाः प्रजाः सानुरागाः करोति। अविचार्य तु लोभादिना प्रयुक्तः सर्वाणि बाह्यार्थपुत्रादीनि नाशयति। सर्वत इति द्वितीयार्थे तसिः॥ १९॥

४७६ दण्डयेषु दण्डकारेण दोषमाह।

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः॥ शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः॥ २०॥ (म० स्मृ० ७। २०) यदीत्यादि। यदि राजानलसो भूत्वा

(१) शास्तिः शासनम्।

दण्डप्रणयनं न कुर्यात्तदा शूले कृत्वा मत्स्यानिव बलवन्तो दुर्बलानपक्ष्यन् । दृष्टान्तस्य पचिधातो रूपमिदम् । बलिनोल्पबलानां हिंसामकरिष्यन्नित्यर्थः । 'शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्' इत्येष मेधातिथिगोविन्दराजलिखितः पाठः । 'जले मत्स्यानिवाहिंस्युः' इति च पाठान्तरम् । अत्र बलवन्तो दुर्बलान्हिंस्युरिति मत्स्यन्याय एव स्यादित्युक्तम् ।. २० ॥ (कु० भ०)।

४७७ अधर्मदण्डे राजादीनां दोषः ।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ॥ धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥ दण्ड इति ॥ यतो दण्डः प्रकृष्टतेजस्वरूपः, अशास्त्रैरसंस्कृतात्मभि दुःखेन ध्रियतेऽतो राजधर्मरहितं नृपमेव पुत्रबन्धुसहितं नाशयति ॥ २८ ॥ ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ॥ अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥ (म० स्मृ० ७ । २८-२९) । तत इति ॥ दोषाद्यनपेक्षया यो दण्डः क्रियते स बन्धुनृपनाशानन्तरं धन्व्यादिदुर्गराष्ट्रं देशं पृथिवीलोकं जङ्गमस्थावरसहितं 'हविः प्रदानजीवना देवाः' इति श्रुत्या हविःप्रदानाभावेऽन्तरिक्षगतानृषीन्देवांश्च पीडयेदिति ॥ २९ ॥

४७८ राजा ग्रामवालों को दण्ड दे ।

अव्रताश्चानधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः ॥ तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तददण्डवत् ॥ २२ ॥ (अ० स्मृ० श्लो० २२) ॥ व्रत और अध्ययनसे शून्य ब्राह्मण जिस ग्राममें भिक्षा मांगकर जीवन धारण करते हैं राजा उस ग्राम को अर्थात् उस ग्राम के अव्रत और निरक्षर ब्राह्मणों के पालनेवाले नगरवासियों को चोर को भात देनेवालेके दण्डके तुल्य (अर्थात् चौरको पोषण करनेवाले के दण्ड के तुल्य) दण्ड देवे ॥ २२ ॥ अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचराद्विजाः ॥ तं ग्रामं दंडयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः ॥६६॥ (पा० स्मृ० अ० १) । जिस ग्राम में व्रत से रहित और वेदाध्ययन से हीन ब्राह्मण भिक्षा मांगते हैं, राजा उन ग्राम वासियों को दण्ड दे, क्योंकि वह ग्राम चोरों को भात देनेवाला है ६६ अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचराद्विजाः ॥ तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः ॥ व० सं० अ० ३ ॥ जिस ग्राममें व्रतसे हीन अध्ययन से वर्जित ब्राह्मण भिक्षा मांग कर अपनी जीविका कर सकें, राजा उन ग्रामवासियों को दण्ड दे कारण कि, यह सब ग्रामवासी चोरों को आहार देकर उनका पालन करते हैं ।

४७९ दुर्वृत्तेषु दण्डकरणम् ।

तदवाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत् ॥ धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ॥ ३५४ ॥ (या० व० स्मृ० आ० रा० ध० प्र० १३) । तदेवंविधं राज्यं प्राप्य दुर्वृत्तेषु वञ्चकशठधूर्तपरद्रव्यापहारिहिंसकादिषु नृपो दण्डं पातयेत्प्रयोजयेत् । हि यस्माद्धर्म एव दण्डरूपेण पूर्वं ब्रह्मणा निर्मितः । तस्य च दण्ड इति गौणिकी संज्ञा—'दण्डो

---

(१) विवृतमेतत्सविस्तरं ३२१ तमपद्यटिप्पन्याम् ।

दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्' इत्यादिगौतमस्मरणात् ॥ ३५४ ॥ स नेतुं न्यायतोऽशक्यो लुब्धेनाकृतबुद्धिना ॥ सत्यसंधेन शुचिना सुसहायेन धीमता ॥ ३५५ ॥ स पूर्वोक्तो दण्डो लुब्धेन कृपणेनाकृतबुद्धिना चञ्चलबुद्धिना न्यायतो न्यायानुसारेण नेतुं प्रयोक्तुं शक्यो न भवति । कीदृशेन तर्हि शक्य इत्याह—सत्यसंधेनाप्रतारकेण । शुचिना जितारिषड्वर्गेण । सुसहायेन पूर्वोक्तसहायसहितेन । धीमता नयानयकुशलेन स दण्डो न्यायतो धर्मानुसारेण नेतुं शक्यः ॥ ३५५ ॥

४८० अन्यायदण्डनिषेधः ।

यथाशास्त्रं प्रयुक्तः सन् (१) सदेवासुरमानवम् ॥ जगदानन्दयेत्सर्वमन्यथा तत्प्रकोपयेत् ॥ ३५६ ॥ स दण्डः शास्त्रोक्तमार्गेण प्रयुज्यमानः सन् देवासुरमानवैः सहितं इदं सर्वं जगदानन्दयेत हर्षयेत् । अन्यथा शास्त्रातिक्रमेण प्रयुक्तश्चेज्जगत्प्रकोपयेत् ॥ ३५६ ॥ न केवलमधर्मदण्डेन जगत्प्रकोपः (२) अपितु प्रयोक्तुः प्रत्यवायमित्याह—अधर्मदण्डनं स्वर्गकीर्तिलोकविनाशनम् ॥ सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः (३) स्वर्गकीर्तिजयावहम् ॥ ३५७ ॥ यः पुनः शास्त्रातिक्रमेण लोभादिना दण्डः कृतः स पापहेतुत्वात्स्वर्गं कीर्तिं लोकांश्च विनाशयति । शास्त्रोक्तमार्गेण तु (४) कृतो धर्महेतुत्वात्स्वर्गकीर्तिजयानां हेतुर्भवति ॥ ३५७ ॥ अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा ॥ नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात् ॥ ३५८ ॥ अर्घ्योऽर्घार्हः आचार्यादिः । शेषः प्रसिद्धः । एते भ्रातृसुतादयोऽपि स्वधर्माद्विचलिता दण्ड्याः किमुतान्ये । यतः स्वधर्माद्विचलितः अदण्ड्यो नाम राज्ञः कोऽपि नास्ति । एतच्च मातापित्रादि-व्यतिरेकेण । तथाच स्मृत्यन्तरम्—'अदण्ड्यौ मातापितरौ (५) स्नातकपुरोहितपरिव्राजकवानप्रस्थाः श्रुतशीलशौचाचारवन्तस्ते हि धर्माधिकारिणः' इति ॥ ३५८ ॥

४८१ दण्ड्यदण्डनेन फलम् ।

यो दण्ड्यान्दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत् ॥ इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ३५९ ॥ किंच । यस्तु दण्ड्यान्स्वधर्मचलनादिना दण्डयोग्यान्सम्यक् शास्त्रदृष्टेन मार्गेण धिग्दण्डवाग्दण्डादिना दण्डयति, वध्यांश्च वधार्हान्घातयति तेन राज्ञा भूरिदक्षिणैः क्रतुभिरिष्टं भवति । बहुदक्षिणक्रतुफलं प्राप्नोतीत्यर्थः । नच फलश्रवणाद्दण्डप्रणयनं काम्यमिति मन्तव्यम् । अकरणे प्रायश्चित्तस्मरणात् । यथाह वसिष्ठः—'दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्त्रिरात्रं पुरोहितः कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितस्त्रिरात्रं राजा' इति ॥ ३५९ ॥ दुष्टे सम्यग्दण्डः प्रयोक्तव्य इत्युक्तं, दुष्टपरिज्ञानं च व्यवहारदर्शनमन्तरेण न भवतीति तत्परिज्ञानाय व्यवहारदर्शनमहरहः स्वयं कर्तव्यमित्याह—इति संचिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक् ॥ व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् ॥ ३६० ॥ इत्येवमुक्तप्रकारेण क्रतुतुल्यं फलं दण्ड्य-

---

(१) ऽसुरमानुषम् क (२) प्रकोपनमपितु क (३) स्वर्गं कीर्तिं लोकांश्च नाशयेत क
(४) कृतः सोऽपापहेतुत्वात् क ग (५) परिव्राजकपुरोहित ग ।

दण्डेन, स्वर्गादिनाशं चादण्ड्यदण्डेन सम्यग्विचिन्त्य पृथक्पृथग्वर्णादिक्रमेण सभ्यैर्वक्ष्यमाणलक्षणै परिवृतः प्रतिदिनं व्यवहारा (१) न्वक्ष्यमाणमार्गेण दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थं राजा स्वयं पश्येत् ॥३६०॥

४८२ त्रसरेण्वादिमानम् ।

कुलानि जातिः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि ॥ स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥ ३६१ ॥ (या० व० स्मृ० आ० अ० रा० ध० प्र० १३)। कुलानि ब्राह्मणादीनाम् । जातयो मूर्धावसिक्तप्रभृतयः । श्रेणयस्ताम्बूलिकादीनाम् । गणा (२) हेलाबुक्कादीनाम् । जानपदाः कारुकादयः । एतान्स्वधर्माच्चलितान्प्रच्युतान् राजा यथापराधं विनीय दण्डयित्वा पाथि स्वधर्मे स्थापयेत् । दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेदित्युक्तं सच दण्डो द्विविधः शारीरोऽर्थदण्डश्चेति । यथाहनारदः-'शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डो हि द्विविधः स्मृतः । शारीरस्ताडनादिस्तु मरणान्तः प्रकीर्तितः ॥ काठिन्यादिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्तस्तथैव च ॥' इति । द्विविधोऽप्यपराधानुसारेणानेकधा भवति । आह स्म-'शारीरो दशधा प्रोक्तो ह्यर्थदण्डस्त्वनेधा' इति ॥३६१॥

य एवं कुरुते राजा गुणदोष परीक्षणम् ॥ यशः स्वर्गंनृपत्वं च पुनः कोश च सोऽर्जयेत् ॥ (अ० स्मृ० श्लो० २७) ॥ जो राजा चारों वर्णों के उक्त धर्म को विचार कर उनके गुण दोष का विचार करता है, उसके राज्य की दृढता कोश (खजाने) का संचय होता है और उसको स्वर्ग प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

४८३ 

भोज क्षत्रिये ❀ ॥ भोज्या ॥ (सि० कौ० त० र० अ० प्र० पृ० १८२ पं० १९) ।

४८४ भोज-शब्द और ऋग्वेद ।

न भोजाममुर्नन्यर्थमीयुर्नरिष्यंतिनव्यथन्ते ह भोजाः ॥

इदंयद्विश्वंभुवनंस्वश्चैतत्सर्वंदक्षिणैभ्योददाति ॥ ३ ॥

भोजाजिग्युः सुरभियोनिमग्रेभोजाजिग्युर्वध्वंया सुवासाः ॥

भोजाजिग्युरन्तः पेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति ॥४॥

---

(१) वक्ष्यमाणधर्मेण क ।

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या३ शुम्भमाना ॥
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम् ॥ ५ ॥
भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः ॥
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता ॥ ११ ॥ ६ ॥

(ऋ० सं० ८ । ६ । ४)

४८५ राजा भोज और शुकदेव ।

ततः सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्य प्राह-'राजन्, कोऽपि शुकदेवनामा कविर्दारिद्र्यविडम्बितो द्वारि वर्तते' । राजा बाणं प्राह-'पण्डितवर, सुकवे, नत्त्व विजानासि ?' बाणः—'देव शुकदेवपरिज्ञानसामर्थ्याभिज्ञः कालिदास एव । नान्यः ।' राजा-'सुकवे, सखे कालिदास, किं विजानासि शुकदेवकविम् ।' इत्याह कालिदासः—'देव, सुकविद्वितयं जाने निखिलेऽपि महीतले । भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्त्रितयोऽनयो. ॥' ॥१८९॥ ततो विद्वद्वृन्दवन्दिता सीता प्राह-'काकाः किं किं न कुर्वन्ति क्रोङ्कारं यत्र तत्र वा । शुक एव परं वक्ति नृपहस्तोपलालितः ॥१९०॥ ततो मयूरः प्राह—अपृष्टस्तु नरः किंचिद्यो ब्रूते राजसंसदि । न केवलमसमान लभते च विडम्बनाम् ॥ १९१ । देव तथाप्युच्यते-का सभा किं कविज्ञानं रसिका कवयश्च के । भोज किं नाम ते दानं शुकस्तुष्यति येन स. ॥१९२॥ तथापि भवनद्वारमागत शुकदेवः सभायामानेतव्य एव । तदा राजा विचारयति । शुकदेवसामर्थ्यं श्रुत्वा हर्षविषादयोः पात्रमासीत् । महाकविरवलोकित इति हर्षः । अस्मै सत्कविकोटिमुकुटमणये किं नाम देयमिति च विषादः । 'भवतु । द्वारपाल, प्रवेशय ।' तत आयान्तं शुकदेवं दृष्ट्वा राजा सिंहासनादुदतिष्ठत् । सर्वे पण्डितास्त शुकदेवं प्रणम्य सविनयमुपवेशयन्ति । स च राजा तं सिंहासन उपवेश्य स्वयं तदाज्ञयोपविष्ट । ततः शुकदेवः प्राह—'देव, धारानाथ श्रीविक्रमनरेन्द्रस्य या दानलक्ष्मीस्त्वामेव सेवते । देव, मालवेन्द्र एव धन्यः नान्ये भूभुजः, यस्य ते कालिदासादयो महाकवयः मूत्रबद्धाः पञ्जिण इव निवसन्ति ।' ततः पठति-'प्रतापभीत्या भोजस्य तपनो मित्रतामयात् । और्वो वाडवतां धत्ते तडिन्क्षणिकतांगता' ॥ १९३ ॥ (सं० भा०) राजा विचारयति शुकदेवसामर्थ्यं श्रुत्वाहं हर्ष विषादयोः पात्रमास्म् । महाकविर्दृष्ट इतिहर्षं सत्कविकोटीना मुकुटमणये शिरोलंकारभूतायास्मै कवये किमहं दानं देयमिति विषादः । शुकः प्रशस्ति पठति । भोजस्य प्रतापभीत्या तपन. सूर्यो मित्रनाममद्दावः समुद्राग्निर्वाडवतां धत्ते तडिद्विद्युत्क्षणिकताङ्गता । अत्र तपतीति तपनः सूर्यः (अन्तर्भावितण्यर्थः) स एव भिद्यति स्निह्यतीति व्युत्पत्तिलभ्यगुण आसीत् । उर्वस्यापत्यं पुमानौर्वं "पुरोर्वनामा कश्चिदपिरासीत्तेनायोनिजपुत्रोत्पादनार्थं स्व ऊरुर्मथितस्तत्र ज्वालामयः कश्चित्पुरुषो जातस्तं समुद्रे क्षिप्तवान्" स और्वो वाडवतां साधारणब्राह्मणतां धत्ते तथा ताडय-

तीति तडिल्लक्षणिकृतां क्षणस्थायितां धत्ते मित्राद्य सूर्यादिपर्य्याया शब्दाः सन्तीति कोषादौ स्पष्टम् ॥ १९३ ॥

४८६ राजा भोज और ब्राह्मण।

काशीदेशवासी कोऽपि तण्डुलदेवनामा राज्ञे 'स्वस्ति' इत्युक्त्वातिष्ठत। राजा च तं पप्रच्छ—'सुमते, कुत्र, निवासः।' ताण्डुलदेवः 'वर्तते यत्र सा वाणी कृपाणीरिक्त-शाखिनः। श्रीमन्मालवभूपाल तत्र देशे वसाम्यहम्' ।१९४॥ सं० भा०) कृपाण्याः खड्गेन रिक्तं शाखि हस्तं यस्य स कृपाणी रिक्तशाखी भिक्षुपदवाच्यो व्यासस्तस्य वाणी ब्रह्म-सूत्रमयी यत्र भाष्यविवरणादिरूपेण वर्तते तत्र देशे वसामि अथवा कृपाणीति पृथक्पदं तेन रिक्तशाखिन शून्यहस्तस्य जनस्य यत्र वाण्येव कृपाणी खड्गरूपा वर्तते तत्र देशे वसाम्यह यत्रस्था शस्त्ररहिताः पण्डिताश्च भवन्ति तत्राहं वसामीति भावार्थ ॥ १९४ ॥

४८७ ब्राह्मण के शस्त्र।

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

जिह्वा। ज्या। भवति। कुल्मलम्। वाक्। नाडीकाः। दन्ताः। तपसा। अभिऽदिग्धाः। तेभिः। ब्रह्मा। विध्यति। देवऽपीयून्। हृत्ऽबलैः। धनुःऽभिः। देवऽजूतैः ॥ ८ ॥

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥
(अ० सं० ५। १८। ८-९)।

तीक्ष्णऽइषवः। ब्राह्मणाः। हेतिऽमन्तः। याम्। अस्यन्ति। शरव्याऽम्। न। सा। मृषा। अनुऽहाय। तपसा। मन्युना। च। उत। दूरात्। अव। भिन्दन्ति। एनम् ॥ ९ ॥ (सा० भा०)

४८८ राजाभोज और कुम्भारिन।

ततः कदाचित्कुम्भकारवधू राजगृहमेत्य द्वारपालं प्राह—'द्वारपाल राजा द्रष्टव्यः।' स आह—'किं ते राज्ञा कार्यम्'। सा चाह—'न तेऽभिधास्यामि। नृपाग्र एव कथयामि।' स सभायामागत्य प्राह—'देव, कुम्भकारप्रिया काचिद्राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षिणी न वक्ति मत्पुरः कार्यम्। भवत्पुरतः कथयिष्यति।' राजा—प्रवेशय।' सा चागत्य नमस्कृत्य वक्ति—'देव मृत्खननाद् दृष्टं निधानं वल्लभेन मे॥ स पश्यन्नेव तत्रास्ते त्वां ज्ञापयितुमभ्यगाम्॥१९५॥

राजा च चमत्कृतो निधानकलशमानयामास । तद्द्वारमुद्घाट्य यावत्पश्यति राजा तावत्तदन्तर्वर्तिदिव्यमणिप्रभामण्डलमालोक्य कुम्भकारं पृच्छति-'किमेतत्कुम्भकार ।' स चाह - 'राजचन्द्रं समालोक्य त्वां तु भूतलमागतम् । रत्नश्रेणिमिषान्मन्ये नक्षत्राण्यभ्युपागमन्' ॥ १७६ ॥ (भो० प्र०) राजा कुम्भकारमुखाच्छ्लोकं लोकोत्तरमाकर्ण्य चमत्कृतस्तस्मै सर्वं ददौ ॥

४८९ देवताओं का वस्त्रबुनना ।

सीसे॑न॒ तन्त्रं॒ मन॑सा मनी॒षिण॑ ऊर्णासू॒त्रेण॑ क॒वयो॑ वयन्ति ।
अ॒श्विना॑ य॒ज्ञꣳ स॑वि॒ता सर॑स्वती॒न्द्र॑स्य रू॒पं वरु॑णो भिष॒ज्यन् ॥ ८० ॥
(य० सं० १९ । ८०) ।

उ० खुरैर्वसाग्रहान्द्वात्रिंशतं जुहोति । सीसेनेति प्रत्यृचम् षोडश जगत्यः । यथेन्द्रस्य भैषज्यं क्रियते तथा आभिरुच्यते । यज्ञः पटेन रूप्यते प्रथमायामृचि । सीसेन ऊर्णासूत्रेण च तन्त्रमिव पूर्वापरैः सूत्रैर्दक्षिणोत्तरैश्च वयन्ति यज्ञम् । के वयन्ति । मनीषिणः मेधाविनः । कवयः कान्तदर्शनाः । मनसा पर्यालोच्य गुणत उक्त्वा अथेदानीं नामत आह । अश्विनौ सविता सरस्वती वरुणश्च । किमर्थं पुरस्कृत्य यज्ञं वयति इन्द्रस्य रूप भिषज्यम् ॥ ८० ॥ म० 'खुरैर्वसाग्रहान्द्वात्रिंशतं जुहोति सीसेनेति प्रत्यृचम्' (का० १९ । ४ । १२) । पञ्चपलो ग्रह इति परिशिष्टोक्तैः ऋषभपुराणां महावाचार्यैः खुरैः पशूनां वसां गृहीत्वा सीसेनेति प्रतिमन्त्रं द्वात्रिंशत्संख्यान्युग्रहान् जुहोति । एकेन मन्त्रेण द्वयोर्होम इत्यर्थः । अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः षोडश जगत्यः । 'जगतीभिर्जुहोति' (१२ । ८ । ३ । १२) इति श्रुतिबलाद्द्व्यक्षरन्यूनानामपि कासांचिज्जगतीत्वमेव । दस्रादिभिर्यथा इन्द्रस्य भैषज्यं कृतं तदनेनानुवाकेन प्रतिपाद्यते । अश्विना अश्विनौ उभौ सविता सरस्वती वरुणश्च मनसा विचार्य यज्ञं सौत्रामणीं वयन्ति निष्पादयन्ति । केन । सीसेन ऊर्णासूत्रेण च सीसेन शष्पक्रयणादूर्णया तोक्मक्रयणात् ताभ्यां यज्ञनिष्पादनमित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । सीसेन ऊर्णासूत्रेण च तन्त्रमिव यथा कश्चित्सीसेन धातुविशेषेण तन्त्रमङ्गदविशेषं वयति ऊर्णासूत्रेण च तन्त्रं पटं वयति तद्वत् 'तन्त्रं राष्ट्रे च सिद्धान्ते परच्छन्दाप्रधानयोः । अङ्गदे कुटुम्बकृते तन्तुवाने परिच्छदे' इति कोशात । कीदृशा अश्व्यादयः । मनीषिणः मेधाविनः । कवयः कान्तदर्शनाः । इन्द्रस्य रूपं भिषज्यन् भिषज्यन्तः 'भिषज् रुजये' कण्ड्वादित्वाद्यक् ततः शतृप्रत्ययः । वचनव्यत्ययः । इन्द्रभैषज्याय यज्ञं वयन्तीत्यर्थः ॥ ८० ॥

४९० वेद और कुविन्द ।

सर॑स्वती॒ मन॑सा पेश॒लं वसु॒ नास॑त्याभ्यां वयति द॒र्श॒तं वपुः॑ ।
रसं॑ परि॒स्रुता॒ न रोहि॑तं न॒ग्नहु॒र्धीर॒ स्त्सरं॒ न वेम॑ ॥ ८३ ॥
(य० सं० १९ । ८३) ।

उ०—सरस्वती मनसा। सरस्वती मनसा पर्यालोच्य। पेशलम्। पेश इति हिरण्यनाम रूपनाम च। हिरण्यवद्वा रूपवद्वा। वसु नासत्याभ्यां च सहिता वयति पटमिव सृजति दर्शतं वपुः दर्शनीयं वपुः शरीरम् इन्द्रस्य। रसं परिस्रुता न रोहितम्। सरं च परिस्रुता सरस्वती नासत्यामश्विभ्यां सहिता वयति। वपुषो रञ्जनार्थम्। अतो रोहित इन्द्रो वेदेषु पठ्यते। अथ तदा नग्नहुः किण्व धीरः धीमान्। तसरं न वेम तसरं च वेम च संपद्यते। नग्नहो. कर्तृत्वमात्रं विवक्षितम्। विवक्षातः कारकाणि भवन्ति। तसरं वेम च कुविन्दनां प्रसिद्धम्। तसरं वयनसाधनम्॥ ८३॥ म०—नासत्याभ्यामश्विभ्यां सहिता सरस्वती वसु धनं दर्शतं दर्शनीयं वपुश्च वयति पटमिव सृजति। इन्द्रस्येति शेषः। कीदृशं वसु। पेशलं पेश इति हिरण्यरूपयोर्नाम। पेशं लाति गृह्णाति पेशलं हिरण्यवद्रूपवद्वा। मनसा विचार्येति शेषः। परिस्रुता परिस्रुतः सुरायाः रोहितं रसं न रसं न रसं च वयति इन्द्रवपुषो रञ्जनाय। अतएव वेदेषु रोहित इन्द्र. पठ्यते। अथ तदा नग्नहुः किण्वः सुराकन्दः पूर्वोक्तः तसरं वयनसाधनं वेम न वेमा च भवति। तसरवेमानौ कुविन्दानां प्रसिद्धौ। कीदृशो नग्नहुः। धीर. धियमीरयति प्रेरयतीति धीरः। मादक इत्यर्थं। विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति वचनान्नग्नहोः कर्तृत्वं विवक्षितम्॥ ८३॥

४६१ राजा भोज और कुविन्द।

इति। ततो राजा मुख्यामात्यं प्राह—'अस्मै गृहं दीयताम्' इति। ततो निखिलमपि नगरं विलोक्य कमपि मूर्खममात्यो नापश्यत्, यं निरस्य विदुषे गृहं दीयते। तत्र सर्वत्र भ्रमन्कस्यचित्कुविन्दस्य गृहं वीक्ष्य कुविन्दं प्राह—'कुविन्द, गृहान्निःसरः। तव गृहं विद्वानेष्यति, इति। ततो तत. कुविन्दो राजभवनमासाद्य राजानं प्रणम्य प्राह—'देव, भवदमात्यो मां मूर्खं कृत्वा गृहान्निःसारयति, त्व तु पश्य अहम् मूर्खः पण्डितो वेति। "काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि, यत्नात्करोमि यदि चारुतरं करोमि॥ भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ हे साहसाङ्क कवयामि वयामि यामि।९४॥ सं० भा० ॥ काव्यं करोमि परं चारुतरं न करोमि यदि यत्नात्काव्यं कुर्य्यां तर्हियुक्ततममपि कुर्य्यां हे भूपाल? मौलिमणिमण्डितपादपीठ? भूपालानां राज्ञां मौलिमणिभिर्मस्तकमणिभिर्मण्डितं पादपीठं यस्य स भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठस्तत् सम्बुद्धौ भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ हे साहसाङ्क एतद्विरुदावलीविभूषित अहं कविरिवाचरतीति कवयति कविरिवाचरामि कवयामि तन्तुभिर्वस्त्रमपि निर्मिमे अद्य यामि गच्छामि ॥ ९४ ॥ तन्तुवायः कुविन्दः स्यात्। (अ० को० कां० २ शू० व० ११)। तन्तुवायः, कुविन्द., इति २ पटानां निर्मातरि। ततो राजा त्वंकारवादेन वदन्तं कुविन्दं प्राह—'ललिता ते पदपंक्तिः कवितामाधुर्यं च शोभनम् परन्तु कवित्वं विचार्य वक्तव्यम् इति। ततः कुपितः कुविन्दः प्राह-देव अत्रोत्तरं भाति। किं तु न वदामि राजधर्मः पृथग्विद्वद्धर्मात्' इति। राजा प्राह—अस्ति चेदुत्तरं ब्रूहि' इति—कुविन्दः प्राह—यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं-तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्। कासारे दिवसं वसन्नपि पयः पूरं परं पङ्किलं-कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः

॥६५॥ स० भा० ॥ कवित्वं विचार्य वक्तव्यं काव्यं युक्तायुक्तविचारेण विधेयम् । राजधर्मोऽदण्डदा-नादिरूपो विद्वद्धर्मोऽसत्यभाषणरूपात् । सरस्वत्या इदं सारस्वतं सारस्वतं तद्भवं सारस्वतभवं विद्यासम्पत्तिः गुरोः कृपा गुरुकृपा सैवपीयूषं गुरुकृपापीयूषं तस्य पाकेन परिणामेनोद्भवतीति गुरु-कृपापीयूषपाकोद्भवं गुरुकृपाप्राप्यं यद्विद्यावैशारद्यं तत्कविनैव लभ्यं गुरोः सकाशादधीनसाहित्य-विद्येनैव लभ्यं हठेन पाठपतिष्ठासेविभिर्नलभ्यं ये हठात्पाठमात्राभ्यासकारिणः सन्ति ते काव्यपरि-क्षका न भवन्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह कासारे सरसि समप्रदिनं वसन्नपि पयः पूरं मकरन्दयुक्तं कुर्वन्नपि सैरिभो महिषः कमल कोषस्य सौरभं किं लभते नैव लभत इत्यर्थः ॥ ९१ ॥

सऽइद्भोजोगृहवेददात्यन्नंकामायचरतेकृशाय ।
अरमस्मैभवतियामहूताऽउतापरीषुकृणुतेसखायं ॥ ३ ॥

(ऋ० सं० ८ । ६ । २२ । ३) ।

४६२ राजाभोज और मूर्खब्राह्मण ।

ततः कदाचिद्राजा मुख्यामात्यं प्राह—विप्रोऽपि योभवेन्मूर्खस्स पुराद्बहिरस्तु मे ॥ कुम्भकारोऽपि यो विद्वान्न तिष्ठतु पुरे मम ॥ ७३ ॥ इति । अतः कोऽपि न मूर्खोऽभूद्धा-रानगरे । (भो० प्र०) । सं० भा० ॥ यो मम पुरे मूर्खः स मे पुराद्बहिरस्तु कुम्भकारोऽपि यो विद्वान्भवेत्स तिष्ठतु ॥ ७४ ॥

४६३ विद्याब्राह्मणसंवादः



"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्" ॥ १ ॥

अथाप्येतमर्थमधिकृत्योदाहरन्ति—"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम"—इति । विद्या किल कामरूपिणी भूत्वा विद्याधिदेवता वा संयतात्मानं विदितवेदाद्धवेदार्थं ब्राह्मणं प्रति कश्चि-दाजगाम । तमेत्य प्रह्वीभूतोवाच । किम् इति ? "गोपाय मा" रक्ष माम् । ततः "ते" "अहं" गुप्ता सती "शेवधिः" भविष्यामि, सुखनिधानमित्यर्थः । आह-कुतः पुनस्त्वां रक्षामि ? उच्यते—"असूयकायानृजवेऽयताय" असूयकः परापवादशीलः । अनृजुः यस्य मनोवाग्दे-हेषु असमाः प्रवृत्तयः अयतः विप्रकीर्णेन्द्रियः यत्किञ्चनकारी अशुचिः । एवंलक्षणाय "न मा ब्रूयाः" त्वम् । किं तथा भविष्यति ? "वीर्य्यवती तथा" अह तव "स्याम्" भवेय-मित्यर्थः ॥ २ । ४ । १ ॥ (नि० अ० २ ख० ३ पृ० ११२ उ० वा०) ॥ निधिः शेवधिः ।
(या० व० स्मृ० आ० अ० रा० ध० प्र० १३) । यस्मादेव राज्ञामक्षयो निधिः शेवधिर्य-

द्ब्राह्मणेभ्य दीयते। निधि, शेवधि। अ० को० कां० १ स्व० व० व० ४। निधिः, शेवधिः, इति। सामन्यनिधेः।

य आतृणत्त्यावतथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।

तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाहं ॥ २ ॥

'य आतृणत्त्यवितथेन कर्णौ"। अधुना शिष्योपदेशमाह – य आतृणत्ति, आभिनत्ति, अपिहिताविव सन्तौ कर्णौ विवृणोति। अवितथेन, सत्येन ब्रह्मणा। कथं पुनरातुणत्ति? "अदुःख कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्"। यो हि किञ्चिदातृणत्ति, स दुःखयति, अयं पुनः सुखमातृणत्ति। (१) किञ्च, अमृतत्वप्राप्तिहेतु ज्ञानं सम्प्रयच्छन्। आह—य आतृणत्ति· तस्मै किम् इति? उच्यते—"तं मन्येत पितरं मातरं च" नेतरौ मातापितराविल्यभिप्रायः। उक्तं च, —"उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ॥ (२) ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् (म० सं० २, १४६)"। "तस्मै" मातापितृभूताय गुरवे "न द्रुह्येत"। "कतमच्चनाऽह"—कदाचिदपि आपद्यपि कष्टायामित्यभिप्रायः ॥ २। ४। २ ॥

"अध्यापिता ये गुरु नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।

यथव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्" ॥३॥

अधुना इतरान् दुष्टशिष्यान् अभिशपन्तो विद्या इदमाह,-"अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते' इत्यादि। अध्यापिताः सन्तो ये गुरुं प्रति नाद्रियन्ते नादरं कुर्वन्ति ॥ के पुनस्ते इति? उच्यते- "विप्राः" मेधाविनः सन्तो गृहीतविद्याः ॥ कथं पुनर्नाद्रियन्ते? "वाचा मनसा कर्मणा वा" ॥ आह-किं तेषाम् इति? उच्यते-"यथैव" 'ते" तस्य "गुरोः" 'न' "भोजनीयाः" न भोज्याः, न भोजनार्हाः, "तथैव" "तान्" "तत्" "श्रुतम्" अपि "न भुनक्ति" न पालयति, श्रुतफलेन न संयुनक्तीत्यर्थः ॥ २। ४। ३ ॥

"यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्निति"।

निधि शेवधिरिति ॥४॥४॥ अधुना यस्मै वक्तव्या, तस्य लक्षणं ब्रवीति-"यमेव" "विद्या" जानीयाः, त्वम् "शुचिमप्रमत्तम्" यमनियमेषु। "मेधाविनं" च "ब्रह्मचर्य्योपपन्नम्"। किञ्च, "यः ते न द्रुह्येत्" न द्रोहमुपगच्छेत्। "कतमच्चनाह" कदाचिदपि सर्वास्वप्यापत्सु "तस्मै मा" माम् "ब्रूयाः" त्वम् "निधिपाय" गोप्त्रे "ब्रह्मन्!" ॥ आह- 'निधिः" कः? इति उच्यते—"शेवधिः" "इति शेव इति सुखनाम, सुखनिधानमित्यर्थः (३) ब्रह्मकोशो हि निधि· सुखानां कृत्स्नस्य जगतो यज्ञद्वारेण, अत इदमुक्तं निधिः शेवधिरिति ॥ २। ४। ४ ॥ (नि० अ० २ खं० ४ उ० धा०)

---

(१) 'किं वा' ॥ (२) "प्रेत्य चेह च विप्रस्य ब्रह्मजन्म हि शाश्वतम्"। (३) 'ब्रह्मलोको हि नि' ॥

(अथ वर्ज्यशिष्यनिरूपणम्)

(क) नावैयाकरणाय ॥ ५ ॥

उक्तं निर्वचनलक्षणम्. अधुना यस्मै निर्वक्तव्योऽयमुक्तनिर्वचनलक्षण समाम्नाय., तस्य लक्षणं वक्तव्यमिति तदर्थमिदमारभ्यते—"नावैयाकरणाय" । यस्तावदवैयाकरणः, तस्मै न निर्वक्तव्योऽयं समाम्नायः, न ह्यसावलक्षणज्ञत्वात् व्युत्पाद्य निरुच्यमानमेतद् बुध्येत, ततो व्यर्थ एव श्रमः स्यादिति ॥ २ । ३ । ५ ॥

(नि० अ० २ खं० ३ उ० भा०) पृ० १११

(ख) नानुपसन्नाय ॥ ६ ॥

किंच, "नानुपसन्नाय" । (१) किमपि महदद्भुतमनेन कृतं यद् व्याकरणमधीतमिति, एतावता गौरवेण वैयाकरणायापि न निर्ब्रूयात्. धर्मो हि स्वर्थैवापरित्याज्यः, तस्माद् वैयाकरणायापि सम्यगुपसन्नाय परां शिष्यवृत्तिमास्थितायैव निर्ब्रूयात् ।२।३।६॥

(ग) अनिदंविदे वा ॥ ७ ॥

नैवमेव, किञ्च, "अनिदंविदे वा" । (२) अनिदंविदे वा वैयाकरणोऽपि जडः कश्चिदसमर्थ एव वेदितुं स्यात्, बहु वेदितव्यमत्रास्ति, देवतादि किञ्चित् । तस्मै वैयाकरणायापि इदं वेदितुमसमर्थाय अनिदंविदे नैव निर्ब्रूयात् । अथवा इदमित्यात्मपर्यायवाचि । इदंविदे आत्मविदे, योगिने । स ह्यात्मज्ञानविधूतकल्मषोऽल्पेनैव यत्नेन बोद्धु सूक्ष्मानर्थान् शक्त इति इदंविदे निर्ब्रूयात् । अथवा-यत्किञ्चिच्छास्त्रमिदमिति निर्दिश्यते । येन ह्यन्यत् किञ्चिदश्रुतपूर्वं शास्त्रं तस्मै न निर्ब्रूयादिदं निरुक्तशास्त्रमनास्कन्दितहृदयकुड्मलाय ॥२।३।७॥

(घ) नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया ॥ ८ ॥

किं कारणम् ? "नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया," । यो हि न विजानाति नावबुध्यते तस्याविज्ञातुर्नित्यकालमेव विज्ञाने असूया, स ह्यनवबुध्यमान आत्मीयं दोषमाचार्य्ये एवावसृजति,—स्वयमेव तावदयं नावबुध्यते किमस्मान् बोधयिष्यतीति । एतस्मात् कारणादश्रुतपूर्वान्यशास्त्राय(३)खिन्नमनसे नेदं निर्ब्रूयात् ॥ २ । ३ । ८ ॥

(अथ ग्राह्यशिष्यनिरूपणम्)

उपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद्यो वाऽलं विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा ॥ ६ ॥ ३ ॥

'उपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद् यो वाऽलं विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा" । य एव तु मेधावी स्यात्-अन्यजन्मान्तरानुभावितया प्रज्ञया युक्तः, यो वा तपस्वी, कामं ताभ्यामवैयाकरणाभ्यामपि निर्ब्रूयादेव,—न हि तयोरसाध्यं किञ्चिदस्ति,—तपसा हि स्वयमपि वेदार्थः प्रादुर्भवेदेव । यथा मन्त्राः प्रादुरभूवन् पूर्वेषामृषीणाम् । मेधाव्यपि च स्वयमप्युत्प्रेक्षितुं शक्नुयात्, किमुतोच्यमानमवबोद्धुम् । यो वान्यः कश्चिदलं पर्य्याप्तो विज्ञातुमेतच्छास्त्रं भवेत्,

---

(१) 'किमपि' ॥ २ कस्मिंश्चित्पुस्तके-'तस्मै वैयाकरणायापि इदं वेदितुमसमर्थाय अनिदंविदे नैव निर्ब्रूयात् । अनिदंविदेव वैयाकरणोऽपि जडः कश्चिदसमर्थ एव वेदितुं स्यात्, बहुवेदितव्यमत्रास्ति, देवतादि किञ्चित् ।' इतीत्थ पाठव्यत्ययो दृश्यते । ३ 'य खि' ॥

दृढग्राही स्थिरबुद्धिः, तस्मै निर्ब्रूयादेव सर्वथा यतात्मने विदितवेदाङ्गाय वेदार्थं ब्राह्मणाय। अनुपसन्नाय नैव निर्ब्रूयात्, यद्यपि तपस्वी, मेधावी दृढग्राही वा ॥

उक्तंहि —

"यश्चान्यायेन निर्ब्रूयाद्यश्चान्यायेन पृच्छति।
तयोरन्यतरो मृत्युं विद्वेषं वाऽधिगच्छति" ॥ इति ॥ २।३।९॥ *

(नि० अ० २ ख० ३ उ० घा० पृ० ११२)

"विद्याहवै ब्राह्मणमाजगामगोपायमाशेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेयतायनभाब्रूयावीर्यवतीतथास्याम् ॥" इतिश्रुत्युक्तेर्गोप्यमित्यर्थः ॥ (सू० सि० अ० १ श्लो० ३ के भाष्य मे)।

विद्या ह वैब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्। य आतृणत्यवितथेन कर्मणा बहुदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियंते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्। यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्तेन द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्निति ॥ दहत्यग्निर्यथा कक्षं ब्रह्म त्वव्दमनादृतम्। न ब्रह्म तस्मै प्रब्रूयाच्छक्यमानमकृंतत इति ॥ (व० स्मृ० अ० २)।

विद्या ब्राह्मण के पास जाकर बोली, मुझको रक्षा कर मैं तेरा धन हूं निंदक कठोर तथा व्रतहीन मनुष्यके लिये मुझे न दे। जैसे मैं वीर्यवती होऊँ। जो मनुष्य बहुत सा परिश्रम कर सम्पूर्ण कर्मों के द्वार ढक कर भी अत्यन्त सुख मानता है उस गुरु को माता और पिता मानें, उसके साथ कभी भी किसी भी प्रकार का द्रोह न करे, जो संपूर्ण ब्राह्मण पढ़ कर मन, वचन, और कर्म से गुरु का सन्मान नहीं करते वह जिस भांति गुरु के उपकार में नहीं आते उसी भांति शास्त्र ज्ञान भी नहीं उनको स्पर्श नही कर सकता और वह ब्राह्मण जिसको शुद्ध अप्रमत्त, बुद्धिमान और ब्रह्मचारी समझे और जो मनुष्य "मैंने किसी के निकट उपदेश नहीं पाया' यह कह कर गुरु से द्रोह न करे (हेब्रह्मन्!) उस निधि रक्षक के निकट मुझे दीजिये अग्नि जिस प्रकार तृण को दग्ध करती है उसी प्रकार अनादर किया ब्राह्मण भी दग्ध करता है, इस कारण उस अनादर के करने वाले को शक्ति भर ब्रह्म (वेद) का उपदेश न करे, यह वेद वचन है ॥

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा। त्रयोवर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः। तेषां मातुरग्रेऽधिजनन द्वितीयं मौंजीवन्धनं तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। वेदप्रदानात्पितेत्याचार्यमाचक्षते।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चार वर्ण है, इन में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य यह तीन द्विजाति हैं; इन तीनों का पहला जन्म माता से और दूसरा जन्म यज्ञोपवीत से होता

है, दूसरे जन्म में गायत्री माता है और आचार्य पिता कहा गया है, आचार्य वेद को पढ़ाता है, इस कारण आचार्य को पिता कहा गया है।

अथाप्युदाहरंति—

द्वियमिह वै पुरुषस्य रेतो ब्राह्मणस्योर्ध्वं नाभेरर्वाचीनं मन्येत नयदूर्ध्वं नाभेस्तेनास्यानौरसी प्रजा जायते। यदुपनयति जनन्यां जनयति यत्साधु करोति। अथ यदर्वाचीनं नाभेस्तेनास्यौरसी प्रजा जायते तस्माच्छ्रोत्रियमनूचानमप्रजोऽसीति न वदंतीति हारीतः॥

इसमें भी यह वचन है कि पुरुष के शरीर के दो भाग हैं जिसमें ब्राह्मण के देह का नाभि के ऊपर का भाग और एक नाभि के नीचे का भाग है, जो भाग नाभि के ऊपर का है इससे इस मनुष्य के अनौरसी प्रजा होती है कि जो यज्ञोपवीत होता है और जननी (गायत्री) में उत्पन्न करता है वही अच्छा करने वाला है और जो नाभि के नीचे का भाग है जिससे मनुष्य के औरस से प्रजा होती है, इस कारण वेदपाठी और विद्या में बड़े को "तू अप्रज है" यह वचन नहीं कहे, ऐसा हारीत ऋषि का वचन है।

अथाप्युदाहरंति॥ न ह्यस्य विद्यते कर्म किंचिदामौंजीबंधनात्।
वृत्त्या शूद्रः समो ज्ञेयो यावद्वेदेन जायते।
अन्यत्रोदककर्म स्वधापितृसंयुक्तेभ्यः॥ (व० स्मृ० अ० २)।

इस में बड़े महर्षि यह कहते हैं कि यज्ञोपवीत से प्रथम इसको कोई कर्म का अधिकार नहीं है जब तक यह वेद में उत्पन्न नहीं होता तब तक जलदान स्वधा पितरों का संयोग इनके अतिरिक्त और सब आचरण में शूद्र के समान जानना॥

४६४ असच्छिष्योनाध्याप्यः

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा॥ तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥ ११२॥ धर्मार्थाविति॥ यस्मिन् शिष्येऽध्यापिते धर्मार्थौ न भवतः परिचर्या वाध्ययनानुरूपा तत्र विद्या नार्पणीया। सुष्ठु व्रीह्यादिबीजमिवोषरे। यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति ऊपरः न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयम्, यतो तावन्मात्रं दीयते तदेनाध्यापयामीति नियमाभावात्॥११२॥ विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना॥ आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥ ११३॥ विद्ययेति॥ विद्ययैव सह वेदाध्यापकेन वरं मर्तव्यं ननु सर्वथाध्यापनयोग्यशिष्याभावे चापात्रायैव प्रतिपादयेत। तथा चान्दोग्यब्राह्मणम् 'विद्यया सार्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत' ॥ ११३॥ विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्। असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ ११४॥ विद्या ब्राह्मणमिति॥ विद्याधिष्ठात्री देवता कंचिदध्यापकं ब्राह्मणमागत्यैवमवदत्। तवाहं निधिरस्मि। मां रक्ष। असूयकादिदोषवते न मां देयः तथा सत्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम्। तथा च छान्दोग्यब्राह्मणम्—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालयानर्हते मानिने नैव मादा गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मि' इति॥ ११४॥

४९५ सच्छिष्याय विद्या दातव्या ।

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ॥ तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥ (म०स्मृ०अ०२।१२–१५) । यमिति ॥ यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि तस्मै विद्यारूपधिरक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद ॥११५॥ (कु०भ०)

२ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २३ २ ३२३ १ २ ३१
यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः । तिरश्चिदर्थे रुशमे पवीरवि तुभ्येसो
२ ३ २
अज्यते रयिः ॥ (सा० सं० उ० अ० अ० १६ खं० ४ पृ० ८२०) । ऋ० उरुष्टिगु० छ० प्रगाथः दे० सोम । अथ यस्यायमिति प्रगाथात्मक तृतीयं सूक्तम् तत्र प्रथमा । यस्य यज्ञस्य ययं विश्वः सर्वो लोकः आर्य्यः प्रभुरपि शेवधिपा निधिपालकः विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमास्मि इति (ऋ० वे० ९, २, २२, ४) मन्त्रान्तरे पठितत्वात । दासः भृत्य इव अरिः भवति स यज्ञः आर्य्ये स्वामिनि रुशमे नियन्तरि पविरवी सरस्वत्या पितरि पवीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती इत्युक्तम् (नि०) तिरश्चित् तिरोभूतोऽपि तुभ्येत् हे इन्द्र ! तुभ्यमेव रयिं हविर्लक्षण धनमुद्दिश्य अज्यते प्राप्तो भवति अयमभिप्रायः विप्रक्षत्रादिकः सर्वो लोकः बृहस्पतिः स च राजसूयादिरूपस्य यज्ञस्य भृत्या वर्द्धते स तादृशो यज्ञो मन्त्ररूपायाः सरस्वत्याः पितृस्थानीये परमेश्वरस्वरूपे गूढोऽपि सन् हे इन्द्र ! त्वदर्थमेवं हविर्दातुं प्रकटी भवति तथाविधस्तव महिमेति ॥ १ ॥ (सा० आ० भा०)

४९६ ब्राह्मण एव क्षत्रियादीनध्यापयेत् ।

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ॥ प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥ अधीयीरन्निति ॥ वैश्यशूद्रधर्मानन्तरं 'सङ्कीर्णानां च सम्भवम्' इति प्रतिज्ञातत्वात्तस्मिन्वाच्ये वर्णेभ्य एव संकीर्णानामुत्पत्ते. वर्णानुवादार्थं त्रैवर्णिकस्य प्रधानधर्ममध्ययमं ब्राह्मणस्य चाध्यापनमनुवदति । ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा अध्ययनानुभूतस्वकर्मानुष्टातारो वेदं पठेयुः । एषां पुनर्मध्ये ब्राह्मण एवाध्यापन कुर्यान्न क्षत्रियवैश्यावित्ययं निश्चयः । प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषामित्यनेनैव क्षत्रियवैश्ययोरध्यापननिषेधसिद्धौ नेतराविति पुनर्निषेधवचनं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १ ॥ सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथाविधि ॥ प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥ किंच ॥ सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां वर्णानां जीवनोपायं यथाशास्त्रं ब्राह्मणो जानीयात्तेभ्यश्चोपदिशेत्स्वं च यथोक्तवन्नियममनुतिष्ठेत् ॥ २ ॥ अत्रानुवादः—

४९७ ब्राह्मणस्यैव प्रभुत्वम् ।

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्॥ संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभु ॥ ३ ॥ वैशेष्यादिति ॥ जात्युत्कर्षात्, प्रकृतिः कारणं हिरण्यगर्भोत्तमांगरूपकारणोत्कर्षात्, नियम्यतेऽनेनेति नियमो वेदस्तस्याध्ययनाध्यापनव्याख्यानादियुक्तसातिशयवेदधारणात् । अत एव 'ब्रह्मणश्चैव धारणात्' इति सातिशयवेदधारणेनैव ब्राह्मणोत्कर्ष उक्त । गोविन्दराजस्तु स्नातकव्रतानां धारणादिति व्याख्यातवान् । तन्न क्षत्रियादिसाधारण्यात् । संस्कारस्योपनयनाख्यस्य क्षत्रियाद्यपेक्षया प्राधान्यविधाने विशेषाद्वर्णानामध्यापनवृत्त्युपदेशयोः ब्राह्मण एवेश्वरः ॥ ३ ॥

४९८ ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः॥ चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥ ४॥ (म० स्मृ० १०।१-४) ब्राह्मण इति॥ ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा द्विजाः, तेषामुपनयनविधानात्। शूद्रः पुनश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः, उपनयनाभावात्। पञ्चमः पुनर्वर्णो नास्ति। संकीर्ण जातीनां त्वश्वतरवन्मातापितृजातिव्यतिरिक्तजात्यन्तरत्वान्न वर्णत्वम्। अयं च जात्यन्तरोपदेशः शास्त्रे संव्यवहरणार्थः॥ ४॥ (कु० भ०)

४९९ बीजादि।

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत्॥ १२२॥ (सां० ष० अ० १। सू० १२२ पृ० ८१)। पारम्पर्यतः परम्परारूपेणैवाभिव्यक्तेरनुधावनं कर्त्तव्यम्। बीजाङ्कुरवत् प्रामाणिकत्वेन चास्या अदोषत्वादित्यर्थः। बीजाङ्कुराभ्यां चात्रायमेव विशेषो, यद् बीजाङ्कुरस्थले क्रमिकपरम्परमानवस्था, अभिव्यक्तौ चैककालीनपरम्परयेति। प्रामाणिकत्वन्तु तुल्यमेवेति। सर्वकार्याणां स्वरूपतो नित्यत्वमवस्थाभिर्विनाशित्वं चेति पातञ्जलभाष्ये वदद्भिर्व्यासदेवैरपीयमनवस्था प्रामाणिकत्वेन स्वीकृतेति। अत्र च बीजाङ्कुरदृष्टान्तो लोकदृष्टयोपन्यस्तः। वस्तुवस्तु जन्मकर्मादिवदित्यत्रैव तात्पर्यम्। तेन बीजाङ्कुरप्रवाहस्यादिसर्गेऽवधिकत्वेनानवस्थाविरहेऽपि न क्षतिः। आदिसर्गे हि वृक्षं विनैव बीजमुत्पद्यते हिरण्यगर्भसंकल्पेन तच्छरीरादिभ्य इति श्रुतिस्मृत्योः प्रसिद्धम् - यथा हि पादपो मूलस्कन्धशाखादिसंयुत.। आदिबीजात् प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः, इति विष्णुपुराणादि वाक्यैरिति॥ १२२॥

५०० जीवन्मुक्ति और अन्धपरम्परा।

जीवन्मुक्तश्च॥ ७८॥ जीवन्मुक्तोऽपि मध्यविवेकावस्थ एव भवतीत्यर्थः॥ ७८॥ जीवन्मुक्ते प्रमाणमाह—उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः॥ ७९॥ शास्त्रेषु विवेकविषये गुरुशिष्यभावश्रवणाज्जीवन्मुक्तसिद्धिरित्यर्थः। जीवन्मुक्तस्यैवोपदेष्टृत्वसम्भवादिति॥ ७९॥ श्रुतिश्च॥ ८०॥ श्रुतिश्च जीवन्मुक्तेऽस्ति—दीक्षयैव नरो मुच्येत तिष्ठेन्मुक्तोऽपि विग्रहे। कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमेद् घट.॥ ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्यादिरिति॥ नारदीयस्मृतिरपि—पूर्वाभ्यासबलात् कार्यं न लोको न च वैदिकः। अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते, इति॥ ८०॥ ननु श्रवणमात्रेणाप्युपदेष्टृत्वं स्यात तत्राह॰ इतरथान्धपरम्परा॥ ८१॥ इतरथा मन्दविवेकस्याप्युपदेष्टृत्वेऽन्धपरम्परापत्तिरित्यर्थः। सामान्येणात्मतत्त्वमज्ञात्वा चेदुपदिशेत कस्मिंश्चिदंशे स्वभ्रमेण शिष्यमपि भ्रान्तीकुर्यात। सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यमित्येवमन्धपरम्परेति॥८१॥ ननु ज्ञानेन कर्मक्षये सति कथं जीवनं स्यात, तत्राह— चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः॥ ८२॥ कुलालकर्मनिवृत्तावपि पूर्वकर्मवेगात् स्वयमेव नियतकालं चक्रं भ्रमति। एव ज्ञानोत्तरं कर्मोनुत्पत्तावपि प्रारब्धकर्मवेगेन चेष्टमानं शरीरं धृत्वा जीवन्मुक्तस्तिष्ठतीत्यर्थः॥ ८२॥

ननु ज्ञानहेतुसम्प्रज्ञातयोगेन भोगादिवासनाक्षये कथं शरीरधारणम्। नच योगस्य संस्काराभिभावकत्वे किं मानम्? इति वाच्यम्। व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ

निरोधपरिणाम इति योगसूत्रस्तत्सिद्धेः। चिरकालीनस्य विषयान्तरावेशस्य विषयान्तरसंस्काराभिभावकतया लोकेऽप्यनुभवाच्चेति तत्राह—

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥ ८३ ॥ शरीरधारणहेतवो ये विषयसंस्कारास्तेषामल्पावशेषात् तस्य शरीरधारणस्य सिद्धिरित्यर्थः। अत्र चाविद्यासंस्कारलेशस्य सत्ता नापेक्ष्यते। अविद्या या जन्मादिरूपकर्मविपाकाऽऽरम्भमात्रे हेतुत्वात्। योगभाष्ये व्यासैस्तथा व्याख्यातत्वात्। वीतरागजन्मादर्शनादिति न्यायाच्च। न तु प्रारब्धफलककर्मभोगेऽपीति। यत्र च नियमेनाविद्यापेक्ष्यते स प्रयासविशेषरूपो भोगो मूढेष्वेवास्ति। जीवन्मुक्तानां तु भोगाभास एवेति प्रागुक्तम्। यत्तु कश्चिदविद्यासंस्कारलेशोऽपि जीवन्मुक्तस्य तिष्ठतीत्याह। तन्न। धर्माधर्मोत्पत्तिभङ्गाद्‌ अन्धपरम्पराप्रसङ्गात्। अविद्यासंस्कारलेशसत्ताकल्पने प्रयोजना भावाच्च। एतच्च ब्रह्ममीमांसाभाष्ये प्रपञ्चितमिति ॥ ८३ ॥

शास्त्रवाक्यार्थमुपसंहरति —

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥ ८४ ॥ (सां० द० अ० ३ सू० ७८-८४) उक्ताया विवेकसिद्धितः परवैराग्य द्वारा सर्ववृत्तिनिरोधेन यदा निशेषतो बाधिताबाधितसाधारण्येनाखिलदुःखं निवर्त्तते तदैव पुरुषः कृतकृत्यो भवति। नेतराज्जीवन्मुक्त्यादेरपीत्यर्थः नेतरादिति वीप्साऽध्यायसमाप्तौ ॥ ८४ ॥

अत्यन्तलयपर्यन्तः कार्योऽव्यक्तस्य नात्मनः।
प्रोक्त एवं विवेकोऽत्र परवैराग्यसाधनम् ॥ १ ॥

इति श्री विज्ञानभिक्षुनिर्मिते कापिलसाङ्ख्यप्रवचनस्य भाष्ये वैराग्याध्यायस्तृतीयः ॥ ३ ॥

५०१ भेड़चाल।

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ॥ ३७३ ॥ (पं० तं० क० १५)।

एक का कुत्सित कर्म देखकर दूसरे भी वैसा करतेहैं, लोक की भेडचाल है परमार्थ की नहीं ॥ ३७३ ॥

स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च ॥ नहि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥ ७१ ॥ सेवक और गहना अपने २ स्थान ही पर लगाया जाता है। चूडामणि पैर में नहीं लगाया जाता है और पावजेब शिर पर नही पहना जाता है ॥७१॥ कनकभूषणसग्रहणोचितो यदिमणिस्त्रपु प्रणि धीयते। न स विरौति न चापि विशोभते भवतियोजयितुर्वचनीयता ॥ ७२ ॥ यदि सुवर्ण के गहने में लगाये लायक मणि रांग मे लगाई जाय तो न वह मणि कुछ कहता है और न शोभता है किन्तु जड़ने वाले की निन्दा होती है ॥७२॥ मुकटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः। नहि दोषो मणेरस्ति किन्तु साधोरविज्ञताः ॥७३॥ (हि० उ०) यदि मुकट मे काच लगाया जाय और पॉव के गहने मे मणि लगाई जाय तो उसमें मणि का कुछ दोष नहीं है किन्तु लगाने वाले का दोष है ॥७३॥ ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥१४॥ यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति विभक्तिर्द्वयी नामिक्याख्यातिकी च ब्राह्मणः पचतीत्युदाहरणम्। उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसंज्ञाः

लक्षणान्तरं वाच्यम् इति। शिष्यते च खलु नामिकया विभक्तेरव्ययाल्लोपः तयोः पदसंज्ञार्थमिति। पदेनार्थसंप्रत्य इति प्रयोजनम्। नामपदं चाधिकृत्य परीक्षा गौरिति पदं खल्विदमुदाहरणम्। (वा० भा०)।

भा:०—इन वर्णों के अन्त में यथा शास्त्रानुसार विभक्ति होने से इनका नाम 'पद' होता है। विभक्ति दो प्रकार की होती है, एक 'नामिकी' और दूसरी 'आख्यातिकी' जो संज्ञा कियी जाती उसका नाम 'नामिकी' है जैसे 'ब्राह्मणः' यहां ब्राह्मण नाम (NOUN) है और विसर्ग (:) विभक्ति है। जो धातु के आगे आती वह 'आख्यातिकी' विभक्ति कही जाती है जैसे 'पचति'। यहां 'पच' धातु से 'ति' प्रत्यय हुआ है। इस वाक्य का अर्थ 'ब्राह्मण पकाता है' हुआ। इस पर शंका करते हैं कि जो 'विभक्त्यन्त' को पद कहेंगे, तो 'उपसर्ग' 'निपात' की 'पदसंज्ञा' न होगी क्योंकि उनके अन्त में विभक्ति नहीं रहती है। 'उपसर्ग'— जैसे 'प्र', 'पर', 'अप' इत्यादि। 'निपात' जैसे 'च' 'वा' 'ह' इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि इनके अन्त में भी पहिले विभक्ति रहती है। पर उसका अव्यय से परे होने के कारण लोप हो जाता है। नहीं तो इनकी पद संज्ञा कैसे हो? अर्थ का बोध पद से होता है अतएव 'पद' संज्ञा का होना आवश्यक है ॥ ५५ ॥

५०२ ब्राह्मणः स्वशक्त्यैवापकारिणं नयेत्।

न ब्राह्मणो वेदयेत किंचिद्राजनि धर्मवित् ॥
स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

नेति ॥ धर्मज्ञो ब्राह्मणः किंचिदप्यपकृत न राज्ञः कथयेत्। अपि तु स्वशक्त्यैव वक्ष्यमाणाभिचारादिनापकारिणो मनुष्यान्निगृह्णीयात्। ततश्च स्वकीयधर्मविरोधादपकृष्टापराधकरणे सत्यभिचारादि न दोषायेत्येवंपरमेतत्। न त्वभिचारो विधीयते राजनिवेदनं वा निषिध्यते ॥ ३१ ॥

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्।
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्विजः ॥ ३२ ॥

स्ववीर्यादिति ॥ यस्मात्स्वसामर्थ्याद्राजसामर्थ्याच्च पराधीनराजसामर्थ्यापेक्षया स्वसामर्थ्यमेव स्वाधीनत्वाद्बलीयः। तस्मात्स्वेन वीर्येणैव शत्रून्ब्राह्मणो निगृह्णीयात् ॥ ३२ ॥

तत्किं स्ववीर्यमित्याह—

५०३ तां शक्तिमेवाह।

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ॥
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्विजः ॥३३॥ (म० स्मृ० ११।३१-३३)
[तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते] ॥

श्रुतिरिति ॥ अथर्ववेदस्य आङ्गिरसीर्दुष्टाभिचारश्रुतीरविचारयन्कुर्यात् । तदर्थमभिचारमनुतिष्ठेदित्यर्थः । यस्मादभिचारमन्त्रोच्चारणात्मिका ब्राह्मणस्य वागेव शस्त्रकार्यकरणाच्छस्त्रं तेन ब्राह्मणः शत्रून्हन्यान्न तु शत्रुनियमाय राजा वाच्यः ॥ ३३ ॥ (कु० भ०)

५०४ वंशके नाम ।

संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ वंशो वंशोऽन्ववायसंतान ॥ अ० को० ब्र० व० का० २ । ब्र० व० ॥

कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ॥ ४ । ४ । ७२ ॥ भा०—तत्रेत्येव । वंशकठिने व्यवहरति वंशकठिनिकः । वंशा वेणवः कठिना यस्मिन्देशे स वंशकठिनस्तस्मिन्देशे या क्रिया यथानुष्ठेया तां तथैवानुतिष्ठतीत्यर्थ । प्रास्तारिकः सांस्थानिक. ॥ सि० कौ०

५०५ उन्नति करो ।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्राह्मणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १ ॥

(सा० स० ऐं० प० अ० ३ खं० १२ पृ० १८३) ।

इहाष्टविंशतिऋचौ गायन्तित्वेत्यनुष्टुभ. । यदीवहन्तीत्यनया स्तूयन्ते मरुतोऽत्र हि ॥ ईङ्ख्तिोऽग्निर्दधिक्राया दधिक्राव्णो इति हृचा । वयश्चिदित्युपस्येयं वैश्वदेवीत्यमी इति ।। ऋक्सामयोः स्तुतिर्ऋचंसामेत्यैन्द्र्योऽपरऋचः । समाख्या प्राणभृन्न्यायादिति पूर्वमुदीरितम् ॥ अथ द्वादशे खण्डे—सैषा प्रथमा । मधुच्छन्दा ऋषि । हे शतक्रतो बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वेन्द्र ! त्वा त्वां गायत्रिणः उद्गातारः गायन्ति स्तुवन्ति । अर्किणोऽर्चनहेतुमन्त्रयुक्ता होतारः अर्कम् अर्चनीयमिन्द्रं अर्चन्ति शास्त्रगतैर्मन्त्रैः प्रशंसन्ति । ब्रह्माणो ब्रह्मप्रभृतय इतरे ब्राह्मणाः त्वा त्वाम् उद्येमिरे उन्नति प्रापयन्ति । तत्र दृष्टान्तः वंशमिव यथा वंशाग्रे नृत्यन्तः शिल्पिनः प्रौढं वंशम् उन्नतं कुर्वन्ति । यथा वा सन्मार्गवर्तिनः पुत्राः स्वकीयं कुलम् उन्नतं कुर्वन्ति तद्वत् । तेऽर्कमर्किणो ब्राह्मणस्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव वंशो वनशयो भवति वननाच्छ्रयत इति वा (५, ४) इति ॥ १ ॥ (सा० आ० भा०) ।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥४ ॥

(य० सं० ३ । ३५) ।

५०६ भय तथा मरनेकी शङ्का न करो वीर बनो ।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः

॥ १ ॥ यथा । द्यौः । च । पृथिवी । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।

एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ १ ॥

द्यौ द्युलोको देवाद्याश्रयभूतः पृथिवी भूलोको मनुष्यादिभिराश्रितः । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तावुभौ लोकौ यथा येन प्रकारेण देवमनुष्यादिभिः सर्वैरुपजीव्यत्वाद् उपजीव्यविघातकस्य कस्यचिदपि असंभवाद् न बिभीत. भयशङ्का न प्राप्नुतः । X ञिभी भये X । यथा च न रिष्यतः न विनश्यतः । X रिष हिंसायाम् । देवादिकः । "यावद्यथाभ्याम्" इति आख्यातस्य निघातप्रतिषेधः X । एव एवम् । X "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः X । मे मदीय हे प्राण त्वं मा बिभेः शत्रुग्रहरोगादिभ्यो भयशङ्कां मरणशङ्कां च मा कार्षीः । अनेन मन्त्रसामर्थ्येन द्यावापृथिवीवीवत् चिरकालावस्थानयुक्तो भवेत्यर्थः । X बिभेरिति । माङि लुङि प्राप्ते छान्दसो लङ् X । सा० आ० भा०)

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः

॥ २ ॥ यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा

बिभेः ॥ ३ ॥ यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण

मा बिभ ॥ ४ ॥ यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे

प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥ यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥ (अ० सं० कां० २ सू० १५ मं० १-६)

५०७ अभ्यर्थना ।

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो (पृ० ११७ पर देखो) ।

(पृ० ११७ पर देखो)

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः ।

यः शꣳसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ२॥ अवन्तु देवाः ॥५०॥

(य० सं० ३३।५०) ।

उ० अस्मे रुद्राः । त्रिष्टुभः पञ्च । अस्मे अस्माकं रुद्राः मेहनाः सेचना । यद्वा महनीयाः पूजनीयाः पर्वतासः पर्वताश्च वृत्रहत्ये वृत्रवधे भरहूतौ सङ्ग्रामाह्वाने च । सजोषाः समानजोषणाः समानप्रीतयः । एकाभिप्राया भवन्त्विवति शेषः । यश्च शंसते शस्त्राणि स्तुवते स्तौति च स्तोत्राणि । धायिद्धाति हवींषि । पज्रः प्रार्जितधन. सन् । तस्मै च रुद्राः सजोषाः भवन्तु । किञ्च इन्द्रज्येष्ठाः इन्द्रो ज्येष्ठो येषां ते तथोक्ताः अवन्तु पालयन्तु देवाः ॥ ५० ॥

म०—पञ्च त्रिष्टुभः आद्या प्रगाथदृष्टा माहेन्द्रपुरोरुक् । यो नरः समते शस्त्राणि शंसति स्तुवते

स्तौति स्तोत्राणि प्रकर्षेण जपति पज्रः प्रार्जितधनः सन् धायि दधाति हवींपि तान् अस्मांश्च यजमानान् देवा अवन्तु पान्तु । पज्रः पृषोदरादिः । कीदृशा देवाः । अस्मे अस्मासु मेहना । शस आकारः । मेहन्ति सिञ्चन्ति मेहनाः धनादिसेक्तारः । रोदयन्ति शत्रूनिति रुद्राः । पर्वतासः पर्वाणि उत्सवा विद्यन्ते येषां ते पर्वताः उत्सववन्तः 'तप्पर्वमरुद्भ्यां' (पा० ५ । २ । १२२) तप्प्रत्ययः । वृत्रहत्ये वृत्रासुरवधाय । भरहूतौ भरे संग्रामे हूतिराह्वानं तत्र सजोषा. समानो जोषः प्रीतिर्येषां ते । एकमतय इत्यर्थः । इन्द्रज्येष्ठाः इन्द्रो ज्येष्ठो येषां ते । ईदृशा देवा नोऽवन्तु ॥ ५० ॥

५०८ बल ।

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम् । आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥७॥

उ०—बाहू मे । बाहू मे बलमिन्द्रियं च वर्तते । हस्तौ मे कर्म च वीर्य्यं वर्तते । आत्मा अन्तरात्मा क्षत्रं वर्तते उरश्च मम ॥ ७ ॥ म०—मे बाहू बलमस्तु, बलवन्तौ स्तामित्यर्थः । इन्द्रियं च बलं स्वकार्यक्षममस्तु । मे हस्तौ कर्म चास्तु सत्कर्मकुशलौ सामर्थ्यवन्तौ च स्तामित्यर्थः । मम आत्मा अन्तरात्मा उरो हृदयं च क्षत्रं क्षतात्त्राणकरमस्तु ॥ ७ ॥

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥

उ०—पृष्टीर्मे पृष्ठदेशो मे राष्ट्रं वर्तते । उदरं च अंसौ ग्रीवा च श्रोणी च ऊरू च अरत्नी च जानुनी च विशो मे वर्तते । अन्यान्यप्यङ्गानि यानि सर्वतः ॥८॥ म०—मे मम पृष्टीः पृष्टप्रदेशो राष्ट्रं देशो देशवत्सर्वाधारमस्तु । मे मम उदरमंसौ स्कन्धौ ग्रीवाः कण्ठदेशाः श्रोणी कटिदेशौ ऊरू सक्थिनी अरत्नी हस्तदेशौ जानुनी च सर्वतोऽन्यान्यङ्गानि च विशः प्रजाः सन्तु प्रजावत् पोष्याः सन्तु ॥ ८ ॥

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् । आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः । जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥ (य० सं० २० । ७-८) ।

उ० नाभिर्मे । नाभिर्मे चित्त विज्ञानं च वर्तते । चित्तविज्ञानयोः को विशेष इति चेत् । विज्ञानं विज्ञप्तिः तज्जः संस्कारश्चित्तम् । पायुर्मे अपचितिभसच्च वर्तते । पायुर्गुदप्रदेशे अपचिति पूजा । भसत्शब्देन स्त्रीप्रजननं गौडा आहुः । न च यजमानस्यैतद्भवति । अतः पत्नीविषयमेतत् । आनन्दनन्दौ आण्डौ मे वर्तते । भगः सौभाग्यं पसो मे वर्तते । भगः महदैश्वर्यम् । 'पस पसनेः स्पृशतिकर्मणः' इति शिश्नमुच्यते । जङ्घाभ्यां पद्भ्यां च धर्मोस्मि । धर्मवति हि राजा भवति । विशि प्रतिष्ठितोऽस्मि ॥ ९ ॥ म० मे नाभिः चित्तं ज्ञानरूपमस्तु । पायुर्मे गुदेन्द्रियं विज्ञानं ज्ञानजनितसंस्काराधारमस्तु । भसत् स्त्रीप्रजननमपचितिः प्रजारूपमस्तु सुभगमस्तु । यजमानपत्नीविषयमेतत् । मे आण्डौ वृषणौ आनन्दनन्दौ स्वामानन्देन सम्भोगजनितसुखेन

नन्दनस्तौ । 'तामित्यर्थः । 'पस पसने: स्पृशतिकर्मणः' इति यास्कोक्तेः पसो
लिङ्गं भगः भग ऐश्वर्यं सौभाग्यं संपत्ति । सर्वदा भोगासक्तमस्मीत्यर्थः ।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां च... उपलक्षणमेतन सर्वाङ्गं धर्मरूपोऽस्मि । धर्मरूपत्वादेव विशि
प्रजायां राजा प्रतिष्ठितोऽस्मि गे हि राजा भवति ॥ १ ॥

५०६ शत्रु का नाश ।

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि ॥ पुरीष्यः । पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥ (य० सं० ११ । ७२) ।

उ० औदुम्बरीमादधाति । परमस्याः । निचृदनुष्टुभः । परावत इति दूरनामसु पठितम् । परमस्याः परावतः । परं दूरम् तस्मात् । हे रोहिदश्व, 'रोहितोऽग्नेः । हरित आदित्यस्य इति निघण्टुः । हे अग्नेरश्व, इह आगहि आगच्छ । यतः त्वं पुरीष्य पशव्योऽसि पुरुप्रियश्च बहुजनप्रियश्च । औदुम्बरे बहून्यन्नाशनानि 'तयान (?) ऊर्जा सर्वान्ननस्पतीन् प्रतिपद्यते' इति श्रुतिः । आगत्य च हे अग्ने, त्वं तर विनाशाय मृधः संग्रामान् ॥ ७२ ॥ म० 'औदुम्बरीं परमस्या इति' (का० १६ । ४ । ३७) । उदुम्बरतरुसमिधं तृतीयामादधातीति सूत्रार्थः । अनुष्टुब्वाग्निदृष्टा । हे अग्ने परमस्याः परावतोऽत्यन्तदूरदेशादिहास्मिन्कर्मणि त्वमागहि आगच्छ । गच्छतेः अपि लुमे अनुदात्तोपदेशे मलोपे आगहीति रूपम् । परावत इति दूरनामसु पठितम् । परमशब्दस्य सर्वनामत्वमार्षम् । परमा उत्कृष्टातिशयिता या परावत । अतिदूरमित्यर्थः । आगत्य च मृधः संग्रामान् तर अतिलङ्घय । शत्रून्विनाशयेत्यर्थः । 'द्व्यचोऽतस्तिङ', (पा० ६ । ३ । १३५) इति दीर्घः । कीदृशस्त्वम् । रोहिदश्वः 'रोहितोऽग्नेऽहरित आदित्यस्य' इति निघण्टूक्तेः रोहितसंज्ञोऽश्वः रोहितः तत्संज्ञा अश्वा यस्य स रोहिदश्वः । पुरीष्यः पशव्यः पुरुप्रियः पुरूणां बहूनां प्रियो वल्लभः ॥ ७२ ॥

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः निन्दाद्यो अस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥ ८० ॥ (य० सं० ११ । ८०) ।

उ० यो अस्मभ्यम् यो मनुष्यः अस्मभ्यम् अस्मदर्थम् अरातीयात् अरातिरिवाचरेत् अरातिः शत्रुः । यश्च नः अस्मान् द्वेषते द्वेष्टि जनः । निन्दाच्च निन्दयति योऽस्मान् दिप्साच्च । दम्भेः सन्यभ्यासलोपः । दम्भितुमिच्छति य । तान् तव दधामि । सर्वमेतच्छत्रुजातं मस्मसा कुरु मस्मसेति शब्दोऽनुकरणे डाजन्तः । यथा भक्ष्यमाणा मस्मसा शब्दं कुर्वन्ति तथा कुर्वित्यर्थः ॥ ८० ॥ म० पूर्वं चोरभेदा दर्शिताः इदानीं शत्रुभेदा उच्यन्ते । ते चतुर्विधाः अरातयो द्वेषिणो निन्दका जिघांसवश्चेति । तत्र दानव्याजेन प्राप्त धनं यो न ददाति सोऽरातिः । कार्यविघातं यः करोति स द्वेष्टा । वाग्दौर्जन्यमात्रं यः करोति स निन्दकः । हन्तुकामश्चतुर्थः तान् अग्ने भस्मयति । यो नरः अस्मभ्यमस्मदर्थे अरातीयात् अरातिरिवाचरति अरातीयति अरातित्वमिच्छति । आचारे इच्छायां वा क्यच्प्रत्ययः । यश्च जनो नोऽस्मान्द्वेषते कार्यनाशेनाप्रीतिमुत्पादयति 'द्विष अप्रीतौ' 'बहुलं

छन्दसि' (पा० २ । ४ । ७३) इति शपो लुगभावः । योऽस्यन्योऽस्मान्निन्दात् निन्दति वाचा दुःखं ददाति । यश्चापरोऽस्मान् धिप्सात् धिप्सति । दम्भितुमिच्छति जिघांसति दम्भेः सनन्तस्य 'दम्भ इच्च, (पा० ७ । ४ । ५६) इत्यभ्यासलोप इकारश्च । 'इतश्चलोपः परस्मैपदेषु' (पा० ३ । ४ । ९७) इतीकारलोपः 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३ । ४ । ९४) इत्याडागमोऽप्यातीयादित्यादिषु त्रिष्वपि । हे अग्ने, तं सर्वं जनं चतुर्विधं मस्मसा कुरु चूर्णीकुरु चर्वित्वा भक्षयेत्यर्थः । मस्मसाशब्दो डाजन्तो निपातः चर्वणजन्यशब्दानुकरण वाची ॥ ८० ॥

५१० श्रेष्ठोंकी रक्षा ।

प॑रस्या॒ अधि॑ सं॒वतो॒ऽव॑राँ२ऽअ॒भ्या त॑र । यत्रा॒हमस्मि॒ ताँ२ऽअ॑व ॥ ७१ ॥ (य० सं० ११ । ७१)

उ० शतम् ५०० । वैकङ्कतीमादधाति । परस्या अधि । संवत इति संग्रामनामसु पठितम् । संपूर्वस्य वनते 'र्त्यर्थस्य संगच्छन्ते ह्यत्र योधाः परस्याः संबन्धिन्याः संवतः अधि सकाशात् अवरान् अस्मदीयान् । अभ्यातर अभ्यागच्छ । ततो यत्र जनपदे अहमस्मि तान् अव पालय तर्पय वा ॥ ७१ ॥ म० 'वैकङ्कती परस्या इति' (का० १६ । ४ । ३६) । विकङ्कततरुसमिधं जुहोतीति सूत्रार्थः । आग्नेयी गायत्री विरूपदृष्टा । इति अध्यायान्तमाग्नेय्यः । संवत् इति संग्रामनामसु पठितम् । संपूर्वस्य वनतेर्गत्यर्थस्य क्विप् । संवन्वते संगच्छन्ते योधा यत्र सा संवत् । परस्याः शत्रुसंबन्धिन्याः संवतः संग्रामात् अवरानस्मदीयान् जनानभ्यातर अभिमुखमागच्छ दुःखात्तारयेत्यर्थः । किंच यत्र जनपदे अहमस्मि भवामि तानव पालय तर्पय वा ॥ ७१ ॥

५११ मित्र

यस्ति॒त्याज॑ सचि॒विदं॒ सखा॑यं॒ न त॒स्य॑ वा॒च्यपि॑ भा॒गो अ॑स्ति ।
यदीं॑ शृ॒णोत्यल॑कं शृणोति न॒हि प्र॒वेद॑ सु॒कृत॑स्य॒ पन्था॑म् ॥ ६ ॥

(ऋ० सं० ८।२।२४।१) ।

यः । ति॒त्याज॑ । स॒चि॒ऽविद॑म् । सखा॑यम् । न । त॒स्य॑ । वा॒चि । अपि॑ । भा॒गः । अ॒स्ति । यत् । ई॒म् । शृ॒णोति॑ । अल॑कम् । शृ॒णो॒ति॒ । न॒हि । प्र॒ऽवेद॑ । सु॒ऽकृत॑स्य । पन्था॑म् ॥ ६ ॥

सचिविदं । सचिशब्दः सखिवाची । सखिविदं । योऽध्येता स वेदस्य सखा संप्रदायोच्छेदनिवारकत्वेन वेदं प्रत्युपकारित्वात् । तादृशमुपकारिणमध्येतारं वेत्तीति सचिवित् । तमभिन्नं सखायमध्येतॄणां पुरुषाणां स्वार्थबोधनेनोपकारित्वात्सखिभूतं वेदं यः पुमांस्तित्याज परार्थविनियोगेन परित्यजति ॥ त्यजतेर्लिट्यपस्पृधेथामानुचुरित्यादिना निपातितः ॥ तस्य पुरुषस्य वाचि सर्वस्यां लौकिक्यां शास्त्रीयायां वाच्यपि भागो भजनीयः कश्चिदर्थो नास्ति । ईमयं पुरुषो यद्वेदव्यतिरिक्तं शृणोति तदलकमलीकं व्यर्थमेव शृणोति । हि यस्मात्कारणात्सुकृतस्य पन्थां पन्थानं न प्रवेद

श्रद्धाराहित्यादनुष्ठानमार्गं न जानाति । तस्मात्तदीयश्रवणमपि निष्फलमित्यर्थः । द्वितीयचतुर्थपादयोरभिप्राय आरण्यके दर्शितो न तस्यानृक्ते भागोऽस्तीत्यादिना । ऐ० आ० ३. २. ५ । तथा तं योऽनूक्तमनूक्त्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेवाप्युक्ता । तै० आ० २. १५. ५. । इत्यध्वर्युभिश्च ॥

मित्रे चर्षौ । ६ । ३ । ३० ॥ विश्वामित्रः ॥ ऋषौ किम् ? विश्वमित्रो माणवकः ॥ (सि० कौ० स० आ० वि० प्र०) । पृ० १६६ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । य० सं० १३ । ५४ ॥

- वसत्यधितिष्ठति सर्वजन्तूनिति वस्ता अतिशयेन वस्ता वसिष्ठः 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (६ । ४ । १५४) इतीष्ठनि तृचो लोपः । सर्वाधार ऋषिः ज्ञाता प्राणस्तद्रूपां स० । प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः (८ । १ । १ । ६) इति श्रुतेः । (म० भा०) ।

५.१२ मित्र प्रशंसा ।

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले ॥ मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥ पार्ष्णिग्राहमित्यादि ॥ विजिगीषोर्गरं प्रति निर्यातस्य यः पृष्ठवर्ती नृपतिर्देशाक्रमणाद्याचरति स पार्ष्णिग्राहस्तस्य तथा कुर्वतो यो नियामकस्तस्यानन्तरो नृपतिः स आक्रन्दस्तावपेक्ष्य यातव्यम् । मित्रीभूतादमित्राद्वा यात्राफलं गृह्णीयात । तावनपेक्ष्य गृह्णन्कदाचित्तत्कृतेन दोषेण गृह्यते ॥ २०७ ॥ हिरण्यभूमि संप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ॥ यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥ हिरण्यभूमीति ॥ सुवर्णभूमिलाभेन तथा राजा न वृद्धिमेति यथेदानीं कृशमप्यागामिकाले वृद्धियुक्तं स्थिरं मित्रं लब्ध्वा वर्धते ॥ २०८ ॥ धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ॥ अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०६ ॥ धर्मज्ञमिति ॥ धर्मज्ञं, कृतोपकारस्य स्मर्तृ, सानुरागमनुरक्तं, स्थिरकार्यारम्भं, प्रीतिमत्प्रकृतिकं, यत्तन्मित्रमतिशयेन शस्यते ॥ २०९ ॥

५.१३ संग्राम

संग्राम कस्मात् सङ्गमनाद्वा सङ्गरणाद्वा सङ्गतौ ग्रामाविति वा ॥ २० ॥

आह—"संग्राम कस्मात्" ? उच्यते—"सङ्गमनाद्वा" सङ्गच्छन्ते हि परस्परेण । "सङ्गतौ ग्रामाविति वा" ग्राम इति संघात इत्युच्यते । परस्परं जिगीषया समागतौ तत्र भवतः ॥ २ । ९ २० ॥ (नि० अ० ३ खं० ९) ।

"खल इति संग्रामनाम खलतेर्वा" (१) अत्यन्यर्थस्य, अत्यन्ति हि तत्र योधाः ॥ "स्खलतेर्वा" (२) हिंसार्थस्य, हिंस्यन्ते हि तत्र परस्परेण ॥ (नि०अ० ३ खं० १० पृ० २०४) ।

५.१४ कीदृग्विधः शत्रुः संधातव्य ।

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ॥ कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं

(१) 'हिंसार्थस्य-' इत्यादि पाठो भवेत् ॥ (२) 'अत्यत्यर्थस्य' इत्यादिपाठो भवेत ॥

बुधाः ॥ २१० ॥ प्राज्ञमित्यादि ॥ विद्वांसं, महाकुलं, विक्रान्तं, चतुरं, दातारम, उपकारस्मर्तारं सुखदुःखयोरेक रूपं शत्रुं दुरुच्छेदं पण्डिता वदन्ति । तेनैवंविधशत्रुणा सह संधातव्यम् ॥२१०॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ॥ स्थौल्यलक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ आर्यतेत्यादि ॥ साधुत्वं, पुरुषविशेषज्ञता, विक्रान्तत्वं, कृपालुत्वं, सर्वदा च स्थौललक्ष्यं बहुप्रदत्वम् । अत एव 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्याभिधानिकाः । स्थौललक्ष्यमर्थेऽसूक्ष्मदर्शित्वमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजयोः पदार्थकथनमनागमम्, एतदुदासीनगुणसामग्र्यं, तस्मादेवंविधमुदासीनमाश्रित्योक्तलक्षणेनाप्यरिणा सह योद्धव्यम् ॥ २११ ॥

५१५ आत्मार्थे भूम्यादित्यागः ।

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ॥ परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥ क्षेम्यामिति ॥ अनामयादिकल्याणक्षमामपि, नदीमातृकया सर्वदा सर्वसस्यप्रदामपि, प्रचुरतृणादियोगात्पशु वृद्धिकरीमपि भूमिमात्मरक्षार्थमविलम्बमानो राजा निजरक्षाप्रकाराभावात्परित्यजेत् ॥ २१२ ॥

यस्मात्सर्वविषयोऽयं धर्मः स्मर्यते—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि । आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ।२१३। (म०स्मृ०७।१०-१३) । आपदर्थमित्यादि ॥ आपन्निवारणार्थं धनं रक्षणीयम् । धनपरित्यागे नापि दारान्रक्षेत् । आत्मानं पुनः सर्वदा दारधनपरित्यागेनापि रक्षेत् । 'सर्वत एवात्मानं गोपायीत' इति श्रुत्या शास्त्रीयमरणव्यतिरेकेणात्मरक्षेत्युपदेशात ॥२१३॥ (कु०भ०) ।

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ॥
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १७ ॥

(वि० नी० ३६ । ५ । पृ० ९९) ।

कुल के लिये एक पुरुष को छोड़ देवे, ग्राम के लिये कुल को छोड़ देवे, जनपद (जिले) के लिये ग्राम को छोड़ दे, अपने लिये पृथिवी भर को छोड़ देवे ॥ १७ ॥

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ॥
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १० ॥

(चा० नी० द० ३ । १०) ।

कुलके लिये एकको छोड़देना चाहिये, ग्रामके लिये कुलका त्यागना उचित है, देश के लिये ग्राम को त्याग दे और आत्मरक्षाके लिये पृथिवी अर्थात् सबका त्याग कर दे ॥ १० ॥

५१६ एषां विप्राद्यर्थे प्राणत्यागः श्रेयान् ।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृत ॥
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

(म० स्मृ० १० । ६२) ।

ब्राह्मणार्थ इति ॥ गोब्राह्मणस्त्रीबालमन्यतरस्यापि परित्राणार्थं दृष्टप्रयोजनानपेक्षः प्राणत्यागः प्रतिलोमजानां स्वर्गप्राप्तिकरणम् ॥ ६२ ॥

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः ॥

सूर्य्यस्य मण्डलं भित्त्वा स याति परमां गतिम् ॥ ५५४ ॥
(प० तं० प्र० तं० क० २२)।

जो गौ और ब्राह्मण के निमित्त प्राण त्यागन करता है वह सूर्यमंडल को भेदकर परम गतिको जाता है ॥ ५५४ ॥

येनं मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।

तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥

येनं । मृतम् । स्नपयन्ति । श्मश्रूणि । येनं । उन्दते । तम् । वै । ब्रह्मऽज्य । ते । देवाः । अपाम् । भागम् । अधारयन् ॥ ११४ ॥

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।

नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥

(अ० सं० ५ । १६ । १४-५)।

न वर्षम् । मैत्राऽवरुणम् । ब्रह्मऽज्यम् । अभि । वर्षति । न अस्मै । सम्ऽइतिः । कल्पते । न । मित्रम् । नयते । (१) वशम् ॥ १५ ॥ (सा० भा०)

५१७ विपत्तावुपायान्तरचिन्तनम् ।

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ॥
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः ॥ २१४ ॥

सहेत्यादि ॥ कोशक्षयप्रकृतिकोपमित्रव्यसनादिकाः सर्वा आपदो युगपदतिशयेनोत्पन्ना ज्ञात्वा न मोहमुपेयात् । अपि तु व्यस्तान्समस्तान्वासामादीनुपायान्प्राज्ञः संप्रयुञ्जीत ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ॥
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ (म० स्मृ० ७। २१४-२१५)।

उपेतारमिति ॥ उपेतारमात्मानम् उपेयं प्राप्तव्यम् उपाया सामादयः सर्वे ते च परिपूर्णा एतत्त्रयमवलम्ब्य यथासामर्थ्यं प्रयोजनसिद्ध्ये यत्नं कुर्यात ॥ २१५ ॥ (कु० भ०)।

५१८ कृष्णभगवान्का युद्धविषयमें अर्जुनको उपदेश।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ॥
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

और स्वधर्मका भी विचार करके तुमको डरा करना या घबडाना योग्य नहीं [आत्मा तो अविनाशी है और धर्म युद्ध करना यह क्षत्रियका धर्म ही है. इससे ये दुर्योधनादिक मरे

(१) P विशम् ।

तो भी उनविषे तुमको दया करना अथवा डरना योग्य नहीं है] क्योंकि क्षत्रिय को स्वधर्म से प्राप्त हुये युद्धकी अपेक्षा श्रेयस्कर (भला करने वाला) दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ? लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

और दैवी इच्छा से (विना यत्न) प्राप्त हुआ और मानों खुला हुआ स्वर्गका द्वार ही ऐसा युद्ध, हे अर्जुन ! जो भाग्यशाली क्षत्रिय है, उन्हीं को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ॥
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ॥
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अब जो तुम स्वधर्मसे प्राप्त हुये इस युद्धको न करोगे तो उससे स्वधर्म और कीर्ति इनको डुबा के केवल पाप को पाओगे ॥ ३३ ॥ और ऐसा होनेसे सबलोग तुम्हारी बड़ी भारी अपकीर्तिही को निरन्तर वर्णन करेंगे और मानयुक्त पुरुषको तो ऐसी अपकीर्ति मरणसे भी अधिक दुःखदायक होतीहै ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरत मस्यंते त्वां महारथाः ॥
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

और जिन वीरों को तुम प्रथम बड़े मान्य थे [ते] वेही महारथी तुमको 'डरके मारे यह युद्ध से हट गया (युद्ध को छोड़ कर भाग गया) ऐसे मानेंगे और ऐसे प्रथम सर्वमान्य होके पीछे से उनके ही आगे तुमको (यह पूर्वोक्त) तुच्छपन प्राप्त होगा ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ॥
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

वैसे ही तुम्हारे ये दुर्योधनादिक शत्रु तुम्हारा सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत अपशब्द बोलेंगे, फिर इससे अधिक दुःख कौन सा है ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ॥
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! कदाचित् म युद्धमें मरगये तो तुमको स्वर्ग सुख मिलेगा कि वा तुम शत्रुओं को जीतोगे तो पृथिवी का राज्य मिलेगा, इस कारण हे वीरमाता कुन्ती के पुत्र वीर अर्जुन ! युद्ध के लिये निश्चय करके उठ [क्योंकि युद्ध में] मरना या जय पाना इन दोनों में तुमको लाभ है ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौजयाजयौ ॥
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥ (भ० गी० २।३१-३८)।

[कदाचित तुमको पाप की शंका हो तो, सुनो] सुख व दुःखको समान मानकर तथा इसके कारणीभूत लाभ व हानि जय व पराजय इन सबके विषय में तुम समबुद्धि होके केवल स्वधर्म बुद्धिसे युद्ध करनेके लिये तयार हो, इस प्रकार करनेसे तुमको पाप न लगेगा ॥ ३८ ॥

५१९ संमुखीभूय युद्धे मरणे स्वर्गप्राप्ति।

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः॥
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥ ८९॥ (म०स्मृ० ७।८९)

अतएव आहवेष्विति॥ राजानो मिथः स्पर्धमाना युद्धेष्वन्योन्यं हन्तुमिच्छन्तः प्रकृष्टया शक्त्या संमुखीभूय युध्यमानाः स्वर्गं गच्छन्ति। यद्यपि युद्धस्य शत्रुजयधनलाभादिरूपं दृष्टमेव फलं न स्वर्गस्तथापि युद्धाश्रितापराङ्मुखत्वनियमस्य स्वर्गः फलमिति न दोषः॥ ८९॥

५२० रणे मरणे स्वर्गफलम्।

य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा॥ ३२४॥

ये भूम्याद्यर्थमाहवेषु प्रवृत्ता अपराङ्मुखा अभिमुखा वध्यन्ते मार्यन्ते स्वर्गं यान्ति। योगाभ्यासरता यथा। यद्यकूटैरविषदिग्धादिभिरायुधैर्योद्धारो भवन्ति॥ ३२४॥

पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम्॥
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्॥ ३२५॥
(या० व० स्मृ० आ० अ० रा० ध० प्र० १३ ३२४-३२५)।

किंच॥ स्वबलेषु करितुरगरथपदातिषु भग्नेष्वविनिवर्तिनां परबलाभिमुखगामिनां पदानि क्रतुतुल्यान्यश्वमेधतुल्यानि। विपर्यये दोषमाह—विपलायिनां पराङ्मुखानां हतानां राजा सुकृतमादत्ते॥ ३२५॥

(१) ब्राह्मणानां यथाधर्मो दानमध्ययनं तपः॥
क्षत्रियाणां तथाकृष्ण समरे देहपातनम्॥

जिसप्रकार ब्राह्मणोंका धर्म यज्ञ, दान, तप करना है इसी प्रकार क्षत्रियोंका धर्म युद्धमें देह त्यागहै॥

(२) यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्यांकुशो यथा॥
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम्॥

जिस प्रकार गर्वित घोड़े को उसकी रस्सियें (रासे) स्थिर रखती हैं जिस प्रकार मत्त हाथी को अंकुश वश में रखता है इसी प्रकार क्षात्र धर्म मर्यादा की स्थिरता का हेतु है॥

(३) अधर्मः क्षत्रियस्यैषः यच्छय्यामरणं भवेत्॥
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्॥

क्षत्रिय के लिये यह अधर्म है जो बीमार होकर खाटपर पड़कर मरताहै, जिसमें श्लेष मलमूत्रादि त्याग द्वारा अति कृपणता-से देह त्यागा जाता है॥

(४) अविक्षतेनदेहेन प्रलयं योऽधिगच्छति॥
क्षत्रियो नास्यतत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥

जो क्षत्रिय क्षत घावोंसे रहित देह त्याग करता अर्थात् बिना शस्त्र प्रहार के मरता है प्राचीन क्षत्रियलोग क्षत्रिय नहीं कहते थे॥

(५) न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौण्डीर्याणामशौण्डीर्यमधर्म्यं कृपणं च तत् ॥
(म० भा० शा० पं० ६ । २५) ।

गृह में मरजाना क्षत्रियोंका प्रशंसित नहीं गिनाजाता ऐसा मरना निन्दित से निन्दित अधर्म और अति कायरता का काम समझा जाता है ॥

५२१ कृष्णभगवान् का जरासंधके प्रति क्षत्रियधर्म ।

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव यत् ॥ मन्यसे स च ते राजन्सुमहान्बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥ कोहि जानन्नभिजनमात्मवान्क्षत्रियो नृप ॥ नाऽऽविशेत्स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥१६॥ स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः ॥ जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद्धिद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥ स्वर्गयोनिर्महद्ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद्यशः ॥ स्वर्गयोनिस्तपोयुद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १८ ॥ एष ह्येन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः ॥ येनाऽसुरान्पराजित्य जगत्पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥
(म० भा० स० प० अ० २२ १५ ''१९) ।

५२२ क्षत्रियकी श्रेष्ठता ।

न तान् हि तीर्थैस्तपसा च लोकान् स्वर्गैषिणो दानशतैः सुवृत्तैः ।
क्षणेन यान्यान्ति रणेषु धीराः प्राणान्समुज्झन्ति हि ये सुशीलाः ॥३२॥

स्वर्ग की इच्छा करने वाले पुरुष तीर्थों से तपों से सैकड़ों प्रकार के सुकृत दान करने से उन लोकों को प्राप्त नहीं करते जो धैर्यवान् सुशील पुरुष। युद्ध में प्राणों को देते हैं जिन लोकों को क्षण मात्र में प्राप्त करते हैं ॥ ३३२ ॥

मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा ॥
तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ ३३३ ॥

युद्ध में मरने से स्वर्ग प्राप्त शीघ्र होता है, जीने से उत्तम कीर्ति मिलती है ये दोनों ही गुण शूर पुरुषों को अति दुर्लभ है ॥ ३३३ ॥

ललाटदेशे रुधिरं स्रवत्तु शूरस्य यस्य प्रविशेच्च वक्त्रे ॥
तत्सोमपानेन समं भवेच्च संग्रामयज्ञे विधिवत्प्रदिष्टम् ॥ ३३४ ॥

जिस शूर के माथे मे रुधिर बहता है और मुख में प्रवेश करता है, संग्रामयज्ञ में विधिवत् देखा हुआ सोमरसके पान करनेके समान होता है ॥ ३३४ ॥

होमार्थैर्विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनै,
र्यज्ञैर्भूरिसुदक्षिणैः सुविहितैः सम्प्राप्यते यत्फलम् ।
सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः,
पुम्भिस्तत्फलमाहवे विनिहतैः सम्प्राप्यते तत्क्षणात् ॥३३५॥

विधि पूर्वक होम अर्थ और विधि के साथ सद्ब्राह्मणों के पूजनों से तथा बड़ी दक्षिणा वाले सुहित यज्ञों से जो फल प्राप्त होता है तथा सत तीर्थ आश्रम वास होम नियम चान्द्रा-

यण करने से पुरुष को जो फल होता है वह फल संग्राम में प्राण त्यागने से तत्काल प्राप्त होता है ॥ ३२५ ॥

यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ॥
अक्षयाँल्लभते लोकान् यदि क्लीबं न भाषते ॥ ३३ ॥

शत्रुओं से घेर आने पर भी जो शूरवीर नपुंसकता के वचन नहीं कहते उनकी मृत्यु चाहे जिस स्थान में हुई हो परन्तु वह निश्चय ही अक्षय लोकों को प्राप्त होते हैं ॥ ३३ ॥

संन्यस्तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ॥
एष मे मंडलंभित्वा परं स्थानं प्रयास्यति ॥ ३४ ॥

उस संन्यासी ब्राह्मण को देखकर सूर्य्य भगवान् स्थान से भयभीत होकर विचलित होते है कि यह मेरे मण्डल को छेदन कर परम पद को पालेगा ॥ ३४ ॥

यस्तु भग्नेषु सैन्येषु विद्रवत्सु समंततः ॥
परित्राता यदा गच्छे स च क्रतुफलं लभेत् ॥ ३५ ॥

जो रण मे भागती हुई सेना की रक्षा करता है वह यज्ञ के फल को पाता है ॥ ३५ ॥

यस्य च्छेदक्षतं गात्रं शरमुद्गरयष्टिभिः ।
देवकन्यास्तुतं वीरं हरंति रमयंति च ॥ ३६ ॥

जिस वीरपुरुषका शरीर युद्धके स्थान (रण भूमि) में बाणों से मुद्गरों से लाठियों से क्षत हुआ है उसको देवताओं की कन्या हाथों-हाथ उठा ले जाती हैं और उसके साथ रमण करती हैं ॥ ३६ ॥

देवांगनासहस्राणि शूरमायोधने हतम् ॥
त्वरमाणाः प्रधावंति मम भर्ता ममेति च ॥ ३७ ॥

जो शूरवीर युद्ध में हता हुआ हो उसको देखकर देवांगनाये रमणकरनेवाली भागती हुई आतीहैं और कहती है कि मेरा पति हो, मेरा पति हो ॥ ३० ॥

यं यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणो वात्र यथैव यान्ति ।
क्षणेन यांत्येव हि तत्र वीराः प्राणान्सुयुद्धेन परित्यजंति ॥ ३८ ॥

जो ब्राह्मण अनेकों यज्ञ और तप करके यहाँ स्वर्गकी चाहना करनेवाले जिस स्थान को जिस भांति पाते हैं, वीर पुरुष प्राणोंको युद्धमें त्यागते है वे वीर पुरुष क्षण भरमें ही उस स्थानको प्राप्त करतेहैं ॥ ३८ ॥

जितेन लभ्यते लक्ष्मीर्मृतेनापि वरांगना ॥
क्षणध्वंसिनिकायेऽस्मिन्का चिन्ता मरणे रणे ॥ ३९ ॥

रण में विजय पाने से लक्ष्मी प्राप्त होती है, युद्ध में मरने पर देवांगनाओं की प्राप्ति होती है, फिर यदि यह शरीर युद्ध में प्राप्त हो जाय तो इसकी चिन्ता ही क्या है। कारण कि यह क्षण में भंग होने वाला है ॥ ३९ ॥

ललाटदेशे रुधिरं स्रवच्च यस्याहवे तु प्रविशेत वक्त्रम् ॥
तत्सोमपानेन किलास्य तुल्यं सग्रामयज्ञे विधिवच्च तुल्यम् ॥ ४० ॥

(पा० स्मृ० अ० ३।३३-४०)

संग्राम भूमि में जिस वीर पुरुष का ललाट में ठहरा हुआ रुधिर बहकर मुख में जाता है, निश्चय ही इस वीर पुरुष का रुधिर संग्राम यज्ञ मे विधिवत् सोमपान के तुल्य है। इसमें संदेह नहीं ॥ ४० ॥

अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नीनिष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ॥
गो ब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतान्तरात्मा हतः सङ्ग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥२६॥

वेदों को पढ़कर अग्नि का आधान करके, यज्ञों से देवयजन करके, और प्रजाओं का पालन करके, गो ब्राह्मण की (रक्षा) के लिये शस्त्र (धारण) से जिसका अन्तरात्मा पवित्र है वह संग्राम में मारा गया क्षत्रिय स्वर्ग को जाता है ॥ २६ ॥ (वि० नी० अ० ८ । ३९ । ८ पृ० १५०)

यो अस्य समिधं वेदं क्षत्रियेण समाहिताम् ।
नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥

यः । अस्य । सम्ऽइधम् । वेद । क्षत्रियेण । सम्ऽआहिताम् । न । अभिऽह्वारे । पदम् । नि । दधाति । सः । मृत्यवे ॥३॥ (अ० सं० ६ ७६।३)

क्षत्रियेण क्षत्रजातीयेन विजयकामेन पुंसा समाहिताम् सम्यग् आहितां-श्रिताम् । अस्य अग्नेः समिधम् संदीपनीम् आहुतिं । यः पुरुषो वेद जानाति स वेदिता मृत्यवे मृत्युं गन्तुम् अभिह्वारे अभिनः कुटिले मृत्युप्राप्तिनिमित्ते (१) गजव्याघ्रादिभूयिष्ठे स्थाने पदं न नि दधाति न निक्षिपति । इत्थं वेदितुर्मरण-शङ्कापि नवोदेतीत्यर्थः । (सा० आ० भा०) ।

—दीपचन्द्र आचार्य ।

असमाप्तः—दूसरा भाग लिखेंगे ।



१ S राचव्या Fo। गजव्या ।

ओ३म्

परिशिष्ट

❀ पाँच पण्डितों के पत्रोंकी प्रति ❀

१ स्वामी मेशीन यन्त्रालय-मेरठ

The Swami Machine Press,

Meerut, Dated 14-11-1914.

नमस्ते महाशय* !

आपके १२।११।१४ के पत्रोत्तर में ज्ञात हो कि संस्कृत प्राचीन ग्रन्थों में हिन्दु शब्द नहीं आर्य शब्द है । हां नवीन संस्कृत ग्रन्थ राजतरङ्गिणी आदि में कहीं कहीं हिन्दु शब्द प्रयुक्त है । ये ग्रन्थ मुसलमान राज्य आने पर बने हैं । स्वामीजी ने अपनी ओर से हिन्दु शब्द नहीं लिखा । इस शब्द के त्याग का उपदेश दिया है । २-जनसंख्या में सरकार ने स्वयं आर्य-समाज को हिन्दु शाखा माना है । १९०१ की जनसंख्या में आर्य-समाज ने गवर्नमेंट को मना भी किया था । सन् १९११ में मना नहीं किया ।

Yours faithfully

Tulsi Ram Swami.

तु० रा० तुलसीराम स्वामी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी०

Proprietor Swami machine press, Author of Sama-vede-Bhasya & *Editor* Vede-Prakasha, Meerut City.

नं० १।६।७।८।११।१२ मिलते हैं भिन्न २ स्थानों में । अन्य नहीं ।

† मिल सकती हैं ?—(१) शिक्षा (२) कल्प (३) धनुर्वेद (४) गान्धर्ववेद (५) अर्थवेद (६) ऐतरेय (७) साम (८) गोपथ (९) पूर्वमीमांसा भाष्य व्यास मुनिकृत (१०) वैशेषिक भाष्य गौतम मुनिकृत (११) न्याय भाष्य वात्स्यायन कृत (१२) योग भाष्य व्यास मुनिकृत (१३) सांख्य भाष्य भागुरि मुनि कृत (१४) वेदान्त भाष्य वात्स्यायन अथवा बौद्धायन कृत—

आपका कृपाभिलाषी—

ता० २२ । ११ । १४ } दीपचन्द्र अध्यापक—
आर्यसमाज स्यालकोट

उत्तर के लिये)॥ के टिकट हैं ।

---

* पत्रोत्तर देनेवाले पण्डितों के हस्तलिखित लेख इसी प्रकारके टाइप में रक्खे गये हैं ।

†—हमारा लेख इस टाइप में छापा गया है ।

२– ओ३म्

श्रीमान्–नमस्ते ! निवेदन है कि श्रीमानों से निम्नस्थ विषय प्रष्टव्य हैं। आशा है कि कृपा उत्तर से कृतार्थ करावेंगे।

(१) क्या आर्यसमाज हिन्दू मतकी शाखा है? नहि

(२) हिन्दूमत किस आधार पर है? पुराणों पर

(३) प्राचीन पुस्तकोंमें 'हिन्दू' शब्द है, है तो कहाँ? नहीं है

(४) १८ पुराणों में कहीं हिन्दू शब्द है यदि है तो कहाँ? नहीं आया

(५) श्रीस्वामीजी ने 'हिन्दू' शब्द अपनी पुस्तकों में प्रयोग किया है, यदि किया है तो किस स्थल पर? सत्यार्थप्रकाश में कई स्थलों पर किया है।

भवदीय—
जीवाराम शर्मा,
गुरुकुल वृन्दावन।

दीपचन्द्र अध्यापक—
आर्यसमाज स्यालकोट।

३– महाविद्यालय ज्वालापुर O. R. R.

२५–२–१५

श्री प्रियवर ! नमस्ते। पत्र मिला (१) आर्यसमाज स्वतन्त्र संस्था है (२) हिन्दू मत वेद और आर्ष अनार्ष ग्रन्थों के आधार पर है (३) प्राचीन ग्रन्थों में मुझे कहीं हिन्दू शब्द दृष्टिगत नहीं हुआ। किसी २ आधुनिक ग्रन्थों में मिलता है (४) महाभारत और सूर्य सिद्धान्त तो बनारस आदि में मिलता है अन्य ग्रन्थ मैंने नहीं देखे। (५) श्री स्वामी जी हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया। प्रिय रेवतीप्रसाद को आशीर्वाद।

हितैषी—भीमसेन शर्मा,

४– मुरादाबाद ४।३।१५

श्रीः स्वस्ति श्रीयुत पंडितजी महोदय को यथा योग्य नमस्कार कृपा पत्र पाया, मैं आपका उत्तर स्वमत्यानुसार लिखता हूं।

(१) श्रुति स्मृति सदाचार प्राप्त धर्म ही हिन्दू मत कहा जाता है, इसका आधार श्रुतिस्मृति और सदाचार है।

(२) आर्यसमाज और दूसरे मतों की समान हिन्दू मत की शाखा है।

(३) अनेक तन्त्र मेरु आदि तथा नाटकादि में हिन्दू शब्द प्रयोग आया है पातु हिन्दुः पतिर्वः, हिन्दू धर्म प्रलोप्तारोजायन्ते चक्रवर्तिनः इसके सिवाय पारसियों के जिन्दावस्था में हिन्दू शब्द का प्रयोग है।

(४) भविष्य पुराण में प्रतिसर्ग पर्व में हिन्दू शब्द का प्रयोग है शेष १७ पुराणों में क्वचित् उपलब्ध नहीं होता हां भागवत माहात्म्यमें यवनैरवनीरुद्धा हिन्दवो विन्ध्यमाविशन् ऐसा प्रयोग है सदा सिन्धवः हफ्तहिन्दवः भविष्य प्रति सर्ग अ० ६।

(५) दयानन्द सरस्वती जी ने हिन्दू शब्द का प्रयोग जिस प्रकार किया है वह आप सत्यार्थ प्रकाशादि ग्रन्थों में देख लें पर मेरी समझ में हिन्दुशब्द मुसल्मानों से प्राप्त है।

अनुगृहीत ज्वालाप्रसाद मिश्र,

५— श्रीहरि: शरणम्। ता० १९। ८। १५ कलकत्ता।

आयुष्मान् भव। आपका पत्र आया वृत्तजाना। विशेषावकाश नहीं संक्षेप उत्तर। १—नाम मात्र वेद को मानने के कारण आर्यसमाज को हिन्दू मत की शाखा कहना बन सकता है। २—हिन्दू मत का मुख्य आधार वेद है स्मृति पुराणादि वेद के व्याख्यान भाष्य हैं। ३—प्राचीन पुस्तकों में हिन्दू शब्द नहीं है। ४—१८ पुराणों में भी हिन्दु शब्द नहीं है। प्राचीन होने पर भी चोरी शब्द बुरा है नवीन होने पर भी अनेक शब्दादि अच्छे हैं ५ हमें जहाँ तक स्मर्ण है स्वा० दयानन्द जी ने अपने पुस्तकों मे हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया जैसे स्वा० दयानन्द जी ने भगवान् आदि अनेक शब्दों का व्यवहार नहीं किया तो भी वे निन्दित नहीं होगये वैसे यहां भी जानो॥ ह० भीमसेन शर्मणः।

(२) अक्षर स्तुति और निरुक्त।

मातृपितृकृताभ्यासोगुणितामेति बालकः।
न गर्भच्युति मात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः (हि० उ०)

प्रिय पाठक वृन्द यह शास्त्र का वचन है, प्रत्येक मनुष्य जन्म लेता है परन्तु जन्म लेने मात्र से ही पडित नहीं होता, माता पितादि के अभ्यास कराने से ही मनुष्य गुणवान होता है। यह बात प्रत्यक्ष है। शब्द क्या है? शब्द एक पदार्थ का बोधक है। आपके सम्मुख ओ३म् शब्द है यह शब्द सब संसार का ज्ञापक है और संसार को बनाने वाला है यथा— 'ओ३म् खं ब्रह्म' यदि ओ३म् को भले प्रकार जान लिया जाय तो ब्रह्माण्डका ज्ञान हो सकता है प्रायः ओम् सबही लिखते हैं परन्तु नहीं जानते कि ओ३म् क्या है ओ३म् शब्द हमको वर्ण व्यवस्था भी बतलाता है। अर्थात् 'अ' ब्राह्मण स्थानीय 'उ' वैश्य स्थानीय 'म्' शूद्र स्थानीय 'ई' इन्हीं चारों के अन्तर्गत यह जगत् है—ऋग्वेद का मन्त्र है—

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" (ऋ० सं० २, ३, २१, ४। अ० सं० ६, २८,८)

ॐकारमृते न ह्यर्चयन्ति। तस्या. "अक्षरे" "परमं" "व्योमन्" व्योमविविधमस्मिन् शब्दजातमोतमिति व्योम तस्मिन्, तिसृषु मात्रासु अकारोकारमकारलक्षणासूपशान्तासु यदव-शिष्यते, तदक्षरं परमं व्योम, अपरमाकाशम् अपेक्ष्य तत्परं व्योम, शब्दसामान्यमभिव्यक्तमित्य-भिप्रायः। **"यस्मिन् देवा अधिनिषण्णाः सर्वे"**। ऋगादिषु ये देवाः, ये यन्त्रद्वारेणाऽक्षरे निषण्णाः, तस्य शब्दकारणत्वात्। (१) तद्यथा, **प्रथमायां मात्रायां** पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेदः पृथिवीलोकनिवासिन इत्येव, **द्वितीयायां मात्रायाम्** अन्तरिक्षम् वायुः, यजूंषि, तल्लोकनिवा-सिनो जना इति, **तृतीयायां मात्रायां** द्यौः आदित्यः सामानि, तल्लोकनिवासिनो जना इति। विज्ञायते हि—**"ॐकार एवेदं सर्वम्"** इति। "यस्तन्न वेद" अनया विभूत्याक्षरम्, **"किम्"** असौ **"ऋचा"** ऋगादिभिर्मन्त्रैः **"करिष्यति"**? यस्तत्त्वाक्षगतमेना पश्यति **"य इत्तद्विदुस्तइमे समासते इति त्रिष्टुपउपदिशति"**। तेहि तत्परिज्ञानात्ताद्रूप्यमुपगताः प्रणवविग्रहमात्मानमनुप्रविश्यसमीकृता निर्यान्ति शान्तार्चिषइवानला इति। १३। १०। १।

"अक्षरम्" कस्मात्? तद्धि, 'न क्षरति" नान्यथाभावमापद्यते। अथवा—"न क्षीयते"

न कदाचिदप्यामूलतो विनश्यति। अथवा—"वाक्क्षयो भवति" नात्रे हि वर्गलक्षणाया वाचोऽक्षः—इति वा" अक्षरो ह्यक्ष इवानुप्रविश्यव्यञ्जनानि धारयति। अथ "अक्षः" कस्मात्? उच्यते,—"यानस्य" यानाक्षः तावत् "समञ्जनात्" नित्यमसौ अञ्ज्यते तैला-दिना, "तत्प्रकृतीतरत्" स्वराख्यामक्षरम्, "वर्तनसामान्यात्" स्वरमधिरूढानि व्यञ्जनानि वर्त्तन्ते। "इति" परिसमाप्त्यर्थ इतिकरणः, उपप्रदर्शनार्थो वाऽन्तस्थ। देखो निरुक्त परिशिष्ट में अक्षर स्तुति (अ० १३ ख० ९ । १२)।

हम यहाँ इतना ही बतला देना आवश्यक समझते हैं कि विना ओ३म् के न अन्न खा सकता है न पानी पी सकता है, न बोल सकता है न चल सकता है अर्थात जीवित नहीं रह सकता चाहे मुसलमान कहे चाहे, आर्य कहे, चाहे ईसाई कहे चाहे नायी, कुम्हार, तेली, दरजी, आदि २ सब चाहे कुछ कहें परन्तु विना ओ३म् के क्षण मात्र नहीं जी सकते। ओ३म् के जानने से जगत का ज्ञान होगा तबही कल्याण होगा तबही कल्याण होगा अन्यथा नहीं और फिर नहीं। हम देखना चाहते हैं कि जो अपने लिये ब्राह्मण कहते हैं—और शास्त्र का प्रमाण रखते हैं तो वेही कहलाने के अधिकारी हैं। गीता में श्री भगवान कहते हैं। (देखो पृष्ठ १५३)

वर्णव्यवस्था को पढ़ो जानलेहु सब कोय।
वर्ण व्यवस्था के विना सुख चाहो नहिं होय॥

(३) वेद, कांग्रेस, और जाति-संगठन।

हमारे देखने में श्री पं०-दुवलाल जी शर्मा का बम्बई से भेजा हुआ पत्र आया जिसमें कि इलाहाबाद में जाति संगठन के विषय में नायी जाति के लिये नोटिस कांग्रेस की ओर से था, जिसपर श्री पं० जवाहिर लाल जी नेहरू, श्री पं० केशवदेव जी मालवीय और श्री मुजफ्फर हसन साहेब के हस्ताक्षर हैं। यह भी बतलाया गया है कि उस सभा में कई वक्ताओं के भाषण जाति संगठन और वेद विद्या पढ़ने पर हुये। इससे स्पष्ट है कि विना जातियों के संगठन और वेदाध्ययन के समाजोन्नति असम्भव है। वेदादि शास्त्रों के अध्ययन अनुशीलन आदि की ओर इस काल में जो जो देश और समाज की प्रवृत्ति दिखाई है उसमें सब से बड़ा महत्व पूर्ण भाग और यश स्वामी दयानन्द महाराज और उनकी संस्थापित आर्य-समाज को ही प्राप्त है।

(४) सम्पादक का सामान्य विचार।

जाति तो अनन्त हैं परन्तु वर्ण चार ही हैं, इन चार वर्णों के द्वारा जगत को विभाजित किया है, यह वर्णव्यवस्था मनुष्यों के लिये ही है, मनुष्य एक जाति है, जिसके अन्तर्गत जगत है जैसा कृष्ण भगवान् ने गीता में बताया है। धर्माधर्म प्राणि मात्र में पाया जाता है परन्तु उन्नति अवनति का कारण यह मनुष्य ही है जो वर्णव्यवस्था को जानते हैं वे उन्नति कर जाते हैं, जो नहीं जानते हैं वे पतित हो जाते हैं। वैदिक वर्णव्यवस्था मनुष्य मात्र के लिये है। मनुष्य एक जाति है, सब मुखसे, खाते, नेत्रोंसे देखे, कानोंसे सुनते, हाथोंसे कार्य करते, पैरों से चलते हैं इसी प्रकार अन्य इन्द्रियां भी हैं सो क्या ईसाई, क्या मुसलमान क्या हिन्दू क्या सिक्ख, क्या दादू पंथी, क्या कबीर पंथी, क्या ब्रह्मसमाजी, क्या राधा स्वामी अर्थात जितने भी मत हैं

कोई भी शास्त्रलोक के प्रमाण नहीं रखते । देखनेसे ज्ञान होता है कि ये जितने भी मत है वैदिक मत के न जानने के कारण और हिन्दू मत से दुःखित होकर अधिकतर बने हैं परन्तु हिन्दुओं में ही गिने जाते हैं । आर्य समाज एक जीवित जाग्रत संस्था थी इसने जितना उपकार किया है उतना किसी ने नहीं किया, क्योंकि मनुष्य मात्र को एक समझकर इसने प्रचार किया, और सबको जगा दिया । वेद शास्त्र के अनुसार ऋषि दयानन्द जी महाराज ने सब कुछ बताया परन्तु आर्यसमाज उसे ठीक प्रयोग में न लाई इसीलिये जाति सभा बनी और वह अज्ञानता आर्य समाज में भी प्रवेश कर गई । आर्यसमाजी आर्य कहते हैं, परन्तु हमारी समझ कोई ऐसी व्यक्ति नहीं आई कि जिसने यह बताया हो कि आर्य कौन होता है और उसका घर कहाँ है ? इसी प्रकार कोई, ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई, वैश्य कहते हैं, परन्तु उन्हें भी नहीं मालूम कि हमारा घर कहां है ? और काम क्या है, इसके न जानने से ही ये आपत्तियें जगत में फैली हुई हैं । यदि कहा जाय कि ऐसे केवल नाम धारियों से जगत् को कोई उपकार है तो कोई भी नहीं क्योंकि जब अपने को जानते नहीं रहे अनुसार कार्य करते नहीं तो क्या इससे लाभ !! जितनी भी जातियां नायी, तेली, चर्मकार, पीतलकार तांबेकार सुवर्णकार कान्सकार, मिट्टीकार लकड़ीकार, लोहकार, वस्त्रकार, सूचीकार गृहकार लेखनीकार, कागजकार, मणिकार, सूपकार, चलनीकार, आदि ऐसी जो जातिया है उनसे ही जगत की स्थिति जीवनी है इनके बिना जगत के काम नहीं चल सकते परन्तु शास्त्र से हीन होने के कारण लोगो ने इन्हें शूद्र आदि की संज्ञा देदी, परन्तु यह नहीं देखा कि शूद्र कौन होता है । इसके कारण जगत में दिन २ उपद्रव बढ़ते आये । कभी कोई, ईसाई, कभी कोई मुसलमान कभी कोई हिन्दू, बन जाते हैं । भला ये बनकर क्या मुख से रोटी, जल, कान से सुनना आखों से देखना आदि २ काम नहीं करते । फिर कौन सी विशेषता है ? आर्य कहें, ब्राह्मण कहें, क्षत्रिय कहें, शूद्र कहें यह ठीक है परन्तु अपने कार्य को करते हुये ।

(५) सहायता और धन्यवाद ।

इस पुस्तक के बनाने में पूर्व पुरुषाओं के रचित शास्त्रों ने हमे साहस दिया निज के ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रथम हमें मेरठ के पुस्तकालय से पुस्तक देखने की सहायता मिली पीछे कुछ काल के पश्चात ऊपर लिखी हुई घटनायें आन पड़ी तो और भी ग्रन्थों की देखने की आवश्यक्ता समझी काशी (बनारस) के पुस्तकालय ज्ञानवापी तथा क्विन्सकालिज के सरस्वती भवन के अध्यक्षों की कृपा से वहां पर हमें पुस्तकें देखने को समय २ पर सहायता मिलती रही, जब हमें बाहर जाने का अवसर मिलाया तो बाहर के भ्रमण करते समय फीरोजाबाद अलीगढ़, जोधपुर जयपुर इनके अध्यक्षों की कृपा से वहां पर भी पुस्तकें देखने की सहायता मिलती रही, इनके अतिरिक्त हमारे माननीय हितैषी प्रेसके स्वामी श्रीमान् बहादुररामजी तथा अन्य सबही कर्मचारियों की अतीव कृपा रही कि इस पुस्तकके छापने में किसी भी प्रकारका आलस तथा कमी सुन्दर बनानेमें न की । इसके अतिरिक्त पृथिवी, जल, सूर्य चन्द्र, नक्षत्र मनुष्य, पशु, ब्राह्मणादि तथा अन्य सबही जातियों से हमें सहायता मिली है अतः इन सबको धन्यवाद तो क्या दे सकते हैं किन्तु इनके उपकार के ऋणी हैं । इसके हलका करने को यह वर्णव्यवस्था की पुस्तक भेट करते हैं जिससे अवश्य लाभ होगा ।

और भविष्य में इस वर्ण व्यवस्था को शास्त्रानुसार बनाने में यत्न करते रहेंगे जिससे जगत में सुख और चैन रहे।

नहिं विद्या नहिं बाहु बल नहिं खरचन को धान।
दीपचन्द्र इस दीन की पति राखो भगवान ॥ १ ॥

प्रिय पाठक वृन्द ! हम अपनी दशा तो ऊपर लिख चुके हैं। न विद्या है, न बल है न खर्च को धन है, इस दीन की पति ऐश्वर्यवान के हाथ में ही है। ऐश्वरीवान् ही सब कुछ करेंगे। हमारा जो कर्तव्य था जितना हो सका पालन किया। आगे आप सब मिलकर चलावें। फिर भी जितना हो सकेगा देश जाति की सेवा करते रहेंगे। इति शम्। दीपचन्द्र आचार्य,

---

अथवा 'प'।

